मूल्य : ६ रुपये ५० नये पैसे

प्रकाशक : हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
पो० बक्स नं० ७०, ज्ञानवापी
वाराणसी–१
मुद्रक : नया संसार प्रेस, वाराणसी
आवरण : कांजिलाल

निवेदन

यह पुस्तक लिखी तो गई सन् १९५५ ई० में परन्तु इसकी तैयारी बहुत दिनों से हो रही थी। साथ ही, १९५५ और १९५८ के बीच की मुख्य-मुख्य प्रासंगिक घटनाओं को भी समय-समय पर, जहाँ-तहाँ, ले लिया गया है। इंटरमीडियेट में मैंने इतिहास का दोहरा कोर्स लिया था। प्राचीन यूनान-रोम का इतिहास पढ़ते समय मुझे विदित हुआ कि वहाँ के प्रारम्भिक शिक्षक 'दास वर्ग' के होते थे। इस पर मुझे बड़ी ग्लानि हुई परन्तु करता ही क्या ?

सन् १९४२ से १९४५ तक मैं 'राजकीय विद्यालय बहराइच' में हिन्दी शिक्षक था। वहाँ के सिनेमा-घर में 'सिकन्दर' नाम का खेल हो रहा था। देखनेवाले इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे। जिस खेल की बहुत अधिक प्रशंसा होती है उसे देख लेने का यथासम्भव मैं भी प्रयत्न करता हूँ। कुछ मित्रों के साथ मैं भी 'सिकन्दर' देखने गया। एक प्रसंग में सिकन्दर के गुरु अरस्तू ने उससे कहा—'सिकन्दर ! जो आदमी औरतों की दुनिया में फँसता है वह ऊँचे-ऊँचे काम नहीं कर पाता; तुम्हें सँभलना है।' मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई कि गुरु की चेतावनी का शिष्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

सिकन्दर ने जाकर अपनी प्रेयसी से कहा—'तुम्हारे पास अब आने में मैं असमर्थ हूँ। श्रद्धेय गुरु ने कहा है कि...।' उस प्रेयसी ने पर्याप्त गर्व और आत्मविश्वास के साथ कहा—'अच्छा ! तुम्हारे गुरु को ही मैं फँसाती हूँ।' कुछ ही समय के पश्चात् देखा गया कि वह रमणी अरस्तू के गले में फूलों की माला डाल कर उन्हें टहला रही है और वे भी आनन्द-विभोर से दिखाई देने लगे। इस दृश्य को दूर से सिकन्दर ने भी देखा और अरस्तू को भी पता चल गया कि वह देख रहा है। दर्शकों ने इन दृश्यों की बड़ी प्रशंसा की परन्तु मेरे मन में घोर संघर्ष होने लगा कि सिकन्दर (शिष्य) का सामना अरस्तू (गुरु) किस प्रकार करेंगे। कुछ ही समय के उपरान्त अरस्तू ने सिकन्दर से कहा—'देखा ! जब मुझ वृद्ध की यह दशा हुई तो तुम तो अभी जवान हो !' इस उत्तर की भी तुमुल ध्वनि से सराहना हुई परन्तु मेरा असन्तोष और भी बढ़ गया।

निस्सन्देह यह कथानक इसी युग का तैयार किया हुआ है और इसकी ऐतिहासिकता की भी छान-बीन सम्भवतः नहीं की गई है परन्तु किसी गुरु (शिक्षक) का अपने किसी कृत्य का औचित्य, विशेषतया कृत्य-परिचित शिष्यके सम्मुख,

प्रमाणित करने में, 'तर्क' की सहायता लेना कहाँ तक उपयोगी एवं कल्याणकारी होगा ?

:o: :o: :o:

सन् १९४० में मैं कानपुर के सनातन धर्म कालेज में इतिहास से एम० ए० कर रहा था। डॉ० विमलकुमार मुकर्जी वहाँ के राजकीय कृषि-महाविद्यालय में रसायन-शास्त्र के ऊँचे प्रोफेसर थे। उनके तीन बच्चे (अर्थात् लड़की, लड़का और दूसरी लड़की) नवीं ही कक्षा में पढ़ रहे थे। मैं इन बच्चों का प्राइवेट ट्यूशन करता था। सन् १९४२ ई० में मैं इतिहास से एम० ए० हो गया और इन बच्चों ने हाई स्कूल परीक्षा पास की। छोटी लड़की पढ़ने में बहुत अच्छी थी और उसे द्वितीय श्रेणी मिली। डॉ० साहब के माता-पिता भी जीवित थे। लड़कियों की ऊँची शिक्षा देने के लिए उत्सुक तो वे लोग भी थे परन्तु उन्हें कालेज भेजने में हिचकते थे।

संयोगवश सन् १९४२ की जुलाई में मैं राजकीय विद्यालय बहराइच में हिन्दी-शिक्षक नियुक्त हुआ और डॉ० मुकर्जी साहब कृषि के उप-संचालक नियुक्त हो कर गोरखपुर पहुँच गये। लड़का गोरखपुर के किसी कालेज में पढ़ने लगा, परन्तु लड़कियाँ प्राइवेट रूप से इंटरमीडियट परीक्षा की तैयारी करने लगीं। उनके पथ-प्रदर्शन के लिए कोई अन्य शिक्षक नहीं लगाये गये—मैं ही दशहरा, बड़े दिन तथा गर्मी की छुट्टियों में अपने घर (राजवारी—वाराणसी) जाते समय कुछ दिनों के लिए रुक कर उन्हें पढ़ाया करता था। सन् १९४४ के आरम्भ से ही न जाने क्यों वे बच्चे बारी-बारी से बीमार पड़ने लगे। छोटी लड़की का स्वास्थ्य अधिक गिरने लगा; डाक्टरों ने उसकी दशा बहुत चिन्ताजनक घोषित की और उसे अध्ययन एवं परीक्षा से रोकना चाहा। परन्तु कहा जाता है कि (मैं तो बहराइच में था) अध्ययन और परीक्षा को वह प्राणों से भी अधिक महत्त्व देने लगी थी। विवश होकर डाक्टरों ने लेटे-लेटे पढ़ने की आज्ञा दी परन्तु वह यथाशक्ति सभी कुछ पढ़ाती थी।

सन् १९४४ की इंटरमीडियट परीक्षा में लड़का तो बैठ न सका, बड़ी लड़की असफल रही परन्तु छोटी ने बहुत ऊँची द्वितीय श्रेणी प्राप्त की। खेद है कि परीक्षा-फल प्रकाशित होते समय वह बिस्तर से उठ भी न पाती थी। कहा जाता है कि परीक्षा-फल बताने एवं सुनाने का उसकी आकृति पर कुछ भी प्रभाव न पड़ सका था। माता-पिता, दादा-दादी एवं डाक्टर-वैद्यों के अनेक प्रयत्न करने पर भी वह कुछ ही दिनों के उपरान्त संसार से विदा हो गई और सब लोग हाथ मल कर रह गये। उनकी असामयिक मृत्यु से मुझे बड़ा क्लेश हुआ। उसका नाम कुमारी गैली मुकर्जी था। उस समय मैं गवर्नमेंट ट्रेनिंग कालेज इलाहाबाद में 'एल० टी० का

अध्ययन कर रहा था। मैं और कुछ तो न कर सका परन्तु अपनी नवजात पुत्री माधुरी का नाम बदल कर कुमारी शैल कुमारी सिंह रख दिया। मुझे गर्व है कि मेरी पत्नी ने भी मेरे इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया था। मेरी यह शैली पढ़ने में उतनी अच्छी तो नहीं है, परन्तु अभी जीवित है।

कुमारी शैली मुकर्जी से मेरी अन्तिम भेंट मई सन् १९४४ में हुई थी। उसकी परीक्षा समाप्त हो चुकी थी और उसके शरीर में केवल हड्डियाँ और चमड़ा रह गया था। बड़ी लड़की का विवाह हो रहा था और उसी समारोह में हमलोग एकत्र हुए थे। हम सभी लोग कार्य में व्यस्त थे। वह भी बराबर चलती ही फिरती दिखाई पड़ती थी। किसी के मना करने पर वह कह उठती थी कि 'बड़ों का ब्याह फिर तो न होगा ?' बड़ी लड़की के विदा हो जाने पर मैं दो-तीन दिन वहाँ रहा। एक दिन सन्ध्या समय उसके कमरे में हमलोग गये। उसके पहले, दिसम्बर के महीने में बड़े दिन की छुट्टियों में, मैंने उन सबों को पढ़ाया था और उस समय वह बिलकुल स्वस्थ और प्रसन्न थी। उसकी अस्वस्थता, डाक्टरों का अध्ययन रोकना, उसका पढ़ना और परीक्षा पूरी करना, आदि मुझे पत्रों द्वारा विदित हुआ था।

मैंने जानबूझ कर अध्ययन और परीक्षा की बातें आरम्भ की। परन्तु मेरी बातों को उसने ऐसे ढंग से संक्षेप में काट दिया कि मुझे पूर्ण विश्वास हो गया कि वह अपने प्रस्तुत जीवन से हताश-सी हो चुकी है। कुछ रुक कर उसने 'पूर्वजन्म' और 'पुनर्जन्म' की वास्तविकता एवं प्रामाणिकता की बात चलाई। खेद है कि किसी बात को विधिवत् समझे बिना पिण्ड न छोड़नेवाली 'शैली' दुर्बलता के कारण दो-चार वाक्य बोल कर मौन हो गई। कुछ देर बाद उसने फिर कहा—'आपका शिक्षा सम्बन्धी अध्ययन हो रहा होगा।' मैंने इस अवसर का फिर सदुपयोग करना चाहा और उससे कहा—'अब वह अध्ययन तुम्हारे स्वस्थ हो जाने पर होगा।' उसने धीमे किन्तु तीव्र स्वर से तुरन्त कहा—'गुरु जी ! मेरे स्वस्थ होने की आशा छोड़ दीजिए ! हाँ, अगले जन्म में आप के विचारों को पढ़ूँगी।' इतना ही कह कर वह धीरे से चारपाई से उठी और दीवार के सहारे कमरे से बाहर खिसक गई। मैं, उसका भाई तथा एक-दो अन्य व्यक्ति वहाँ से उठ कर बाहर चले आये।

उपर्युक्त तीनों बच्चों के अध्ययन का चार वर्ष तक (१९४०-४४) पथ-प्रदर्शन करने में शिक्षा सम्बन्धी कई समस्याएँ उपस्थित हुईं। बड़ी लड़की पढ़ने में अच्छी नहीं थी परन्तु घरेलू काम-काज बड़े चाव से करती थी। छोटी लड़की पढ़ने में बहुत अच्छी थी परन्तु घरेलू काम-काज से जी चुराती थी। घर के गुरुजन चाहते थे कि बड़ी लड़की पढ़ने और छोटी लड़की घर के काम-काज में भी क्रमसे छोटी और बड़ी के समान हो जायँ। हम सब लोग चाहते थे कि लड़का अपने पिताजी

के समान प्रतिभा-सम्पन्न हो जाय । यदि ध्यान से देखा जाय तो इन समस्याओं को ही सुलझाने का इस पुस्तक में प्रयत्न किया गया है । स्वर्गीया शैली मुकर्जी के प्रति मेरी इतनी अधिक सहानुभूति केवल इसीलिए नहीं है कि वह मेरी सर्वाधिक प्रतिभा-सम्पन्न छात्रा थी प्रत्युत इसलिए कि अपनी केवल १५–१६ वर्ष की अवस्था में भी वह मेरे शिक्षा संबंधी अध्ययन में प्राय: मौलिक योग देती थी । मेरा यह परम पुनीत कर्त्तव्य और दायित्व है कि इस पुस्तक को उसी दिवंगत आत्मा की तुष्टि के लिए प्रसन्नतापूर्वक अर्पित करूँ ।

:o: :o: :o:

हिन्दी से एम० ए० होते ही राजकीय विद्यालय ललितपुर (झाँसी) में मैं सात-आठ महीने (१९३९–१९४०) अस्थायी हिन्दी शिक्षक रहा । १९४२ से बहराइच में हिन्दी शिक्षक होने का उल्लेख ऊपर हो ही चुका है । जुलाई सन् १९४६ से १९४९ तक लैंसडाउन (गढ़वाल) में मैं हिन्दी शिक्षक था । सूबे के तीन कोनों के ये तीन स्थान ऐसे हैं जहाँ पर हर प्रकार के शिक्षकों से हिलमिल कर काम करना पड़ता है । शिक्षा, शिक्षक, शिक्षार्थी, शिक्षा-विभाग, शिक्षा-अधिकारी, शिक्षा-व्यवस्था, आदि से सम्बन्धित विचित्र से विचित्र गाथाएँ वहाँ पर सुनने को मिलती हैं । इस पुस्तक के निर्माण के लिए कुछ उपयोगी सामग्री इस स्रोत से भी प्राप्त हो सकी है ।

:o: :o: :o:

सन् १९४७–४८ तक ये विचार रह-रह कर समय-समय पर पानी की लहरों की भाँति मन में आते-जाते रहते थे । शिक्षा को सुव्यवस्थित करने के उद्देश्य से उत्तर प्रदेश की सरकार ने जुलाई सन् १९४७ ई० में जब प्रत्येक जिले में निरीक्षक और निरीक्षक-कार्यालय (इंस्पेक्टर और इंस्पेक्टरेट) की योजना कार्यान्वित की तो मैं बहुत हताश हुआ । अनेक व्यक्तिगत कठिनाइयों के होते हुए भी मैं अपने विचारों को कभी अंग्रेजी में और कभी हिन्दी में टाँकने लगा । सन् १९५० ई० से ट्रेनिंग कालेज में प्राध्यापक नियुक्त हो जाने पर शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ सोचने एवं लिखने के लिए मुझे अधिक अनुकूल वातावरण प्राप्त हो गया । सन् १९५५ ई० तक मैं विचार-संग्रह एवं सिद्धान्त-निर्धारण करता रहा । तत्पश्चात् नियमानुसार सरकार से आज्ञा प्राप्त कर मैंने इस पुस्तक को तैयार किया ।

भाषा, शैली, सौष्ठव, आदि के दृष्टिकोण से इसे उपयोगी रचना कदापि नहीं माना जा सकता । भाषा के शिक्षक को भाषा संबंधी शिथिलता के लिए विवशता प्रकट करना शोभा नहीं देता परन्तु यह प्रसंग ऐसा है कि इसमें संबंधित अधिकांश

साहित्य या तो अंग्रेजी में है अथवा मध्यकालीन और प्राचीन हिन्दी छन्दों में। सिद्धान्तों के खण्डन-मण्डन में मुख्य तत्त्वों का विभिन्न अध्यायों में ही नहीं प्रत्युत किसी किसी अध्याय में ही बार-बार उल्लेख हुआ है। इसी खण्डन-मण्डन में यदि किसी व्यक्ति, वर्ग, व्यवहार आदि के ऊपर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष में कोई आक्षेप आभासित हो रहा हो तो उसके लिए मैं सादर क्षमा-प्रार्थी हूँ। भारतीय परम्परा में विश्वास करनेवाला व्यक्ति जान-बूझ कर किसी का अपमान स्वप्न में भी नहीं कर सकता। भारतीय शिक्षा एवं शिक्षकोंके अधिकार जहाँ और जिस प्रकारसे पहुँच गये हैं, उनको यथासम्भव टटोलना और बताना आवश्यक ही रहा। अन्त में सभी महानुभावों से सादर अनुरोध है कि वे इस पुस्तक को अधिकाधिक सहानुभूति के साथ पढ़ने की कृपा करें और त्रुटियों से अवगत कराने का यथा सम्भव कष्ट करें।

हाँ, एक बात का उल्लेख किये बिना यह विनम्र निवेदन अपूर्ण-सा प्रतीत हो रहा है। इस पुस्तक के निर्माण में समय-समय पर कई ऊँचे विद्वानों ने अपना घंटा-दो घंटा अमूल्य समय देकर मेरा पथ-प्रदर्शन किया था। उनमें से कई का स्वर्गारोहण हो गया है। उनका नाम इस समय मैं इसीलिए नहीं दे रहा हूँ कि पुस्तक को अनुचित शक्ति न प्राप्त हो जाय। उन सभी लोगों का मैं हृदय से आभारी हूँ।

३१०/ए, मोहतशिमगंज,
इलाहाबाद
विजय-दशमी, २२ अक्तूबर १९५८

गणेश प्रसाद सिंह

अपनी

स्वर्गीया शिष्या कुमारी शैली मुकर्जी को

समर्पित

—लेखक

विषय-तालिका

हमारी शिक्षा

अध्याय १

प्राचीन कालमें शिक्षाकी रूप-रेखा

सिंहावलोकन—इस सृष्टि की व्याख्या कुछ न कुछ प्रत्येक धर्म और समाज में पाई जाती है। किसी भी धर्म के मूल ग्रन्थों को यदि देखा जाय तो इस प्रसङ्ग पर उनमें विचित्र-विचित्र तथा रोचक वर्णन मिलते हैं। जो धर्म जितना ही प्राचीन तथा विस्तृत है उसमें उतनी ही अनोखी, रहस्यमय तथा विभिन्न टीका-टिप्पणियों से सुसज्जित व्याख्या मिलती है। परन्तु स्वतंत्रता पूर्वक विचार करने से, यद्यपि यह सरल नहीं, मन में यह धारणा होती है कि विभिन्न धर्मों का प्रादुर्भाव अपने-अपने क्षेत्र में सृष्टि के आरम्भ के बहुत बाद हुआ होगा। यहाँ सृष्टि से तात्पर्य नदी, पहाड़, पशु-पक्षी, पेड़-पौधों, आदि के अस्तित्व से है न कि सुसंस्कृत और व्यवस्थित समाज से। सृष्टि का तात्पर्य यदि सुसंस्कृत समाज से लिया जायगा तो निस्सन्देह सृष्टि की रचना विभिन्न धर्मों के ही माध्यम से हुई है। इस प्रसङ्ग में डारविन महोदय की विचार-धारा बहुत अंशों में स्वाभाविक प्रतीत होती है। आत्मा, परमात्मा, प्रकृति, पुरुष, आदि की व्याख्या तब हुई होगी जब हम लोग यह सब करने तथा समझने के योग्य हो गये होंगे। हमारे आदिम पुरुषाओं को किसी ऐसी शक्ति का पग-पग पर आभास मिलता रहता था, जिसके संकेत मात्र पर उनकी भी सृष्टि बनती-बिगड़ती रही होगी। इसी सत्ता तथा शक्ति को समझने-समझाने के प्रयत्न-स्वरूप विभिन्न मत-मतान्तरों के निर्माण हुए।

सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य सम्भवत: मनुष्य नहीं था। अन्य जीव-जन्तुओं की भाँति हम लोग भी जानवर ही थे। प्रश्न यह उठता है कि अन्य जानवरों से, विशेषतया जब उनमें से अनेक हमसे अत्यधिक विशालकाय, बलवान तथा हृष्ट-पुष्ट थे, हम क्यों और कैसे आगे ही बढ़ते गये। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो ज्ञात होता है कि उस अज्ञात सत्ता या शक्ति ने सम्भवत: जान बूझकर हमारे शरीर में कुछ विशेषताएँ दे दी थी। दो पैर तथा दो हाथ अथवा चार पैर वाले जितने भी जानवर हैं उनमें आदमी

और बन्दर दो ही वर्ग ऐसे हैं जिनके हाथों की प्रत्येक अँगुली सरलता पूर्वक अँगूठे से मिलाई और हटाई जा सकती है। इसका प्रभाव यह पड़ा कि हम लोग किसी वस्तु को अत्यन्त दृढ़ता से पकड़ सकते हैं। पक्षियों के चंगुलों में भी पर्याप्त दृढ़ता होती है पर वे दो ही हैं—चाहे उन्हें हाथ माना जाय, चाहे पैर। एक बात में हम लोग बन्दरों से भी आगे बढ़ गये थे वह है हँसने और मुस्कराने की शक्ति। रोना तो बहुत से जानवरों में भी पाया जाता है—पर हँसना नहीं।

हमारी इन कायिक विशेषताओं से अन्य जानवरों पर आरम्भ में विजय पाने में हमें बड़ी सहायता मिली। हाथों में स्वाभाविक दृढ़ता होने के कारण अपने से बलवान पशुओं को पछाड़ने में हम अस्त्र-शस्त्रों का सुविधा पूर्वक प्रयोग करते थे। महीन से महीन और छोटी से छोटी वस्तुओं को हम उठा सकते थे। हमारे संकेत अत्यन्त सूक्ष्म और स्पष्ट होते थे। हँसने और मुस्कराने की शक्ति से हमें अत्यधिक सुविधाएँ मिलीं। आरम्भ में भाषा का अभाव तो था ही परन्तु अपनी आकृतियों से हम अन्य जानवरों की अपेक्षा अधिकाधिक भाव-प्रकाशन कर सकते थे। इसमें सन्देह नहीं कि प्रकृति अथवा परमात्मा ने हममें बुद्धि और प्रतिभा भी अधिक दी है परन्तु इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें कम मिलता है। प्रयत्न और अभ्यासके फलस्वरूप बहुत से जानवर भी अनोखे और अद्भुत कार्य कर डालते हैं।

मानव सभ्यता के विकास में 'जल' का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। वायु तो प्रत्येक स्थान पर उपलब्ध है पर जल के लिए प्रायः प्रयत्न करने पड़ते थे। आरम्भ में मनुष्य भी जानवरों की भाँति झुण्डों में बँटकर रहते थे और अधिक समय तक वे वहीं रहते थे जहाँ कि उन्हें जल की सुविधा मिलती थी। उस देश तथा स्थान को वे विशेष महत्व देते थे जहाँ पर उन्हें प्रत्येक ऋतु में पर्याप्त जल मिलता था। यही कारण है कि संसार का प्राचीन इतिहास केवल चार बड़ी नदियों की घाटियों का इतिहास है:—(अ) सिन्धु-गङ्गा की घाटी (भारतवर्ष); (ब) नील नदी की घाटी (मिश्र देश); (स) दजला-फरात की घाटी (वर्त्तमान ईराक, आदि) और (द) ह्वांगहो की घाटी (चीन)। इन नदियों की घाटियों में लोग स्थाई रूप से इसी लिए बस गये कि उन्हें वर्ष भर पीने तथा अन्न उपजाने के लिए जल मिलता था।

इन घाटियों की सभ्यता तथा संस्कृति, यद्यपि इनकी बहुत सी बातें मिलती-जुलती थीं, समान रूप से विकसित नहीं हुई। जहाँ का जल जितना शुद्ध, स्वस्थ तथा उपयोगी था वहाँ के लोग उतने ही तृप्त, सन्तुष्ट तथा

मननशील हो सके। भौगोलिक विशेषताओं की समीक्षा करने पर प्रायः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन नदियों में सिन्ध और गङ्गा सबसे अधिक उपयोगी रही हैं। गङ्गाजल तो कदाचित् वैज्ञानिकों की कसौटी पर भी सर्वोत्तम माना गया है। फलतः इसमें आश्चर्य ही क्या कि सिन्ध-गङ्गा की घाटी के लोग सबसे पहले सुसंस्कृत तथा व्यवस्थित जीवन व्यतीत करने लगे थे। हड़प्पा और मोहन-जोदड़ो तथा सिन्ध नदी की घाटी के ऊपरी तथा नीचे के के भागों के समीपस्थ स्थानों में जो खुदाई हुई है उससे पता चलता है कि संसार की प्राचीनतम सभ्यता का प्रादुर्भाव यहीं हुआ था।

इन नदियों की घाटियों की सभ्यता तथा संस्कृति की तुलनात्मक प्राचीनता के सम्बन्ध में विद्वानों में अब भी मतभेद है। मायावश प्रत्येक विद्वान् अपने क्षेत्र को ही इसका श्रेय देने के प्रयत्न में सुलझी हुई बातों को भी अपने पाण्डित्य, ज्ञान, तर्क, आदि के बल पर फिर उलझा देता है। यदि यह मान लिया जाता है कि मानव-सभ्यता के विकास में जल का विशेष महत्त्व रहा है तो इसे भी मान लेने में लेशमात्र हिचक नहीं होनी चाहिए कि जहाँ का जल जितना ही उत्तम तथा उपयोगी है वहाँ के निवासी उतने ही स्वस्थ, स्थिर, सन्तुष्ट, कर्मठ तथा मननशील रहे होंगे। फलतः भारतीय संस्कृति के प्राचीनतम होने में सन्देह के लिए स्थान नहीं है। एक बात का ध्यान हमें यह रखना है कि सिन्ध की घाटी का विकास पहले इसलिए हुआ कि उत्तर-पश्चिम से आते तथा फैलते समय यह विशाल नदी आर्यों को गङ्गा से पहले ही मिल गई और फलतः लोग वहीं बस गये। यदि सिन्ध का जल भी गङ्गा के जल के समान ही स्वच्छ, स्वस्थ तथा पवित्र होता तो कालान्तर में न तो सिन्ध की घाटी का इतना ह्रास होता और न गङ्गा की घाटी का इतना विकास। अपनी जिस अद्वितीय आध्यात्मिक तथा दार्शनिक विचारावली का गर्व भारतर्ष परतंत्रता-काल में भी कर सकता था, उसका निरूपण यहाँ के ऋषि-मुनियों ने गङ्गा के ही पवित्र जल का पान करके किया था।

गङ्गा जल की विशेषता विचित्र है। इसके पीने वालों में 'सन्तोष' सम्भवतः अपने आप आ जाता है। जो कोई भी विवेकशील तथा सिद्धान्त-प्रिय आक्रमणकारी इस देश में आया वह इस पुनीत वातावरण से बिना प्रभावित हुए न रह सका। यहाँ बसते ही उसके विचार परिवर्तित होने लगते थे। विश्वविजयाकांक्षी सिकन्दर तथा उसकी सेना ने तो दर्शनमात्र से ही अपने भावी कार्य-क्रम को पूरा करने में अपने को असमर्थ पाया। 'उसकी सेना थक गई थी; उसके सिपाही घर लौटना चाहते थे और उन्होंने विद्रोह

कर दिया······'—ये सब दुर्घटनाएँ केवल शारीरिक दुर्बलता के फलस्वरूप न घटीं। इनका मुख्य आधार मानसिक क्षोभ था। भारतीय संस्कृति के सम्पर्क में आते ही उन योद्धाओं को पुनः एक बार मनुष्यता का स्मरण हो गया। फलतः यह स्वाभाविक ही रहा कि वे अपने सगे-सम्बन्धियों से मिलने के लिए आतुर हुए। दूर न जाकर हम अंग्रेजों के ही 'काया-कल्प' पर विचार करें। सन् १९४७ ई०के १५ अगस्त को उन्होंने भारतवर्ष से अपने विस्तर इस प्रकार बाँध दिये मानो वे मेहमानी करके लौट रहे हों। संसार के इतिहास में अपने ढङ्ग की यह प्रथम घटना है। लोग कह सकते हैं कि यह सब विभिन्न परिस्थितियों के फलस्वरूप हुआ। ठीक भी है। पर परिस्थितियों के अनुकूल ठीक-ठीक चलना-ढलना सबके लिए सम्भव नहीं।

परिस्थितियों को तौलने, समझने और फिर उसका उपयुक्त हल निकालने के लिए पर्याप्त बुद्धि तथा विवेक की आवश्यकता होती है। छोटी-मोटी स्वार्थ-सिद्धि के निमित्त मनुष्य के विवेक पर माया का आवरण पड़ जाता है और अपने गन्तव्य मार्ग से शीघ्र ही वह च्युत् हो जाता है और यहाँ तो एक ऐसे विशाल साम्राज्य का प्रश्न था जिसे लोगों ने प्रायः 'सोने की चिड़िया' सिद्ध किया है। इंगलैण्ड में उदार दलीय शासन अवश्य था परन्तु वहाँ की कोई भी सरकार लोक-वाद के प्रतिकूल एक पग नहीं चलती। वहाँ जो कुछ वाद-विवाद इस प्रसङ्ग पर हुआ अथवा ऐसे ही अन्य प्रसङ्गों पर होता है उसका आधार केवल मतभेद रहता है न कि हृदय-भेद। वास्तव में, भारत-भूमि, भारतीय वातावरण, भारतीय आदर्शों—विशेषतया स्वर्गीय बापू के आत्मबल और अहिंसावाद से समस्त अंगरेजी राष्ट्र इतना प्रभावित हो चुका था कि उनके हृदय में इसके अतिरिक्त अन्य कोई न्यायपूर्ण मार्ग इस सम्बन्ध में दिखाई ही न पड़ा। इस उच्चकोटि के आदर्श-प्रतिपादन के निमित्त अपेक्षित प्रेरणा तथा साहस अंगरेजों को सर्वप्रथम यहीं सम्भव हुआ। अब तो इसका प्रयोग अन्यत्र और इनकी देखा-देखी अन्य लोग भी कर सकते हैं। धन्य है! यह जाह्नवी-पोषित भारतभूमि।

आरम्भ में हमारी आवश्यकताएँ सीमित थीं। जीवन भी बहुत ही सादा रहा होगा। यह निश्चय है कि इधर-उधर बहुत कुछ भटकने के उपरान्त हम नदियों की घाटियों में स्थिर हुए होंगे। इस प्रकार स्थिर रूपसे बसने के पूर्व हमें परमात्मा की सत्ता का आभास सम्भवतः हो चुका था। आदमी जब जानवरों की भाँति इधर-उधर घूमता रहा होगा तो कोई न कोई उसका नेता था जो औरों से बलवान और प्रायः बुद्धिमान भी होता रहा होगा।

रात्रि के अन्धकार में सबका कार-बार रुक जाता था और प्रातःकाल सूर्योदय हो जाने पर वे फिर घूमने-फिरने लगते थे। कदाचित् सूर्य के प्रति उनकी श्रद्धा सबसे पहले हुई होगी। सूर्य की पूजा किसी न किसी रूप में प्रत्येक प्राचीन देश में होती थी। किसी दिन उन्हें छायादार वृक्ष, जल, आदि सुविधापूर्वक प्राप्त होते थे, किसी दिन कठिनाई से प्राप्त होते थे और किसी-किसी दिन वे भटकते ही रह जाते थे। फलतः वृक्ष, जल, आदि की भी पूजा वे करते थे। सूर्य, वृक्ष, जल, अग्नि आदि की पूजा तब होती जब इन्हें वे लोग प्रत्यक्ष देखते तथा पाते थे परन्तु प्रति दिन इन सबको आवश्यकता तथा सुविधानुसार सुगमता से प्राप्त होने के लिए वे लोग जो आराधना तथा ध्यान करते रहे होंगे उसी के फलस्वरूप उन्हें धीरे-धीरे किसी परोक्ष तथा अज्ञात सत्ता का आभास होता रहा होगा और कालान्तर में सम्भवतः इसी को परमात्मा, भगवान तथा अन्य नामों (विभिन्न धर्मानुसार) द्वारा विभूषित किया गया।

परमात्मा की पूजा आरम्भ में नेता ही करता रहा होगा और धीरे-धीरे उसने वर्ग के अन्य योग्य व्यक्तियों को भी सिखाया होगा। यहीं से धर्म तथा शिक्षा के बीजारोपण साथ-साथ हुए। पूजा की विधि, मात्रा, रूप-रेखा, आदि में उत्तरोत्तर विकास होता रहा होगा। जब कभी कठिन तथा बड़ा काम पड़ता था तो परमात्मा की पूजा भी लगभग उसी अनुपात से बढ़ा दी जाती थी। स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल कुछ हेर-फेर के साथ लगभग समस्त प्राचीन संसार में यही रूप-रेखा रही। उस समय शिक्षा का उद्देश्य पूर्ण रूप से धर्ममूलक अर्थात् आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को समझना, निर्धारित करना तथा सतत-विकसित अमूर्त्त भावनाओं को यथा सम्भव मूर्त्त रूप देना था। प्रत्यक्ष की प्राप्ति के लिए हमें निश्चित तथा सीमित और निर्धारित प्रयत्न तथा अभ्यास करने पड़ते हैं, परन्तु अप्रत्यक्ष (परमात्मा) की प्राप्ति और तुष्टि के लिए अपनी योग्यतानुसार हम अधिकाधिक और विविध अभ्यास करते जाते हैं। इन अभ्यासों में लगातार लगे रहने से प्राचीन काल के मनुष्यों के शरीर, विचार तथा मस्तिष्क क्रम से स्वस्थ, निर्मल तथा उर्वर होते गये। शिक्षा के उद्देश्य, साधन, विधान, आदि कुछ भी हों, पर उससे यदि लोगों के शारीरिक तथा मानसिक विकास उचित रूप से हो रहे हों तो वह सफल और वास्तविक अवश्य मानी जायगी।

<u>संस्कृति और समाजः</u>—मानव-समाज आगे बढ़ा। नदियों की घाटियों की उपयोगिता से लोग ऊब सा गये। उनकी बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति केवल नदियों की घाटियों के ही वातावरण से न हो सकती थी। उधर

कर दिया……'—ये सब दुर्घटनाएँ केवल शारीरिक दुर्बलता के फलस्वरूप न घटीं। इनका मुख्य आधार मानसिक क्षोभ था। भारतीय संस्कृति के सम्पर्क में आते ही उन योद्धाओं को पुनः एक बार मनुष्यता का स्मरण हो गया। फलतः यह स्वाभाविक ही रहा कि वे अपने सगे-सम्बन्धियों से मिलने के लिए आतुर हुए। दूर न जाकर हम अंग्रेजों के ही 'काया-कल्प' पर विचार करें। सन् १९४७ ई०के १५ अगस्त को उन्होंने भारतवर्ष से अपने बिस्तर इस प्रकार बाँध दिये मानो वे मेहमानी करके लौट रहे हों। संसार के इतिहास में अपने ढङ्ग की यह प्रथम घटना है। लोग कह सकते हैं कि यह सब विभिन्न परिस्थितियों के फलस्वरूप हुआ। ठीक भी है। पर परिस्थितियों के अनुकूल ठीक-ठीक चलना-ढलना सबके लिए सम्भव नहीं।

परिस्थितियों को तौलने, समझने और फिर उसका उपयुक्त हल निकालने के लिए पर्याप्त बुद्धि तथा विवेक की आवश्यकता होती है। छोटी-मोटी स्वार्थ-सिद्धि के निमित्त मनुष्य के विवेक पर माया का आवरण पड़ जाता है और अपने गन्तव्य मार्ग से शीघ्र ही वह च्युत् हो जाता है और यहाँ तो एक ऐसे विशाल साम्राज्य का प्रश्न था जिसे लोगों ने प्रायः 'सोने की चिड़िया' सिद्ध किया है। इंगलैण्ड में उदार दलीय शासन अवश्य था परन्तु वहाँ की कोई भी सरकार लोक-वाद के प्रतिकूल एक पग नहीं चलती। वहाँ जो कुछ वाद-विवाद इस प्रसङ्ग पर हुआ अथवा ऐसे ही अन्य प्रसङ्गों पर होता है उसका आधार केवल मतभेद रहता है न कि हृदय-भेद। वास्तव में, भारत-भूमि, भारतीय वातावरण, भारतीय आदर्शों—विशेषतया स्वर्गीय बापू के आत्मबल और अहिंसावाद से समस्त अंगरेजी राष्ट्र इतना प्रभावित हो चुका था कि उनके हृदय में इसके अतिरिक्त अन्य कोई न्यायपूर्ण मार्ग इस सम्बन्ध में दिखाई ही न पड़ा। इस उच्चकोटि के आदर्श-प्रतिपादन के निमित्त अपेक्षित प्रेरणा तथा साहस अंगरेजों को सर्वप्रथम यहीं सम्भव हुआ। अब तो इसका प्रयोग अन्यत्र और इनकी देखा-देखी अन्य लोग भी कर सकते हैं। धन्य है! यह जाह्नवी-पोषित भारतभूमि।

आरम्भ में हमारी आवश्यकताएँ सीमित थीं। जीवन भी बहुत ही सादा रहा होगा। यह निश्चय है कि इधर-उधर बहुत कुछ भटकने के उपरान्त हम नदियों की घाटियों में स्थिर हुए होंगे। इस प्रकार स्थिर रूपसे बसने पूर्व हमें परमात्मा की सत्ता का आभास सम्भवतः हो चुका था। आदि जब जानवरों की भाँति इधर-उधर घूमता रहा होगा तो कोई न कोई नेता था जो औरों से बलवान और प्रायः बुद्धिमान भी होता रहा

पूरा कर लेना कठिन हो जाता है। इस प्रकार के कार्य प्रायः स्थायी, उपयोगी तथा महान होते हैं। मनुष्य जन्म और स्वभाव से ही स्वार्थी होता है। कोई 'कर्म' कितना भी महान क्यों न हो, यदि उसके फल की आशा न रहे तो उसमें लोगों का मन कम लगेगा। फलतः अपनी 'कर्म-प्रधान' संस्कृति की रक्षा और विकास के लिए हमारे तत्कालीन मनीषियों ने 'पूर्व-जन्म' और 'पुनर्जन्म' के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इसके अनुसार आत्मा अमर है। हमें अपने किसी 'कर्म' के फल के लिए आतुर होने की आवश्यकता नहीं। फल यदि वर्तमान जीवन में नहीं प्राप्त हो रहा है तो भावी-जीवन में प्राप्त हो जायगा। यह भी हो सकता था कि पूर्व-जन्म के कुकृत्यों के फलस्वरूप प्रस्तुत जीवन के सत्कर्मों का फल न मिले। प्रत्येक दशा में हम प्रस्तुत जीवन में अकर्मण्य नहीं रह सकते थे।

पाश्चात्य जीवन में 'व्यक्तित्व' की प्रधानता थी। अपने कर्मों के फल को वे अपने जीवन-काल में ही प्राप्त कर लेना चाहते थे। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि कतिपय महान व्यक्तियों को छोड़कर अधिकांश लोग ऐसे ही कर्मों में लगते हैं जिनको कि पूरा करना उनके विचार से कठिन न था। फलतः उनकी संस्कृति में प्रस्तुत जीवन की ही सुन्दर से सुन्दर व्याख्या और रूप-रेखा मिलती थी। जन्म के पूर्व और मृत्यु के उपरान्त का उनके यहाँ केवल उल्लेख मात्र था। निस्सन्देह सत्कर्मों की प्रेरणा वहाँ भी थी परन्तु उनके करने अथवा न करने के लिए लोग स्वतंत्र थे। अपना मार्ग-निर्धारण लोग सुविधानुसार करते थे; उनके ऊपर कोई संस्कार-जन्य दायित्व नहीं था। इस प्रकार उनके जीवन में ऐसे अवसर प्रायः आते थे जब कि वे अपने को असफल, असहाय तथा विपन्न पाते थे।

वर्तमान वैज्ञानिक युग की उपयोगिता की कसौटी पर भी हमारे तत्कालीन 'पूर्व जन्म' और 'पुनर्जन्म' के सिद्धान्त खरे उतरते हैं। इससे मनुष्य अपने सुख-दुःख का स्वयं स्वामी हो गया। उसका जीवन दुखी तभी होता था जब कि वह काम में न लगे। काम का करना या न करना अपने ही ऊपर निर्भर होता है। परिस्थिति कितनी स्पष्ट कर दी गई थी। फल-प्राप्ति में दूसरों का भी हाथ होता है और उसके लिए इस सिद्धान्त से सान्त्वना मि[illegible] है। हम काम को रोकते नहीं थे; हमारा विश्वास था कि प्रस्तुत [illegible] रोड़ा अटकाने वाले लोग जान-बूझकर हमारा अहित नहीं क[illegible] 'पूर्व-जन्म' और 'पुनर्जन्म' की विशेषताओं के अनुरूप वे ऐसा किसी दैवी शक्ति द्वारा प्रेरित किये जाते हैं। एक ओर

लगातार लगे रहने के लिए और दूसरी ओर अपने विपक्षियों, प्रतिद्वन्दियों, आदि के सम्बन्ध में किसी प्रकार की दुर्भावना न रखने के लिए जो संस्कृति तथा सिद्धान्त प्रेरित करें उन्हें इस असार संसार में सर्वोत्तम मानने में किसी भी विद्वान को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यदि ध्यान से देखा जाय तो दुःख, असफलता, आदि का तत्कालीन भारतवर्ष में अभाव रहा। तत्कालीन साहित्य भी प्रायः सुखान्त ही है। मानव-विकास में विकट से विकट कठिनाइयों का उल्लेख तो है परन्तु अन्त में 'सत्कर्मों' की विजय है। खेद है कि पाश्चात्य विद्वानों ने और उनकी देखा-देखी कतिपय भारतीय विद्वानों ने इन विशेषताओं को समझने का कष्ट न करके तत्कालीन साहित्य पर 'सुखान्त' होने का दोषारोपण किया है।

कुछ लोगों को यह भ्रम हो सकता है कि विपक्षियों के प्रति दुर्भावना किस प्रकार नहीं हो सकती थी। प्राचीन भारतवर्ष में भी नाना प्रकार के विकट युद्ध हुए ही थे; शत्रुओं के विनाश के लिए नाना प्रकार के कुचक्र रचे ही जाते थे—निस्सन्देह सब कुछ हुआ और होता था। परन्तु प्रत्येक संघर्ष में अत्याचारियों और आततायियों का पतन हमारे यहाँ अवश्यम्भावी रहा है। संघर्षों में भारतीय आदर्शों का जो दल जितनी शीघ्रता से उल्लंघन करता था उसका सर्वनाश उतनी ही तीव्रता से होता था। दूसरे शब्दों में असाधारण से असाधारण व्यक्ति भी निर्धारित तथा कर्मोचित परम्परा के मार्ग में बाधक होने का साहस न कर सकता था। साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना है कि भारतवर्ष का प्राचीन समाज भी मनुष्यों का ही समाज था। लोग राग-रङ्ग से विहीन नहीं थे; समाज में प्रत्येक कोटि के व्यक्ति थे ही। फलतः प्रतिकूल प्रवृत्ति के व्यक्तियों तथा वर्गों को हेय समझना तथा उनसे युद्ध करना स्वाभाविक ही था।

तीसरा अन्तर, वर्ग-भेद सम्बन्धी है। प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक कार्य को समान दक्षता से नहीं कर सकता; कोई किसी कार्य में सिद्धहस्त होते हुए भी बहुत से कार्यों में असमर्थ होता है। कुछ लोग अपने आप कार्य में जुट जाते हैं, कुछ प्रेरित करने पर जुटते हैं, कुछ डराने-धमकाने पर जुटते हैं—कहने का तात्पर्य यह है कि समाज में हर प्रकार के लोग होते हैं। फलतः 'कर्म-प्रधान' भारतीय समाज में लोग योग्यता और आवश्यकतानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभक्त हो गये थे। आरम्भ में यह वर्गीकरण बहुत ही उपयोगी तथा सुविधाजनक सिद्ध हुआ। इसमें दोष तो तब आने लगे जब इसका आधार 'कर्म' न रहकर, 'जन्म' हो गया। सुकर्मों के बराबर

लोग प्राय: उच्चतर वर्ग में पहुँच जाते थे। महर्षि विश्वामित्र जन्म से क्षत्रिय थे परन्तु उनकी प्रतिष्ठा किसी भी ब्राह्मण ऋषि से कम न थी। स्त्रियों को प्रकृति से ही बहुत बड़ा दायित्व मिला हुआ है; उसी को पूरा करने में उनका पर्याप्त समय और स्वास्थ्य लग जाता है। प्राचीन भारतीय समाज में उन्हें अर्द्धाङ्गिनी स्वीकार करते हुए भी सामाजिक दायित्वों से अधिक लादना उचित तथा न्याय-सङ्गत न समझा गया। जिस वर्ग को जो कार्य मिला था वह उसी में दत्तचित्त रहता था। पाश्चात्य विद्वानों ने भी, यद्यपि वे इसके पूर्ण रहस्य को सम्भवत: समझ न सके हैं, इसकी सुविधाओं की प्रसङ्गवश कहीं-कहीं सराहना की है।

पाश्चात्य संस्कृति के व्यक्तित्व-प्रधान होने के कारण वहाँ पर किसी सिद्धान्त-आधारित वर्गीकरण के लिए स्थान न था। यों तो धन-बल के माध्यम से उनके यहाँ भी कई प्रकार के वर्ग बनते बिगड़ते रहते थे परन्तु उनमें किसी पूर्व निर्धारित योजना का पुट नहीं था। प्राय: विजयी वर्ग विजित वर्ग को दास तक बना लेता था। प्रस्तुत जीवन को ही सफल तथा सुखी बनाने के विचार से प्रत्येक व्यक्ति, अपनी योग्यता का तनिक भी ध्यान न रखते हुए, यथाकथित ऊँचे-ऊँचे कामों में लगने के लिए लालायित तथा प्रयत्नशील रहता था। यथाकथित निम्न और साधारण कार्यों में लगे हुए व्यक्तियों को उनके यहाँ प्राय: हेय माना जाता था; अथवा यों कहा जाय कि ऐसे व्यक्ति स्वयं अपने को साधारण कोटि का समझते थे। उस संस्कृति की रूप-रेखा पर विचार करने से ऐसा मानना या सोचना अनुचित प्रतीत नहीं होता। प्रस्तुत जीवन-काल में यदि कोई व्यक्ति यथाकथित अच्छे कामों के करने का श्रेय प्राप्त नहीं कर लेता तो उसे फिर अवसर ही कब मिलेगा? फलतः उनके यहाँ स्थिति, दशा, योग्यता, आदि का तनिक भी ध्यान न रखते हुए सभी व्यक्तियों को (पुरुषों-स्त्रियों) यथाकथित सभी ऊँचे कामों के लिए आजीवन प्रयत्न करना पड़ता था चाहे वे पावें अथवा न पावें तथा किसी प्रकार मिल जाने पर उन्हें ठीक से सम्पादित कर सकें अथवा नहीं।

उपयोगिता की कसौटी पर यहाँ भी भारतीय आदर्श ही खरे उतरते हैं। लिखित विधान चाहे कितनाहूँ उदार क्यों न हो, शासन-व्यवस्था चाहे कितनी ही दृढ़ क्यों न हो, धन-धान्य की चाहे कितनी ही प्रचुरता क्यों न हो परन्तु किसी देश या राष्ट्र के सभी वैभवाकांक्षी लोगों का जीवन सुखी तथा सफल बनाना असम्भव है। वैभव-अनुसन्धान का सबसे विकट दुर्विपाक यह है कि इसमें आपस में ही लोग एक दूसरे का गला घोंटने के लिए रह-रह कर आतु

होते रहते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि पाश्चात्य संस्कृति 'सतत-संघर्ष' की भित्ति पर निर्मित थी। प्राचीन भारतवर्ष में 'कर्म' को महत्त्व मिलने से प्रत्येक वर्ग का अस्तित्व आवश्यक तथा उपयोगी था। यहाँ पर यथा-कथित ऊँचे से ऊँचे काम में लग जाना नहीं प्रत्युत किसी भी काम को उत्तम से उत्तम विधि से पूरा करना महत्त्वपूर्ण था। उधर पूर्व जन्म और पुनर्जन्म की व्याख्या से यथाकथित निकृष्ट तथा दुष्कर कामों में लगा हुआ वर्ग भी कदापि दुखी तथा हताश न होता था। दधीचि को रीढ़ की हड्डी तथा एकलव्य को दाहिने हाथ का अंगूठा देने में भी तनिक दुविधा न हुई होगी। क्योंकि प्रस्तुत शरीर को नश्वर परन्तु आत्मा को अमर सभी मानते थे। अगले जन्म में सत्कर्मों का फल पा जाने की आशा में सभी मस्त थे।

चौथा अन्तर पारिवारिक रूप-रेखा और व्यवस्था के सम्बन्ध में है। भारतीय संस्कृति में 'कर्म' के अनुकूल परिवार की रूप-रेखा अत्यन्त विस्तृत तथा उदार थी। कर्म विशेष से सम्बन्धित दल अथवा वर्ग के व्यक्तियों को वास्तविक स्नेह-बन्धन में रखने के विचार से यहाँ के 'नाते-गोते' अत्यन्त व्यापक और विस्तृत रखे गये। कोई पुरुष कई पत्नियाँ रख सकता था। कई पीढ़ियों तक लोग एक दूसरे को अपना समझते थे और साथ-साथ एक कुटुम्ब में रहते थे। वर्ग के सभी लोग अपने निर्धारित कार्य को समान दक्षता से नहीं कर सकते थे। फलतः परिवार को विस्तृत रखने से कुछ न कुछ लोग दक्ष तथा प्रतिभा-सम्पन्न निकल ही आते थे। इन लौकिक सुविधाओं के अतिरिक्त पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की प्रेरणा से भी लोग एक दूसरे को अपना ही, सुविधा पूर्वक समझ सकते थे। प्राचीन भारतवर्ष में अपने और पराये की सीमा नहीं के बराबर थी। सुख-दुःख, आशा-निराशा, घटती-बढ़ती आदि का द्वन्द्व न होने से अधिकाधिक लोग एक परिवार में सुविधा पूर्वक रह लेते थे। 'वसुधैव कुटुम्बकं' का हमारा सिद्धान्त आज भी विश्व-विख्यात है।

पाश्चात्य संस्कृति में परिवार की सीमा संकुचित थी। प्रस्तुत जीवन को बहुतों के साथ रहकर सुखी और वैभव-पूर्ण बनाना कठिन होता है। संघर्ष-प्रधान समाज में अपनी ही रक्षा कठिनाई से हो सकती है। फलतः उनके परिवारों के अन्तर्गत पुरुष, एक पत्नी और अवयस्क बच्चे होते थे। शिष्टाचार के नाते और लोगों से भी सम्बन्ध होता था परन्तु तादात्म्य के लिए स्थान न था। उस संस्कृति के अनुकूल यह उचित ही था। नैतिकता और उपयोगिता की कसौटी पर इस अन्तर को कसना सम्भवतः उचित नहीं। इस सम्बन्ध में केवल यह कह देना पर्याप्त होगा कि उस संस्कृति के लिए संकुचित

परिवार उचित तथा उपयोगी थे और भारतीय संस्कृति के लिए विशाल और विस्तृत।

पाँचवा अन्तर आर्थिक-व्यवस्था से सम्बन्धित है। प्राचीन भारतवर्ष में धन-धान्य की प्रचुरता तो थी परन्तु इसको विशेष महत्त्व नहीं था। ब्राह्मणों (विद्वानों) को सर्वोच्च माना गया था परन्तु उनका धन केवल 'भिक्षा' थी। क्षत्रियों में अनेक राजे-महाराजे थे परन्तु वे प्रायः ऐसे अवसर की प्रतीक्षा करते थे जब कि वे अपना सब कुछ किसी को दान देकर स्वतंत्र हो जायँ। 'धन' की देवी लक्ष्मी जी और 'विद्या' की देवी सरस्वती जी मानी गई हैं। भारतीय परम्परा में लक्ष्मी का वाहन उल्लू परन्तु सरस्वती का हंस निर्धारित है। सामूहिक परिवारों और कर्म-प्रधान व्यवस्था के होने से धन तो यों ही बढ़ता रहता था परन्तु इसके लिए कोई व्यग्रता न होती थी। चार फलों में अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष अवश्य माने गये हैं और यदि यही क्रम मान कर व्याख्या की जाय तो स्पष्ट है कि हमारा 'अर्थ' पहले 'धर्म' की पूर्ति करता था और फिर 'काम' की।

पाश्चात्य संस्कृति में धन-धान्य को आरम्भ से ही महत्त्व रहा। लौकिक सुख-शान्ति के लिए धन ही सर्वोच्च साधन है। अपनी ख्याति तथा वंशजों की सुविधा के लिए वहाँ लोग अधिकाधिक धन-राशि छोड़ने का प्रयत्न करते थे। स्मरण रहना चाहिए कि भारतीय 'दरिद्र' का तात्पर्य केवल धनहीन से ही नहीं था। यदि ऐसा होता तो तत्कालीन सभी ब्राह्मण दरिद्रों की भाँति उपेक्षा के पात्र हो जाते। इस प्रसङ्ग में भी केवल यही कह देना पर्याप्त है कि अपनी-अपनी संस्कृति और अपने समाज के अनुसार दोनों ही अपने-अपने स्थान पर उचित तथा उपयोगी थे।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पाश्चात्य संस्कृति 'अनुराग-प्रधान' थी और भारतीय संस्कृति 'त्याग-प्रधान'। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उनके यहाँ 'त्याग' का और हमारे यहाँ 'अनुराग' का अभाव था; कदापि नहीं। उनके यहाँ उच्च कोटि के त्याग और हमारे यहाँ, भाँति-भाँति के अनुराग के पग-पग पर प्रमाण हैं। अन्तर यह है कि वे लोग 'अनुराग' के माध्यम से उच्च से उच्च 'त्याग' करते थे और हम लोग 'त्याग' के माध्यम से अनोखे से अनोखे 'अनुराग' में तल्लीन होते थे। मानव होने के कारण हमारे यहाँ भी संसारिकता के सभी अङ्गों तथा उपाङ्गों को महत्त्व था। परन्तु 'कर्म-प्रधान' जीवन होने के कारण हम इन सबका उपभोग अपने दायित्वों का विधिवत् ध्यान रखते हुए करते थे। यदि किसी 'कर्म' विशेष के नाते

हमें इनको अथवा इनमें से कुछ को स्थगित अथवा त्यागना पड़ता था तो हम सहर्ष करते थे। उधर वे लोग किसी भी कर्म में लगने के पूर्व अपने व्यक्तिगत हितों के लिए विशेष व्यग्र तथा सतर्क रहते थे। स्मरण रहना चाहिए कि यह समस्त व्याख्या मौलिक प्रवृत्तियों और साधारण परिस्थितियों पर आधारित है। संसार के सभी कालों. सभी देशों और सभी समाजों के असाधारण व्यक्ति इन सभी नियमों, धर्म-कर्म, व्याख्या. आदि, के ऊपर हैं। उनकी संस्कृति अपनी ही रही है। फलतः ऐसे उदाहरणों के आधार पर इस प्रस्तुत व्याख्या का खण्डन करना उपयोगी न होगा।

शिक्षा की रूप-रेखाः—उपर्युक्त आधार पर शिक्षा के उद्देश्य तथा उसकी रूप-रेखा में भी पर्याप्त अन्तर पड़ गया। पाश्चात्य देशों में 'व्यक्ति-प्रधान' संस्कृति के अनुरूप शिक्षा की रूप-रेखा 'ज्ञान-मूलक' रही। परन्तु प्राचीन भारतवर्ष में 'कर्म-प्रधान' संस्कृति के पोषण के लिए शिक्षा की रूप-रेखा 'भक्ति-मूलक' हुई। निस्सन्देह, धर्म का युग तो वह था ही, फलतः प्रत्येक देश और समाज की शिक्षा अत्यधिक धर्म-प्रधान थी। पर अन्तर यह था कि अन्य स्थानों में प्रयत्न होता था आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को समझने का परन्तु गङ्गा की घाटी में प्रयत्न हो रहा था परमात्मा के यथासम्भव साक्षात् दिग्दर्शन का। यद्यपि 'ज्ञान' और 'भक्ति' का दार्शनिक निरूपण तथा नामकरण बहुत दिनों के उपरान्त हुआ परन्तु इन प्रवृत्तियों का बीजारोपण तभी हो गया था। 'ज्ञान मूलक शिक्षा' का उद्देश्य होता है 'आत्मोत्कर्ष' तथा 'व्यक्तित्व का विकास'। यूनान. रोम, आदि में जितने दार्शनिक. विद्वान, विधान-वेत्ता, आदि हुए, उन सभी ने 'व्यक्तित्व के विकास' को महत्व दिया। इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्ति-प्रधान संस्कृति का स्वाभाविक तथा समुचित विकास ज्ञान-मूलक शिक्षा से ही सम्भव होता है—इस शिक्षा से 'तर्क' की अभिवृद्धि होती है और 'अहं' भावना विविध प्रकार से उत्तरोत्तर प्रफुल्लित होती चलती है।

भारतवर्ष की 'भक्ति मूलक' शिक्षा साधन और साध्य दोनों ही थी। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यहाँ के सभी छात्र आजीवन 'भक्ति' का ही अभ्यास करते थे। वास्तव में परिस्थिति यह थी कि सर्वप्रथम छात्र भक्ति-प्रधान अभ्यासों द्वारा धीरे-धीरे अपनी माया तथा इच्छाओं पर विजय पाता था। ऊपर संकेत हो चुका है कि विभिन्न संस्कृतियों के मूल आधार में भौगोलिक विशेषताएँ रही हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि संस्कृति का प्रमुख उद्देश्य भौगोलिक परिस्थितियों पर यथासम्भव अधिकाधिक विजय

प्राप्त करना था। "मध्य-एशिया, यूरोप, आदि से भारतवर्ष अपेक्षाकृत गर्म देश है।" यदि यहाँ का जीवन अधिकाधिक नियंत्रित तथा नियमित न बनाया जाता तो इतनी उच्चकोटि की संस्कृति का विकास असम्भव था। फलतः २५ वर्ष की अवस्था तक छात्रों को 'ब्रह्मचर्य' का घोर पालन करना पड़ता था। क्रमशः वह अपने को ऐसा बना लेता था, मानो गुरु से भिन्न उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। छात्र गुरु की सेवा करता था, उनकी गायें चराता था, उनके लिए जङ्गल से लकड़ियाँ लाता था, बिना गुरु की आज्ञा के न वह भोजन करता था और न सोता था। इस प्रकार आज्ञा-पालन करते-करते छात्र गुरु का ही हो जाता था। यदि कोई व्यक्ति अपने अस्तित्व को, जीवित रहते हुए भी, नहीं के बराबर कर दे और अपने आराध्य व्यक्ति के संकेत पर मनसा, वाचा और कर्मणा सहर्ष चलने लगे तो यह निश्चय है कि उसने माया पर विजय प्राप्त कर ली है। पशुता से मनुष्यता की ओर अग्रसर होना यही है।

शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य सम्भवतः यही होना चाहिए कि हमें स्वयं तो कोई इच्छा न हो परन्तु अन्य व्यक्तियों की भलाई के दृष्टिकोण से हम ऐसे कार्य कर जायँ जिनसे हमारे व्यक्तित्व की भी विधिवत् रक्षा हो जाय और समाज का भी कल्याण होता चले। प्राचीन भारतवर्ष की संस्कृति ऐसी व्यवस्थित थी कि हमारी सूक्ष्म से सूक्ष्म व्यक्तिगत आवश्यकताएँ लोकवाद के माध्यम से पूरी होती थीं। यद्यपि यूनान, रोम, आदि की भाँति प्राचीन भारतवर्ष के व्यक्तियों के लिए किसी विधान अथवा शासन-व्यवस्था में नागरिकता के अधिकार निर्धारित नहीं किये गये थे परन्तु इस परम्परा में कर्म-आधारित ऐसी व्यवस्था थी कि लोगों के व्यक्तिगत हितों की पूर्त्ति बिना किसी संघर्ष के होती रहती थी। ब्याह अथवा पाणि-ग्रहण सम्भवतः सर्वाधिक व्यक्तिगत हित है। परन्तु इसकी व्यवस्था भी हमारे यहाँ अत्यन्त सुन्दर थी। हमारे यहाँ 'ब्याह' भोग-विलास तथा आमोद-प्रमोद के उद्देश्य से नहीं होता था। यहाँ स्त्रियाँ (पत्नियाँ) अर्द्धाङ्गिनी मानी गई हैं। पत्नी के बिना देव और पितृ की पूजा पूर्ण नहीं हो पाती। फलतः भारतवर्ष में इसी पूजा के लिए ब्याह होता था। अब प्रश्न यह उठता है कि पूजा ही यदि उद्देश्य है तो हम और आगे सम्बन्ध क्यों बढ़ाते थे। कारण स्पष्ट है; हमारा शरीर नश्वर है और सन्तानोत्पत्ति का दूसरा कोई साधन ज्ञात नहीं है। देव और पितृ की सतत पूजा के लिए सन्तानों की आवश्यकता पड़ती है। घूम-फिर कर बातें हैं तो वही परन्तु इन आदर्शों के निरूपण से भारत के

तत्कालीन किशोरों और किशोरियों को ब्रह्मचर्य पालन तथा पवित्र जीवन के लिए वास्तविक प्रेरणा मिलती थी।

'भक्ति' से सम्बन्धित अभ्यासों द्वारा जब भारतीय छात्र 'माया' पर विजय प्राप्त कर लेते थे तो उनके हृदय मस्तिष्क, आदि शुद्ध हो जाते थे। इस शुद्धीकरण के उपरान्त वे जो कुछ सीखते थे वह उनका ही हो जाता था। जब वे गृहस्थ-जीवन में प्रवेश करते थे तो वह शिक्षा पग-पग पर उनका पूर्ण रूप से पथ-प्रदर्शन करती थी। उनका मार्ग उन्हें सर्वदा स्पष्ट रहता था। सन्देह, दुविधा, भ्रम, कपट, छल, आदि के लिए जीवन में उन्हें कम अवसर मिलते थे। उन वीरों के सम्मुख आज्ञा-पालन और कर्त्तव्य ही मुख्य थे—अन्य सब कुछ गौणातिगौण। 'अश्वत्थामा हतः' सुनते ही गुरु द्रोणाचार्य अपने कर्त्तव्य-पालन में लग गये; युधिष्ठिर के शेष शब्दों को सुनने के लिए उनके पास समय ही नहीं था। कर्त्तव्य की चुनौती मिल जाने पर प्राचीन भारत के वीर उचित-अनुचित, समय-कुसमय, हानि-लाभ जीवन-मरण, आदि का तनिक भी ध्यान न करके तुरन्त जुट जाते थे। उन्हें विश्वास था कि न्याय-अन्याय का ठीक-ठीक लेखा-जोखा अगले जन्म में होता रहेगा।

ज्ञान-मूलक शिक्षा में व्यक्तित्व तो विधिवत् विकसित हो जाता था परन्तु 'आत्मनियंत्रण' तथा 'आत्मसंयम' के लिए उसमें पर्याप्त स्थान न था। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य उच्चकोटि का वीर, विद्वान. नागरिक, आदि तो हो जाता था पर उसकी विद्वत्ता उसका साथ वहीं तक देती थी जब तक कि उसके स्वार्थ सुरक्षित रहते थे अथवा यों कहा जाय कि जहाँ तक परिस्थितियाँ उसके अनुकूल थीं। तनिक भी व्यतिक्रम होने पर वह अपने को सँभाल न सकता था। यथाशक्ति वह महारथी पाण्डवों की भाँति देवी द्रौपदी के हृदय-विदारक चीर-हरण का सहन नहीं कर सकता था। इस प्रकार की गम्भीरता और क्षमता उसी व्यक्ति में आ सकती है जो 'भक्ति' का पूरा अभ्यास कर लेने पर 'ज्ञान' प्राप्त करता है। भारतवर्ष में भी जहाँ कहीं इसमें व्यतिक्रम हुआ था वहाँ अर्थ का अनर्थ होने में तनिक भी विलम्ब नहीं हुआ। हमारे कितने ही ऋषि-मुनि. जो तपस्या के बल पर बहुत ऊँचे उठे हुए थे (परन्तु कालान्तर में ज्ञान के चक्कर में आवश्यकता से अधिक पड़ गये), कभी अचानक किसी परी के सम्पर्क में आ जाने से, कभी किसी व्यक्ति-विशेष के वैभव पर ललच जाने से अथवा ऐसे ही किसी अन्य क्षणिक विकार के फल-स्वरूप पथ-भ्रष्ट हो जाते थे।

भक्तिमूलक शिक्षा के मेरुदण्ड 'गुरु' थे। तत्कालीन भारतीय समाज में गुरु का स्थान अद्वितीय था। उनकी आज्ञाओं का उल्लंघन किसी भी

परिस्थिति में नहीं हो सकता था। वृद्धावस्था में प्राप्त राम-लक्ष्मण ऐसे पुत्र-रत्नों को महाराज दशरथ ने महर्षि विश्वामित्र के साथ सहर्ष जङ्गल में भेज दिया। बालक एकलव्य भी गुरु द्रोण के प्रतिकूल स्वप्न में भी कुछ नहीं सोच सकता था। उस समय तो कुछ ऐसा वातावरण था कि गुरुओं की प्रतिकूल आज्ञाओं को सुनते ही छात्रों के मन में यह धारणा होती थी कि गुरु जी वास्तव में उनके प्रतिकूल नहीं हैं—प्रत्युत उनकी परीक्षा ले रहे हैं और फलतः वे अपने कठोर से कठोर अभ्यासों को कई गुना बढ़ा देते थे। यदि ऐसा न होता तो तिरस्कृत एकलव्य न तो गुरु द्रोण की मूर्त्ति स्थापित करके जङ्गल में उसके सामने अभ्यास ही करता और न कालान्तर में दक्षिणा के रूप में अपने दाहिने हाथ के अंगूठे को सहर्ष और तुरन्त काट ही डालता।

ज्ञानमूलक शिक्षा के क्षेत्र यूनान, रोम, आदि में गुरुओं का इतना आदर नहीं था; वहाँ तो अरस्तू आदि प्रायः अपमानित होते थे; कभी-कभी तो उनके शिष्य ही उनका तिरस्कार करते थे। उन देशों में गुरुओं की ऐसी दयनीय दशा हो सकती थी। 'ज्ञान' की प्राप्ति तो बिना गुरु के भी सम्भव है। निर्जीव पुस्तकों से भी बहुत कुछ ज्ञान बढ़ता है और अपमानित गुरु तो फिर भी चलते-फिरते तथा सुशिक्षित व्यक्ति हैं। दूसरे, उन स्थानों में गुरु और शिष्य के सम्बन्ध का आधार 'तर्क' था। प्रकृति का नियम है कि प्रायः गुरु के सिखाये हुए शिष्य कला विशेष में उनसे भी निपुण हो जाते हैं। फलतः 'तर्क' में सिद्धहस्त तथा पटु होते ही शिष्य गुरु पर हावी हो जाता था। इह-लोक-प्रधान समाज के लिए यह अनुचित नहीं। वहाँ तो प्रस्तुत जीवन में ही यथा-शक्ति सब कुछ हो जाना था। इसी से 'व्यक्ति' और 'व्यक्तित्व' को अधिका-धिक प्रोत्साहन मिलता गया और धीरे-धीरे 'जन-तंत्र' आदि की स्थापना हुई।

वर्ग में शिक्षा को सीमित करके ब्राह्मणों ने बड़ा अन्याय किया है। पाश्चात्य विद्वान तो ऐसी भ्रान्त धारणा बना लेने के लिए विवश हैं परन्तु भारतीय समालोचकों का भी ऐसा सोच लेना अपनी संस्कृति और सभ्यता के लिए घातक है। अपनी बुद्धि के बल पर इस प्रसङ्ग पर बड़े से बड़े निबन्ध तथा ग्रन्थ तैयार कर दिये गये हैं परन्तु उनकी वास्तविकता और उपयोगिता को आँकने का लेशमात्र भी प्रयत्न नहीं हो रहा है।

तत्कालीन पाठ्यक्रम की विशेषताएँ—प्राचीन काल के सभी देशों में शिक्षा के पाठ्यक्रम देश, काल तथा पात्र की कसौटी पर विधिवत् कसे हुए थे। लिपियों के विकास के पूर्व समस्त कार्य मौखिक रूप से होते थे। वाणी के सर्व-सर्वा होने से विद्या के अङ्ग, उपाङ्ग, आदि, स्वतः व्यवस्थित होते रहते थे। छात्रों की स्मृति अत्यन्त पैनी तथा सतत सक्रिय होती थी। असावधानी, प्रमाद, आदि के लिए तत्कालीन शिक्षा में स्थान ही न था। वर्तमान काल में भी जितना चाहे पढ़ा तथा लिखा जाय परन्तु हमारी विद्या उतनी ही है जितनी कि हमारे स्मृति-पटल पर अङ्कित हो और बिना प्रयास के ही हमारे प्रयोग में आती हो। सुगमता से कण्ठाग्र न होने वाले विषयों को उस समय सम्भवतः प्रोत्साहन कम था। जीवन की आवश्यकताएँ आरम्भ में इतनी सीमित तथा साधारण रही होंगी कि जटिल तथा कठिन कहलाने वाले विषय कम ही थे। ज्यों-ज्यों समाज विकसित होता गया त्यों-त्यों शिक्षा की रूप-रेखा तथा उसके विस्तार में भी विकास होता गया।

लिपियों के विकसित हो जाने पर प्रत्येक देश में विभिन्न विषयों के टीका-टिप्पणी-पूर्ण शास्त्रीय अध्ययन होने लगे। शिक्षा के उद्देश्य में अन्तर होने से तत्कालीन भारतीय साहित्य में समालोचना, दुखान्त रचना, आदि का अभाव है। आत्मकथाएँ तो सम्भवतः नहीं के बराबर हैं। पर इतना निश्चय है कि प्रत्येक समाज का साहित्य तथा उसके अध्ययन का तार-तम्य उसकी आवश्यकताओं के अनुकूल था। प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति तथा उसके समाज का दृढ़ विश्वास था कि तत्कालीन शिक्षा हर प्रकार से उपयोगी है। उच्च कोटि के साहित्य, दर्शन, आदि के निर्माण कालान्तर में हुए। खेद का विषय है कि संसार का बहुत सा प्राचीन साहित्य नष्ट-भ्रष्ट हो गया है परन्तु जितना उपलब्ध है उतने से भी तत्कालीन शिक्षा और संस्कृति का सामञ्जस्य स्पष्ट है। प्रत्येक नदी की घाटी के समाज में आवश्यकतानुसार 'धर्म' को अधिकाधिक महत्व था और इसी से शिक्षा तथा अध्यापन की रूप-रेखा को व्यवस्थित तथा प्रगतिशील ('प्रगति' का प्रयोग यहाँ वास्तविक उन्नति के रूप में है) होने में कोई कठिनाई होती नहीं सकती थी।

तत्कालीन पाठ्यक्रम की दूसरी विशेषता यह थी कि 'ज्ञान-मूलक' शिक्षा में 'तर्क' की और 'भक्ति-मूलक' शिक्षा में 'साधना' की प्रधानता थी। तर्क की प्रगति के लिए व्यक्ति को अधिकाधिक स्वतंत्रता, निर्भीकता, आदि की आवश्यकता पड़ती है। अन्यथा प्रसङ्ग विशेष का प्रतिपादन हो ही नहीं सकता। प्रायः 'तर्क' किसी प्रकार भी 'तथ्य' तक ही सीमित न रह कर 'कल्पना' तक और कभी-कभी तो आडम्बर, कपट, आदि के क्षेत्रों में भी प्रवेश कर जाता है। हाँ, एक दृष्टिकोण और है—कपट, आडम्बर, आदि की परिभाषा और रूप-रेखा भी विभिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न हो सकती है। हो सकता है कि तर्क-वादियों की तथ्य-धारणा भी कुछ अनिश्चित सी ही हो। यही कारण है कि 'ज्ञानमूलक' शिक्षा के शिष्य गण प्रायः अपने गुरुओं पर भी वाक्बाणों की घोर वर्षा करते थे। वाद-विवाद के आवेश में वे भूल जाते थे कि प्रतिवादी उनके गुरु ही हैं। उनकी प्रबल उत्कण्ठा रहती थी कि व्याख्या-विशेष में तर्क के बल पर वे औरों से बढ़ जायँ। इस प्रकार उनकी विजय-लिप्सा अथवा माया उनके ज्ञान के साथ साथ बढ़ती जाती थी। उनके मन में शान्ति तथा सन्तोष का स्थायी निवास असम्भव था।

'भक्तिमूलक' शिक्षा में 'अभ्यास' की ही प्रधानता रहती थी। आत्म-नियन्त्रण, सहनशीलता, तत्परता, आज्ञापालन, आदि के बिना अभ्यासों का प्रतिपादन कठिन होता है। इसमें गुरु के उपदेशों को छात्र लोग प्रसन्नता पूर्वक सक्रिय रूप देते थे। कभी-कभी तो ऐसा करने में उन्हें घोर शारीरिक कष्ट सहने पड़ते थे। परन्तु उनकी कठिनाइयों को आज सहस्रों वर्ष के उपरान्त हमलोग 'कष्ट' समझते हैं। तत्कालीन भारतीय छात्र तो सम्भवतः उन्हें कठिनाई भी नहीं समझते थे। मानसिक संघर्ष न होने पर किसी भी कार्य से सम्बन्धित शारीरिक कष्ट को मनुष्य कुछ भी नहीं समझता। हाँ, मानसिक द्वन्द्व का बीजारोपण होते ही पग-पग पर शारीरिक कष्ट के भी स्वप्न दिखाई देने लगते हैं। उन छात्रों के मन में दुविधा, संघर्ष, कपट, छल, आदि के लिए स्थान ही कहाँ था? उनका मार्ग तो हर प्रकार से उन्हें स्पष्ट था। खरे स्वर्ण की भाँति उत्तरोत्तर वे सहर्ष तपते और चमकते जाते थे। 'माया' ठगिनी सर्वदा उनसे दूर भागती थी। उनकी आस्था पर मुग्ध तथा गौरवान्वित होकर गुरुगण भी सतत इसी प्रयत्न में लगे रहते थे कि वे किस प्रकार अपने शिष्यों को अन्य गुरुओं के शिष्यों से आगे बढ़ा दें।

तत्कालीन शिक्षा तथा पाठ्यक्रम की तीसरी विशेषता यह थी कि सम्पूर्ण शिक्षा-कार्य गुरुओं की प्रवृत्ति तथा रुचि के अनुकूल होते थे। जिन-जिन

विषयों में गुरु पारङ्गत होते थे उन्हीं में वे अपने शिष्यों का पथ-प्रदर्शन करते थे। आरम्भ में तो किसी शिष्य की सभी शिक्षा-दीक्षा एक ही गुरु के द्वारा सम्पादित होती थी पर धीरे-धीरे बड़े-बड़े गुरुकुल, विद्यालय, विश्वविद्यालय, आदि स्थापित हो गए। कालान्तर में, इस प्रकार, कई गुरुओं से पढ़ना पड़ता था। राजतंत्रीय तथा धर्म-प्रधान युग में किसी शिष्य का केवल एक ही गुरु से विद्या पूरी करना हानि-कारक नहीं था। भारतवर्ष की भक्ति-मूलक' शिक्षा के लिए तो यह बहुत ही उपयोगी था। कई गुरुओं के पथ-प्रदर्शन में 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' के सिद्धान्त पर छात्रों के मस्तिष्क में संघर्ष तथा दुविधा के बीजा-रोपण हो सकते थे और 'भक्ति' अथवा 'आत्म-नियंत्रण' में इससे बाधा पड़ सकती थी। परन्तु ज्यों ज्यों भारतीय समाज बढ़ता गया त्यों-त्यों भारतवर्ष की 'भक्ति-मूलक' शिक्षा में भी सुधार और प्रसार होते गये। नालन्दा, आदि विशाल विश्वविद्यालयों की शिक्षा पूर्ण रूपेण भक्ति-मूलक रही।

यूनान, रोम, मिश्र, आदि देशों की 'ज्ञानमूलक' शिक्षा के लिए तो कई गुरुओं का होना अत्यन्त आवश्यक तथा उपयोगी था। 'ज्ञान' का विकास प्रायः बाह्य अधिक और आन्तरिक कम होता है। फलतः बाह्य उपकरण जितने अधिक और विविध हों, ज्ञान का विकास उतना ही विस्तृत तथा सर्वतोमुखी हो पाता है। कई गुरुओं के सम्पर्क में आने से 'पाण्डित्य' का केवल विकास ही नहीं होता परन्तु पाण्डित्य-प्रदर्शन की अनेक कलाओं से भी परिचय होती है। प्रसङ्ग-विशेष के सम्बन्ध में बहुतों के विचार जान लेने से अधिकाधिक पहलुओं का तुलनात्मक तथा समालोचनात्मक ज्ञान हो जाता है। अपने साधारण विचारों को भी अत्यन्त प्रभावोत्पादक रूप में रखने में मनुष्य सिद्ध-हस्त होता जाता है। परन्तु स्मरण रहना चाहिए कि धर्म की प्रधानता होने के कारण तत्कालीन 'ज्ञानमूलक' शिक्षा में भी व्याख्या अथवा वाद-विवाद के स्तर ऊँचे तथा आदर्श-प्रधान थे। तथ्य तथा सचाई पर जान-बूझकर कुठारा-घात नहीं किया जाता था। किसी प्रसङ्ग की छान-बीन अत्यन्त सावधानी तथा तत्परता से की जाती थी।

प्राचीन काल के गुरु अपने आत्मबल तथा सतत अभ्यास के बल पर सभी आवश्यक कलाओं में प्रवीण होते थे। गुरु द्रोणाचार्य केवल धनुर्विद्या के ही धुरन्धर विद्वान नहीं थे—उनके आध्यात्मिक अभ्यास भी असाधारण थे। आध्यात्मिक बल के ही आधार पर महाभारत के समय वे अपना कर्त्तव्य-निर्धारण कर सके थे। वास्तव में परिस्थिति अत्यन्त विकट थी। राज-सत्ता उस समय कौरवों के हाथ में थी परन्तु सबसे अधिक उनका प्यार अर्जुन के

प्रति था। नियमानुसार उन्हें कौरवों के ही साथ रहना चाहिए था। अपनी व्यक्तिगत तुष्टि की लेशमात्र भी चिन्ता न करके उन्होंने भारतवर्ष की कर्म-प्रधान परम्परा की सहर्ष रक्षा की। कौरवों की ओर से युद्ध करते हुए उन्होंने चक्रव्यूह की रचना की और अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु का वध किया। साधारणतः पाण्डवों का अहित वे स्वप्न में भी नहीं सोच सकते थे। परन्तु उनके प्रतिकूल उन्होंने क्या-क्या नहीं किया? साधारण व्यक्ति निश्चित रूप से माया के चंगुल में पड़ सकता था।

तत्कालीन पाठ्य-क्रम की चौथी विशेषता यह थी कि स्वास्थ्य, अनुशासन, आदि के लिए अलग से प्रयत्न नहीं करने पड़ते थे। भारतवर्ष की भक्ति-मूलक शिक्षा का तो तार-तम्य ही ऐसा था कि इसमें ये सब स्वतः पुष्पित, प्रफुल्लित तथा सुरक्षित होते रहते थे। छात्रों की अनुशासन सम्बन्धी संक्रामक व्याधि से हमारा देश केवल वर्तमान काल में संतप्त है। शिक्षा और संस्कृति में सामञ्जस्य का अभाव होते ही अनुशासन सम्बन्धी गुत्थियाँ उलझ जाती हैं। यदि ध्यान से देखा जाय तो स्पष्ट विदित होता है कि संस्कृति से भिन्न शिक्षा को शिक्षा मानना ही भूल है। प्राचीन काल में ऐसी बात नहीं थी। शिक्षा में पढ़े हुए सिद्धान्तों के अनुसार लोग जीवन व्यतीत करते थे और जिस अनुपात से उन सिद्धान्तों का पालन करते थे उसी अनुपात से उनका जीवन सुखी तथा सफल होता था। छात्रों की दैनिक कार्य की रूप-रेखा इतनी सुनिर्मित तथा सुव्यवस्थित थी कि शारीरिक अभ्यास भी पर्याप्त मात्रा में हो जाते थे। स्मरण रहना चाहिए कि मानसिक अभ्यासों के प्रसङ्ग में किये गये शारीरिक अभ्यासों का प्रभाव स्वास्थ्य पर साधारण व्यायाम की अपेक्षा अधिकाधिक स्वाभाविक तथा उपयोगी होता है।

'स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क' की वर्तमान उक्ति बहुत उचित तथा प्रासङ्गिक प्रतीत नहीं होती। 'शरीर' और 'मस्तिष्क' दो नहीं है। प्राचीन काल के पाठ्यक्रम की यही विशेषता थी कि छात्र बिना किसी भेद-भाव अथवा वर्गीकरण के, बौद्धिक और शारीरिक अभ्यासों को करते थे। ज्ञान-मूलक शिक्षा में तर्क की प्रधानता होने के कारण 'अनुशासन-शिथिलता' के कुछ कुअवसर आ सकते थे। परन्तु सर्वत्र धर्म की ही अधिकाधिक प्रधानता थी। किसी न किसी रूप में बड़े-छोटे, भले-बुरे, पुण्य-पाप, सत्कर्म-कुकर्म, आदि की रूप-रेखा सर्वत्र निर्धारित थी। विभिन्न नियमों के पालन पूर्ण रूप से होते थे। यूनान, आदि में गुरुओं तथा गुरुजनों का आकस्मिक अनादर अथवा तिरस्कार किसी वाद-विवाद के प्रसङ्ग में कभी-कभी हो जाता था। परन्तु उस प्रसङ्ग

के समाप्त होते ही गुरुओं तथा गुरुजनों के उपदेशों का पूर्ववत् आदर और सम्मान होने लगता था। फलतः अनुशासन-हीनता के अवसर उस समय उन देशों में भी नहीं के बराबर आते थे।

तत्कालीन पाठ्य क्रम की पाँचवी विशेषता स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में है। भारतवर्ष की 'कर्म प्रधान' संस्कृति में परिस्थिति कुछ विचित्र सी थी। स्त्रियों को प्रकृति से ही पर्याप्त दायित्व मिला हुआ है। फलतः उन्हें समाज की ओर से काम देने का प्रश्न ही न था। गुरुकुलों, विद्यालयों, आदि में उनकी शिक्षा की व्यवस्था नहीं के बराबर थी। भारतीय शिक्षा में ब्रह्मचर्य, सच्चरित्रता, आदि की अधिकाधिक प्रधानता होने के कारण भी इसमें कठिनाई पड़ती थी। आरम्भ में पिता के घर और कालान्तर में पति के सम्पर्क में उनकी पर्याप्त व्यावहारिक शिक्षा हो जाती थी। इसके उल्लेख और लिखित प्रमाण कम मिलते हैं परन्तु तत्कालीन पारिवारिक व्यवस्था की पूर्णता और उच्चता को पढ़ने और सुनने से यही अनुमान होता है कि स्त्रियाँ सुचरित्रा तथा विदुषी थीं। अपनी शिक्षा-दीक्षा तथा योग्यता से सुसज्जिता होने पर ही वे आदरणीया सुगृहिणी तथा वास्तविक अर्द्धाङ्गिनी हो पाती रही होंगी। इतना निश्चय है कि उनकी शिक्षा-दीक्षा अधिकाधिक त्याग-प्रधान थी।

'व्यक्ति-प्रधान' संस्कृतिवाले देशों में भी स्त्री-शिक्षा के उल्लेख बहुत सजीव तथा स्पष्ट नहीं मिलते। परन्तु वहाँ पर 'व्यक्तित्व' को प्रधानता मिलने के कारण स्त्रियों के भी व्यक्तित्व का तिरस्कार नहीं हो सकता था। इतना अवश्य है कि शारीरिक शक्ति में पुरुषों के बराबर न होने से उनके व्यक्तित्व को उतना महत्त्व नहीं मिलता था जितना कि पुरुषों के व्यक्तित्व को सम्भव था। जन-तंत्र के प्रादुर्भाव के उपरान्त स्त्रियों के व्यक्तित्व को कुछ और अधिक महत्त्व अवश्य मिल गया। वहाँ भी स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा साधारणतः व्यावहारिक ही थी। आदर्शों की भिन्नता के कारण उनके पारिवारिक जीवन की रूप-रेखा में प्रत्येक व्यक्ति को भारतीय परिवारों से अधिक स्वतंत्रता थी। साथ ही, उनके समाज में 'तर्क' की प्रधानता होने से वहाँ की स्त्रियों की बौद्धिक शिक्षा अपेक्षाकृत (भारतीय स्त्रियों से) अधिक होती थी। प्रत्येक विषय पर अपने ही विचार को सर्वोच्च तथा सर्वमान्य सिद्ध करने के लिए पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी प्रयत्नशील रहती थीं। इस प्रकार उन स्त्रियों को अपनी भाव-प्रकाशन-शैली, भाषा, आदि को परिमार्जित करने के अवसर अधिकाधिक मिलते थे। उनकी शिक्षा की रूप-रेखा भी वहाँ के पुरुषों की शिक्षा की भाँति अनुराग-प्रधान ही थी।

तत्कालीन पाठ्यक्रम की अन्तिम विशेषता परीक्षा सम्बन्धी थी। यों तो अभ्यास इतने प्रत्यक्ष तथा सक्रिय होते थे कि छात्रों की परीक्षा प्रतिदिन होती रहती थी, परन्तु पूर्व-निश्चित तथा सुव्यवस्थित परीक्षाएँ भी प्रायः हुआ करती थीं। उस समय परीक्षाओं का स्तर बहुत ऊँचा था। केवल उच्चकोटि के प्रमाण पत्र को ही प्राप्त करने के लिए परीक्षार्थी लालायित न थे, प्रत्युत उनकी प्रबल अभिलाषा रहती थी कि विषय-विशेष का विविध ज्ञान उन्हें विधिवत् हो जाय। अपनी-अपनी संस्कृतियों के अनुकूल उस समय लोगों के हृदय, विचार, व्यवहार, आदि में पूर्णतया सामञ्जस्य था। तत्कालीन लोग प्रायः वही सोचते थे जो वास्तव में उन्हें उचित तथा उपयोगी सूझता था और वही कहते थे जो पर्याप्त मनन के उपरान्त उन्हें वास्तव में उचित प्रतीत होता था। इस प्रकार मानव और दानव—दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में विचरते रहते थे। परीक्षा सम्बन्धी प्रमाण-पत्र को महत्त्व न मिलने से सभी वर्ग परीक्षा को भार-रूप न मानकर एक पुण्य-पर्व के रूप में लेता था।

'भक्ति-मूलक' भारतीय शिक्षा में परीक्षा की रूप-रेखा अत्यन्त व्यावहारिक, स्पष्ट तथा समस्या-हीन थी। बुद्धि और बल—दोनों को मापने के विभिन्न साधन प्रस्तुत थे। अपने-अपने विषयों में पारङ्गत होने के कारण गुरु ही परीक्षक होते थे। गुरु के निर्णयों में किसी प्रकार के सन्देह का स्थान न था। ईर्ष्या, निराशा, आत्मग्लानि, आत्महत्या, आदि, के स्थान पर उस समय उदारता, दृढ़तर प्रयत्न, आत्मचिन्तन, इन्द्रिय-शोधन, आदि की परम्परा थी। पूर्व-जन्म तथा पुनर्जन्म में आस्था होने से असफलता की परिभाषा तत्कालीन भारतवर्ष में आज से भिन्न थी। लोग अपने को असफल प्रयत्न न करने में समझते थे न कि 'फल न पाने में' परीक्षाओं में असफल हो जाने पर छात्र अपने प्रयत्नों को अधिकाधिक बढ़ाते जाते थे। गुरुकुलों के विस्तृत तथा विश्वविद्यालयों के स्थापित हो जाने पर पूर्वनिर्धारित परीक्षाओं की परम्परा अत्यन्त प्रचलित तथा व्यवस्थित हो गई थी।

तत्कालीन पाठ्य क्रम की सातवीं विशेषता शासन तथा व्यवस्था सम्बन्धी थी। 'ज्ञान-मूलक' शिक्षा के देशों में तत्कालीन सरकारें कभी-कभी शिक्षा के सङ्गठन में कुछ हेर-फेर अवश्य करती रहती थीं। फिर भी शिक्षकों और दार्शनिकों के मार्ग में कोई वैधानिक बाधा नहीं थी। अन्य कर्मचारियों की भाँति शिक्षकों के व्यवहार तथा अध्यापन को संचालित करने की कोई परम्परा न थी। विद्यालयों की व्यवस्था गुरु-गण प्रायः स्वयं ही करते थे। धन और वैभव को उन देशों में महत्त्व मिलने से गुरुओं का व्यावहारिक जीवन कुछ निम्न स्तर का अवश्य हो जाया करता था। परन्तु इसका आधार

नियंत्रण न होकर आदर्शों की भिन्नता थी। शिक्षा उन देशों में साध्य न होकर साधन मात्र थी। फलतः वहाँ की सरकारें समयानुसार अन्य साधनों के उपलब्ध होने पर 'शिक्षा' एवं 'शिक्षक' का सामयिक तिरस्कार कर दे सकती थीं। ऐसे अवसरों पर शिक्षकों का जीवन परोक्ष रूप से कंटका कीर्ण हो जाया करता था। परन्तु इतना निश्चय है कि अध्यापकों और अध्यापन पर कोई प्रत्यक्ष नियंत्रण नहीं था।

प्राचीन भारत के शिक्षक तो हर प्रकार से ऊँचे थे। उन पर किसी नियंत्रण का कोई स्वप्न भी न देख सकता था। भक्ति-मूलक सभी अभ्यास, साधना, शोधन, आदि गुरु-गण पर ही अवलम्बित थे। सामाजिक रूप-रेखा की विशेषताओं के फलस्वरूप धन, वैभव, आदि को तत्कालीन जीवन में कोई महत्त्व नहीं था। शिष्यों की शिक्षा-मात्र पर अवलम्बित गुरुगण समाज के लिए किसी प्रकार के दायित्व न थे। वे समाज को देते तो सब कुछ थे परन्तु लेते नहीं के बराबर थे। ऐसे त्यागियों पर कौन-सा और कितना नियंत्रण किया ही जा सकता था। तत्कालीन राजे-महाराजे उनके दर्शनमात्र के लिए लालायित रहते थे। उनके अध्यापन, अध्ययन, उपदेश आदि प्रत्येक प्रकार से स्वतंत्र थे। परन्तु स्मरण रहना चाहिए कि अपने कृत्यों पर सबसे बड़े नियंत्रण वे स्वयं ही थे। उनका जीवन इतना नियमित तथा नियंत्रित था कि उनकी सभी क्रियाएँ हर प्रकार से शुद्ध तथा पवित्र थीं।

[निष्कर्ष]

सिंहावलोकन—सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य भी जानवर ही; कुछ शारीरिक विशेषताएँ; जानवरों से मनुष्य का क्रमशः आगे बढ़ना; अन्य जानवरों की अपेक्षा मनुष्य का संगठित तथा सामूहिक जीवन व्यतीत करना; मानव सभ्यता के विकास में 'जल' का महत्त्व; संसार का प्राचीन इतिहास चार नदियों की घाटियों का इतिहास; सभी घाटियों की भिन्न-भिन्न संस्कृति, भौगोलिक विशेषताओं का संस्कृति पर प्रभाव; सिन्ध और गङ्गा की घाटी; गङ्गा जल की विशेषता; आरम्भिक आवश्यकताओं की सादगी तथा उनका सीमित होना; आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किसी अज्ञात सत्ता की आराधना; विभिन्न धर्मों की उत्पत्ति; आरम्भ में नेताओं द्वारा; नेताओं का अन्य योग्य व्यक्तियों को पूजा आदि सिखाना; यहीं से शिक्षा की उत्पत्ति; फलतः सभी घाटियों की शिक्षा की उत्पत्ति धर्माधारित।

संस्कृति और समाज—आवश्यकताओं में वृद्धि तथा उनका विस्तार; सिन्ध और गङ्गा की घाटी में जीवन अधिक सुखी तथा व्यवस्थित और अन्य घाटियों में अपेक्षाकृत कठिन, अन्य घाटियों में 'व्यक्ति-प्रधान' तथा सिन्ध-गङ्गा घाटी में (भारतवर्ष में) 'कर्म-प्रधान' संस्कृति का विकास; अन्य घाटियों में प्रस्तुत जीवन ही सब कुछ, परन्तु भारतवर्ष में 'पूर्वजन्म' तथा 'पुनर्जन्म' के सिद्धान्त; अन्य घाटियों में 'व्यक्तित्व' की प्रधानता होने से किसी वर्गीकरण का अभाव, परन्तु भारतवर्ष में 'कर्म-सुविधा' के लिए वर्गीकरण, स्त्रियों को सामाजिक दायित्व अत्यन्त सीमित, अन्य घाटियों में पारिवारिक रूप-रेखा सीमित परन्तु भारतवर्ष में अत्यन्त विस्तृत तथा व्यापक, अन्य घाटियों में धन-धान्य को अधिकाधिक महत्त्व परन्तु भारतीय परम्परा में नहीं, अन्य घाटियों की संस्कृति अनुराग-प्रधान परन्तु भारतीय संस्कृति त्याग-प्रधान।

शिक्षा की रूप-रेखा—अन्य देशों की शिक्षा 'ज्ञान-मूलक' तथा भारतवर्ष की 'भक्ति-मूलक'; ज्ञान-मूलक शिक्षा का उद्देश्य आत्मोत्कर्ष तथा व्यक्तित्व का अधिकाधिक विकास परन्तु भक्तिमूलक शिक्षा का उद्देश्य आत्मनियंत्रण और फिर आत्म-संस्कार; ज्ञानमूलक शिक्षा में गुरु साधन-मात्र फलतः कभी-कभी उनका तिरस्कार सम्भव परन्तु भक्तिमूलक शिक्षा में गुरु ही सब कुछ फलतः उनका स्थान सर्वोच्च।

तत्कालीन पाठ्य-कम की विशेषताएँ—प्रथम—देश, काल और पात्र के अनुसार होना; दूसरी—ज्ञानमूलक शिक्षा में 'तर्क' तथा भक्तिमूलक शिक्षा में 'साधना' की प्रधानता; तीसरी—समस्त शिक्षा-दीक्षा गुरुओं की रुचि तथा प्रवृत्ति के अनुकूल; चौथी—स्वास्थ्य, अनुशासन आदि के लिए अलग से व्यवस्था नहीं; पाँचवीं—स्त्रियों की शिक्षा आवश्यकतानुसार; छठीं—परीक्षाओं का सानन्द स्वागत; सातवीं—शिक्षा की रूप-रेखा प्रतिबन्ध-रहित।

अध्याय २

मध्यकालीन शिक्षाकी रूप-रेखा

<u>सिंहावलोकन</u>—शिक्षा की रूप-रेखा के दृष्टिकोण से मध्यकाल का आरम्भ ईसा की आठवीं-नवीं शताब्दी से माना जा सकता है। ऐसा मान लेने के लिए कोई ठोस अथवा वैज्ञानिक आधार नहीं है परन्तु कोई सीमा निर्धारित किये बिना यह समीक्षा उपयोगी तथा रुचिकर न हो पायेगी। उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर मध्यकाल का (शिक्षा के विचार से) प्रारम्भ आठवीं-नवीं शताब्दी से मान लेना सम्भवतः असङ्गत न होगा। उस समय तक संसार का इतिहास बहुत कुछ बन-बिगड़ चुका था। नदियों की घाटियों की ही सभ्यता नहीं, प्रत्युत यूनान की ज्ञान-गरिमा तथा रोम की साम्राज्य लिप्सा भी तिरोहित हो चुकी थीं। मानव-कारवाँ बहुत आगे बढ़ चुका था और ज्यों-ज्यों अपनी यात्रा में हम अग्रसर होते जाते थे त्यों-त्यों अपनी बुद्धि तथा अपने व्यक्तित्व पर हमारा विश्वास बढ़ता जाता था। अपनी पार्थिव तथा भौतिक योजनाओं में अपने को उत्तरोत्तर सफल पाकर हम फूले नहीं समाते थे।

प्राचीन काल में पग-पग पर हमें परमात्मा की पूजा करनी पड़ती थी। प्रत्येक धर्म में पूजा-विधि विधिवत् निर्धारित तथा प्रचलित थी। प्रायः दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी हम परमात्मा की पूजा कर लिया करते थे। पूजा के प्रसङ्ग में कई आसन, अभ्यास, आदि, ऐसे थे कि स्वास्थ्य पर उनका अच्छा प्रभाव पड़ता था। मध्य काल के बहुत पहले से ही मानव जाति की धार्मिक आस्था कुछ-कुछ अस्थिर होने लगी थी। भारतवर्ष का बौद्धधर्म भारतवर्ष तक ही सीमित न रह पाया था—इसका प्रचार समस्त दक्षिणी-पूर्वी एशिया में हो गया। परमात्मा सम्बन्धित विभिन्न व्याख्याओं को सुनने और जानने पर लोगों की धार्मिक दृढ़ता कुछ घटने सी लगी थी। महाराज हर्ष-वर्द्धन की उदारता थी कि वे प्रयाग में आकर कई धर्मों का समान आदर करते थे अन्यथा साधारण लोग तो धार्मिक द्वन्द्व में उलझते ही रहते थे। धर्म तथा

परमात्मा उनका पथ-प्रदर्शन प्राचीन काल की दृढ़ता, सूक्ष्मता और स्पष्टता के साथ न कर पाते थे।

प्राचीन काल की धार्मिक संस्थाओं में भी कई दोष आ गये थे। इन दोषों का नग्न-ताण्डव सर्व प्रथम मध्य और फिर सम्पूर्ण यूरोप में हुआ। वहाँ की संस्कृति व्यक्ति-प्रधान तथा शिक्षा ज्ञानमूलक थी ही। 'तर्क' की प्रधानता होने से वहाँ के उदार लोग धार्मिक कुचक्रों के प्रतिकूल उबल पड़े। 'पोप' की प्रभुता अपनी चरम सीमा को पहुँच चुकी थी। विधि-विधान की कुछ ऐसी विचित्रता है कि देश, काल और पात्र के अनुसार उपयोगी से उपयोगी सत्ता अथवा संस्था एक ऐसी सीमा पर पहुँच जाती है जहाँ पर न वह टिक सकती और न उससे आगे ही बढ़ सकती है। उसके ह्रासके कारण वाह्य और आन्तरिक दोनों ही होते हैं। ठीक यही दशा पोप तथा उनकी संस्थाओं की हुई। अपने प्राचीन वैभव के आवेश में 'पोप' ने अपनी त्रुटियों की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। परिस्थितियाँ इतनी बिगड़ती गईं कि एक वह समय आ गया जब यूरोप के कई सम्राटों ने अपने को 'परमात्मा का प्रतिनिधि' घोषित कर दिया और इनके फलस्वरूप पोप की सत्ता गौणातिगौण होती गई।

मध्य-एशिया में 'इस्लाम' धर्म का प्रभुत्त्व विधिवत् स्थापित हो चुका था। यद्यपि यह धर्म नया था परन्तु इसके अन्तर्गत राजनीति तथा एक दलबन्दियों का ऐसा विषाक्त सम्मिश्रण हो गया था कि उसके अनुयायी वास्तविकता का बहुत कम ध्यान रखते थे। 'धर्म' का उद्देश्य है अनुयायियों को सुख और शान्ति पहुँचाना। परन्तु वातावरण इतना क्षुब्ध था कि जीवन संघर्षमय होता जा रहा था। इसमें सन्देह नहीं कि इस्लाम के सिद्धान्त तथा धर्मोपदेशक अत्यन्त उच्चकोटि के थे; खलीफोंका व्यक्तिगत चरित्र अत्यन्त महान तथा त्यागपूर्ण था। परन्तु साधारण जनता धर्म की पवित्रता से प्रभावित न थी। धर्म का वाह्य रूप अर्थात् कर्म-काण्ड तो हर प्रकार से प्रचलित था परन्तु उसका आन्तरिक अथवा वास्तविक रूप अर्थात् आत्मशोधन, आत्म चिन्तन, आदि तिरस्कृत से थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि वहाँ भी वास्तविक धर्म को यथोचित स्थान किसी प्रकार भी नहीं मिल रहा था।

'कर्मकाण्ड' का प्रचार भी सम्भवतः इसी लिए अधिकाधिक हो रहा था कि इसकी आड़ में राजनीतिक कुचक्रों के अवसर सुविधापूर्वक प्राप्त होते रहते थे। इतिहास साक्षी है कि लगभग प्रत्येक मुसलमान शासक अपने प्रस्तुत राज्य को सुव्यवस्थित करने का उतना प्रयत्न नहीं करता था जितना कि उसके

विस्तार अथवा धर्म-प्रचार का। धर्म प्रचार करने में उसे अन्य देशों तथा राज्यों पर आक्रमण करने का ईश्वरीय ठेका मिल जाता था। उन आक्रमणों के फलस्वरूप चाहे जितने प्रकार के पापाचार हो जायँ—'वे सब खुदा की राह पर' बताए जाते थे। परन्तु स्मरण रहना चाहिए कि एशिया सर्वदा से धर्म-प्रधान महाद्वीप रहा है। मुसलमान शासक परोक्ष में ही धर्म को वास्तविकता से कुछ दूर रख सकते थे। प्रत्यक्ष तिरस्कार करने का वे स्वप्न भी नहीं देख सकते थे। धर्म और धार्मिक सिद्धान्तों में उनकी व्यक्तिगत रुचि भी पर्याप्त थी। वे अपने को 'परमात्मा का प्रतिनिधि' कदापि घोषित नहीं कर सकते थे।

मध्यकाल में जितने नवीन साम्राज्य बने उनकी उन्नति शीघ्रता से होने लगी। प्राचीन राज्यों के अनुभवों से उन्हें अनेक सुविधाएँ मिलीं। जिन-जिन बातों को प्राचीन साम्राज्यों के ह्रास का कारण माना गया, उनका तिरस्कार तथा बहिष्कार नवीन साम्राज्य आरम्भ से ही करते गये। प्राचीन सभ्यता तथा समाज का मूल आधार 'धर्म' था। परन्तु मध्यकाल में इससे लोग उत्तरोत्तर उदासीन से होते जा रहे थे। घटनाएँ कुछ ऐसी घटती गई कि इन 'पार्थिव परमात्माओं' (सम्राटों) की प्रभुता और सफलता से लोग शीघ्रता से प्रभावित होते और उनकी ओर खिंचते गये। पूर्वी देशों के साथ व्यापार करने के लिए कुस्तुनतुनिया का मार्ग यूरोप वालों के लिए जब बन्द हो गया तो यूरोपियन लोग अपने व्यापार, आदि के लिए नये मार्गों की खोज में पश्चिम की ओर निकल पड़े। कोई घूमते-घूमते भारतवर्ष आया तो किसी ने भटकते-भटकते नवीन दुनियाँ (अमेरीका) ढूँढ़ निकाली। बहुतों के व्यापार, उद्योग, आदि कई गुने बढ़ गये। इस चहल-पहल की चकाचौंध में लोग प्राचीन काल के 'अमूर्त परमात्मा' के स्थान पर मध्यकाल के प्रत्यक्ष तथा 'मूर्तपरमात्मा' को अधिक उपयोगी तथा सुलभ पाने लगे।

भारतवर्ष की गाथा विचित्र है। आठवीं शताब्दी के आरम्भ में ही मुसलमानों के आक्रमण इस देश पर होने लगे। पर आरम्भ के आक्रमण तथा आक्रमणकारी आँधी और तूफान की भाँति आते थे और कुछ नष्ट-भ्रष्ट कर के लौट जाते थे। दसवीं शताब्दी के अन्त में और ग्यारहवीं के आरम्भ में महमूद गजनवी के लगभग सत्रह आक्रमण हुए। उसके आक्रमणों का भारतीय संस्कृति तथा धर्म पर कुछ प्रभाव पड़ा। कहा जाता है कि सोमनाथ की विशाल मूर्ति को जब महमूद तोड़ने चला तो पुजारियों ने प्रचुर सम्पत्ति के दान द्वारा उसे सन्तुष्ट करने का निवेदन किया। जब उसने

कुछ भी नहीं सुना तो पुजारियों ने घोषित किया कि मूर्त्ति सर्वशक्ति मान है उसको तोड़ने वाला स्वयं भस्म हो जायगा। परन्तु पुजारियों की ग्लानि और निराश की सीमा न रही जब उनके देखते-देखते मूर्त्ति चूर-चूर हो गई और महमूद का बाल भी बाँका न हुआ। इस देश में लोगों के मन में धर्म के प्रति सन्देह की भावना सम्भवतः यहीं से अंकुरित हुई होगी।

यूट्रेक्ट की सन्धि के बहुत पहले ही से यूरोप के तत्कालीन राष्ट्रों में इंगलैंड शनैः शनैः आगे बढ़ रहा था। जिस प्रकार प्राचीनकाल में भौगोलिक विशेषताओं से नदियों की घाटियों का विकास हुआ था उसी प्रकार मध्यकाल के उत्तरार्द्ध में अपनी भौगोलिक विशेषताओं के ही कारण इंगलैंड अग्रसर होने लगा। कुछ समय तक फ्राँस, स्पेन, पुर्तगाल, हालैण्ड, आदि उससे भिड़ते रहे—पर धीरे-धीरे उन्हें उसका अनुगामी होना पड़ा। मध्यकाल के अन्तिम चरण में यूरोप में दो ऐसी महान क्रान्तियाँ हुई जिनका प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रभाव समस्त संसार पर पड़ा—एक व्यावसायिक क्रान्ति और दूसरी फ्राँसीसी क्रान्ति। जिन आदर्शों तथा सिद्धान्तों पर ये क्रान्तियाँ आधारित थीं उनका बीजारोपण बहुत पहले से हो रहा था। कुछ मशीनों के आविष्कार हो चुके थे और ज्यों-ज्यों इस ओर हमें सफलता मिलती गई त्यों-त्यों हमारी दृष्टि आत्मा और परमात्मा दोनों ही से फिरती गई।

मशीन-युग के पूर्व आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए मनुष्यों को एक दूसरे की सहायता करनी पड़ती थी। जिन कामों को पूरा करने के लिए मनुष्य एक ओर स्वयं सावधान, सतर्क तथा दृढ़ और दूसरी ओर पड़ोसियों, सम्बन्धियों, आदि को मिलाए रहता था, उनको मशीनों द्वारा वह कम ही समय में अल्प शक्ति से पूरा कर लेने लगा। हाँ, मशीनों को खरीदने के लिए धन की आवश्यकता अवश्य पड़ती थी। यूरोप की व्यक्ति-प्रधान संस्कृति में धन-धान्य, वैभव, आदि का विशेष महत्व पहले से ही रहा परन्तु इस मशीन युग में और बढ़ गया। वर्त्तमान युग के अधिकाधिक आर्थिक दृष्टिकोण का श्रीगणेश सम्भवतः इन्हीं परिस्थितियों में हुआ। प्राचीन काल में जो प्रयत्न, उपाय, अभ्यास, आदि हमें धर्म तथा व्यक्तित्व की रक्षा के लिए करने पड़ते थे उन्हें अब मशीनों की रक्षा में करने पड़े। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि पहले मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए मनुष्य के सम्पर्क में आना पड़ता था और अब मशीनों के।

'रामचरित मानस' में गोस्वामी तुलसीदास जी ने भरत जी को सान्त्वना दिलवाते हुए भरद्वाज जी से कहलाया है:—

सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कह्यो मुनि नाथ।
हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश, विधि-हाथ॥

नई रोशनी के लोग तथा पाश्चात्य विद्वान सम्भवतः इस उक्ति से अधिक सहमत न हों, पर इसे मानने में संकोच नहीं होना चाहिए कि मनुष्य परिस्थितियों के बनाये बनता है, और इन्हीं के बिगाड़े, बिगड़ता है। प्रेम, श्रद्धा, माया, आदि के वशीभूत होकर व्यक्ति-विशेष को कार्य-विशेष के सुसम्पादन का श्रेय दे दिया जाता है। होता यह है कि कर्मठ व्यक्ति साहस तथा धैर्य के साथ परिस्थितियों का सामना करते जाते हैं और अपनी हार को भी उसी भाव से स्वीकार करते हैं जिससे कि जीत। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि हार में, यदि उनका भौतिक अस्तित्व नष्ट हो जाता है तो परोक्ष में और अन्यथा प्रत्यक्ष रूप से, अपने पथ से च्युत नहीं होते। लुढ़क कर गिर तो जाते हैं परन्तु हाथ-पैर सँभाल कर खड़े हो जाते हैं और फिर आगे बढ़ते हैं। मध्यकाल के उत्तरार्द्ध में, यदि ध्यान से देखा जाय तो, इंगलैंड के सम्बन्ध में यही सिद्धान्त अक्षरशः चरितार्थ हुआ है।

व्यवसाय, व्यापार, राजनीति, शिक्षा, धर्म, समाज, आदि सभी से सम्बन्ध रखनेवाली ऐसी-ऐसी घटनाएँ घटती गईं जिनके फलस्वरूप मध्यकाल के अन्तिम चरण तक इङ्गलैण्ड, यूरोप के अन्य राष्ट्रों से बहुत आगे बढ़ गया। प्रकृति और परमात्मा दोनों की उसपर ऐसी कृपा रही कि उसके प्रत्येक कार्य उपयोगी ही सिद्ध होते गये। पर स्मरण रहना चाहिए कि आवश्यकता पड़ने पर अपने राष्ट्र के निर्माण के निमित्त वह बड़ा से बड़ा बलिदान भी करने से पीछे न हटा, चाहे उसे अपने सम्राट को ही प्राण-दण्ड क्यों न देना पड़ा हो—चाहे समय विशेष के सर्वप्रिय तथा विख्यात नेता की हड्डियों को कब्र से भी क्यों न निकालनी पड़ी हो। सद्बुद्धि तथा सद्भावना की उस देश में ऐसी लहर बहने लगी थी कि वहाँ के प्रत्येक नागरिक के उचित मार्ग तथा कर्त्तव्य उसे स्पष्ट थे। यहाँ तक कि प्राण-दण्ड पाने वाले उस सम्राट ने भी दण्ड भोगते समय गरम कोट इस लिए पहन लिया था कि ठण्ड से काँपते हुए उसके शरीर को लोक मृत्यु-भय से काँपता हुआ न समझ लें। ऐसे उदाहरण उस देश में अनेक मिल सकते हैं।

जहाँ तक भारतवर्ष का सम्बन्ध है, परिस्थितियाँ अत्यन्त दयनीय हो चुकी थीं। ऊपर संकेत हो चुका है कि मध्यकाल के आरम्भ से ही यह भूमि आक्रमणकारियों की क्रीड़ा-स्थली हो गई थी। बाबर से पूर्व जितने लोग आये उन

सबका उद्देश्य प्रधानतः लूट-खसोट रहा। गुलाम वंश, खिलजी वंश, तुगलक वंश, आदि के साम्राज्य बने अवश्य पर वे किसी पूर्व-निश्चित योजना के अनुसार निर्मित नहीं हुए थे। अन्यथा, मुसलमानी साम्राज्य का श्रीगणेश गुलामवंश से न होता। वे आक्रमणकारी आते तो थे धर्म-प्रचार के उद्देश्य से परन्तु इस कार्य के लिए भी उनके पास कोई निर्धारित योजना न थी। फलतः धर्म-प्रचार बहुत ही कम और लूट-खसोट अधिकाधिक होता था। मूर्त्तियों और मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट कर देना धर्म-प्रचार कदापि नहीं कहा जा सकता। बाबर ही प्रथम आक्रमणकारी था जिसने राज्य करने के विचार से भारतवर्ष पर चढ़ाई की थी। अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी बाबर अपने उद्देष्य में सफल हुआ और इस देश में मुगल राज्य की स्थापना हो गई। बाबर की चढ़ाई में देश की आर्थिक क्षति विशेष नहीं हुई।

प्राचीनकाल में 'धर्म' अन्य देशों का आधार-मात्र परन्तु भारतवर्ष का प्राण रहा। फिर भी लगातार धक्का खाते-खाते इस धर्म-भूमि में भी धर्म-शंकित दृष्टि देखा जाने लगा। मनुष्य के स्वभाव की कुछ ऐसी विचित्रता है कि आपत्ति के समय अपनी अच्छाइओं को भी वह बुराइयाँ ही मान लेने के लिए अपने को विवश पाता है। इस दुर्बलता से ऊपर उठने वाले लोग संसार में इने-गिने हैं। ठीक यही दशा तत्कालीन भारतवासियों की अपनी संस्कृति की अमूल्य विशेषताओं के सम्बन्ध में रही। अकबर के स्वर्ण-युग में भारतवासियों में धैर्य तथा आत्म-विश्वास का सञ्चार अवश्य हुआ परन्तु उसका उपयोग विभिन्न 'पन्थों' के निर्माण में हुआ। गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'रामचरित-मानस' में लिखा है—

> श्रुति सम्मति हरि भक्ति पथ, संजुत विरति विवेक।
> तेहिं न चलहिं नर मोह वश, कल्पहिं पन्थ अनेक॥

छिन्न-भिन्न समाज को व्यवस्थित करने के प्रयत्न न हो सके। 'रामचरित-मानस' की रचना अवश्य हुई परन्तु इस अमर ग्रन्थ का उतना आदर उस समय नहीं हो सका जितना कि आज है।

बाबर से लेकर औरंगजेब तक जितने मुगल सम्राट हुए—उन सबका उद्देश्य यहाँ से कुछ लेकर भागना नहीं था। अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार वे सब यही प्रयत्न कर रहे थे कि इस देश को यथा-सम्भव इस्लाम के आदर्शों से विधिवत् सजाया जाय। आलमगीर ने भी मन्दिरों को खोदवा कर प्रायः फेंक न दिये, प्रत्युत उनके ऊपर मस्जिदें चुनवाई। अकबर की नीति उदार

तथा रचनात्मक थी, वह इस्लाम के सभी सिद्धान्तों को सम्पूर्ण देश पर लादने का स्वप्न न देखता था। उसने 'दीनइलाही' का निर्माण किया और सबके साथ अधिकाधिक सहिष्णुता का व्यवहार करने के लिए प्रयत्नशील रहा। यही कारण है कि बहुत से मुसलमान उसे इस्लाम का सच्चा सेवक नहीं मानते थे। इतिहासकारों ने ठीक ही कहा है कि यदि अकबर की नीति फूलती-फलती रहती और बीच में औरंगजेब न आता तो निश्चय था कि भारतवर्ष की संस्कृति तो नहीं परन्तु इतिहास आज हम किसी और रूप में पाते।

इस्लाम के इस रूप को निर्धारित हुए तथा इसके अनुरूप संस्कृति को विकसित हुए अधिक दिन नहीं हुए थे। उनके आदर्श 'देश, काल और पात्र' की कसौटी पर कसे नहीं जा सके थे। अरबी वातावरण तथा आवश्यकताओं के अनुकूल होने के कारण उसके कई सिद्धान्त तत्कालीन भारतवर्ष में खप नहीं पा रहे थे। इस्लाम में उत्तराधिकार के नियम सम्भवतः स्पष्ट नहीं हैं—हो सकता है कि अरबी वातावरण के लिए ऐसा ही उपयोगी हो परन्तु भारतवर्ष में आने पर उन नियमों के अनुसार व्यवहार करने से भारतवासियों की दृष्टि में वे लोग और भी खटकने लगे। अलाउद्दीन द्वारा अपने अत्यन्त उदार चचा की हत्या, औरंगजेब का अपने वृद्ध पिता को बन्दी गृह में डाल देना, दाराशिकोह ऐसे उदार भाई को मौत के घाट उतारना, आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। इन सम्राटों की कृतियों का सिंहावलोकन करने पर निष्पक्ष से निष्पक्ष व्यक्ति को भी हताश होना पड़ता है। अलाउद्दीन अपनी कुशाग्रबुद्धि तथा सर्वतोमुखी प्रतिभा के लिए विश्वविख्यात है। पर उसकी प्रतिभा का उपयोग वासना-तृप्ति के निमित्त विभिन्न तथा विविध आडम्बरों के सृजन में होता था। शासन-कुशलता, आर्थिक सामञ्जस्य, सेना-संगठन, आदि के लिए वह विख्यात है, पर इनमें तो उसकी प्रतिभा का सम्भवतः शतांश भी न लगा होगा।

औरंगजेब का व्यक्तिगत चरित्र बहुत ही सादा, ऊँचा तथा पवित्र था परन्तु उसके सार्वजनिक व्यवहार के सम्बन्ध में जितना ही कम कहा है और सोचा जाय उतना ही अच्छा। आलमगीर के साथ इतिहासकारों ने भी कुछ अन्याय किया है। वास्तव मे वह हिन्दुओं के साथ जान-बूझकर अन्याय नहीं करता था। चाहे हिन्दू हों अथवा मुसलमान, जो भी उसके सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं चलते थे, उनके वह प्रतिकूल हो जाता था। कहा जाता है कि शिवा जी के पौत्र साहू के ऊपर आलमगीर की विशेष कृपा थी। साहू

का पाणिग्रहण उसने शुद्ध भारतीय परम्परा के अनुसार कराया और स्वयं विवाह-मण्डप से दूर बैठा था। अपने स्वभाव से विवश, वह किसी भी व्यक्ति का पूर्ण विश्वास नहीं करता था। प्रत्येक युद्ध में वह प्रायः दो अधिकारी—एक हिन्दू और एक मुसलमान नियुक्त करता था। किन्तु मिर्जा जयसिंह को दायित्वपूर्ण कार्य भी वह अकेले सौंप देता था, यद्यपि वे हिन्दू थे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि किसी व्यक्ति, जाति, सम्प्रदाय, आदि का तिरस्कार आलमगीर जान-बूझकर नहीं करता था। उसकी जीवनी का विधिवत् अध्ययन परमावश्यक है।

मध्यकालीन आदर्श—उपर्युक्त परिस्थितियों के आधार पर तत्कालीन आदर्शों का समझना बहुत कठिन नहीं। यूरोप में 'व्यक्ति-प्रधान' संस्कृति प्रफुल्लित हो रही थी। विभिन्न धार्मिक, राजनीतिक व्यावसायिक, औद्योगिक, आदि परिवर्त्तनों तथा क्रान्तियों के फल स्वरूप 'व्यक्तित्व' का महत्त्व बढ़ता ही गया। समय-चक्र यूरोप में अत्यन्त तीव्रता से घूम रहा था, लगभग सभी राष्ट्र उस प्रवाह में अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार बढ़ते जा रहे थे। पाश्चात्य संस्कृति में प्राचीन काल से ही 'इह लोक' की प्रधानता स्थापित तथा व्यवस्थित हो गई थी। मध्यकाल में भी यही प्रवृत्ति विविध रूप से विस्तृत तथा सुसंस्कृत हो रही थी। व्यापारिक अनुसन्धानों के प्रसङ्ग में यूरोप के कई राष्ट्र एशिया, अफ्रीका, अमेरिका, आदि महाद्वीपों के सम्पर्क में आये। इनमें इंगलैंड, फ्रांस, पुर्त्तगाल, हालैण्ड, आदि मुख्य थे। विभिन्न देशों और संस्कृतियों के सम्पर्क में आने से यूरोप की मौलिक प्रवृत्तियों में तो परिवर्त्तन का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता था परन्तु उसकी व्यावहारिक उपयोगिता पर्याप्त विस्तृत होती गई। साथ ही, इस परिस्थिति का उपयोग यूरोप के सभी राष्ट्र समान रूप से न कर सकते थे और न उन्होंने किया। विदेशी संस्कृतियों के सम्पर्क का समुचित उपयोग इंगलैंड ही ने विधिवत् किया।

मध्यकालीन भारतवर्ष के आदर्शों का निर्धारण सरल नहीं। आदर्शों में परिवर्तन मस्तिष्क तथा हृदय-विजय से हो पाता है न कि शरीर-विजय से। इसमें सन्देह नहीं कि अनेक प्रसङ्गों में शरीर-विजय पर्याप्त रूप से मस्तिष्क-विजय का प्रथम सोपान होता है। यदि किसी उपाय से शरीर विशेष विधिवत् वश में हो जाय तो उसका मस्तिष्क भी शनैः-शनैः हाथ में आ जाता है। मस्तिष्क-विजय डर, प्रलोभन, प्रपञ्च, आदि से सम्भव नहीं। इसके आधार रुचि-तुष्टि, आदर्श-साम्य, आदि हैं। मध्यकालीन भारतवर्ष की शारीरिक हार तो हो गई थी परन्तु उसकी मानसिक पराजय के उपकरण

प्रस्तुत न थे। विवश होकर लोगों ने इस्लाम को भी स्वीकार कर लिया परन्तु वह धर्म-परिवर्त्तन बहुत अंशों में वाह्य रह गया और कुछ अंशों में आज भी है। इस्लाम-प्रचारक सम्राटों ने तलवार के बल से प्रचार तो कर लिया परन्तु उस प्रचार को वास्तविक तथा पूर्ण बनाने के लिए न तो उनके पास कोई योजना थी और न उन्हें समय ही मिल सका। इस्लाम का वास्तविक प्रचार केवल कुछ ऊँचे-ऊँचे हिन्दू-परिवारों तक ही सीमित रहा। फलतः अनेक भारतीय आदर्शों का पालन अधिकांश नव-परिवर्तित-मुसलमान परिवारों में भी होता रहा।

शरीर फँस जाने पर यदि मस्तिष्क अधिक काल तक सन्तुष्ट नहीं हो पाता तो भी परिस्थिति अत्यन्त भयावह हो जाती है। जीवन के प्रिय तथा परिचित उपकरण तो उपलब्ध नहीं होते और प्राप्त सुविधाओं में अपनी रुचि नहीं होती। फलतः व्यवस्थित तथा कलापूर्ण जीवन का अन्त सा हो जाता है। ऐसी दयनीय परिस्थिति में यही नहीं कि परम्परागत उच्च आदर्शों के अनुरूप नवीन आदर्शों का विकास अवरुद्ध हो जाता है प्रत्युत प्रस्तुत आदर्श भी क्रमशः धुँधले पड़ने लगते हैं और कभी-कभी भूल से जाते हैं। मध्य-कालीन भारतवर्ष की कुछ ऐसी ही कठिनाइयाँ थीं। अभारतीय आदर्शों का भारतीय आदर्शों पर प्रभुत्व तो व्यवस्थित नहीं हो पाया था परन्तु उनका पालन और प्रतिपादन भी अत्यन्त कठिन हो गया था। साथ ही इस्लाम की सादगी, सरलता तथा व्यावहारिकता को देखकर अनेक ऐसे भारतवासी, जिन्हें त्याग-प्रधान भारतीय रूप-रेखा का पालन कठिन प्रतीत होने लगा था, उद्विग्न से रहने लगे। स्मरण रहना चाहिए कि ऐसे लोग किसी भी (संसार की सरल से सरल) संस्कृति में खप नहीं सकते। इस प्रकार भारतीय आदर्श जीवित तो हर प्रकार से थे परन्तु उनकी पथ-प्रदर्शन-क्षमता अधिकाधिक संकुचित होती जा रही थी।

प्राचीन काल की प्रथम भारतीय विशेषता 'कर्म-प्रधान' रूप-रेखा है। मध्यकालीन इतिहास की रचना में पाश्चात्य विद्वानों का पर्याप्त योग है। उन लोगों ने इस दृष्टिकोण से समीक्षा नहीं की है; सम्भवतः वे कर भी नहीं सकते थे। भारतीय सम्राटों, सेनाओं, योद्धाओं, आदि, की अद्भुत वीरता का वर्णन करके वे लोग चकित अवश्य हुए हैं परन्तु ऐसी वीरता को प्रेरित करने वाली प्रवृत्तियों को समझ नहीं सके। मध्यकालीन शासकों की विभिन्न विचारावली को पारस्परिक फूट मान कर वे हँसे अवश्य हैं परन्तु उपर्युक्त 'अद्भुत वीरता' तथा इस 'पारस्परिक फूट'

की विषमता पर विचार करने का प्रयत्न उन्होंने नहीं किया। खेद है कि प्रस्तुत भारतीय विद्वान भी उसी मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं—अन्तर केवल इतना ही है कि ये लोग कुछ और मनगढ़न्त विशेषताएँ गिना रहे हैं। यदि ध्यानसे देखा जाय तो 'कर्म' की प्रधानता किसी न किसी रूप में और किसी न किसी अंश तक मध्यकाल के अन्त तक रही। अभारतीय संस्कृति के संघर्ष में आ जाने से 'कर्म' की व्याख्या और परिभाषा में अन्तर पर्याप्त पड़ गया था परन्तु 'कर्म' का तिरस्कार नहीं हुआ था।

मुसलमान शासकों का अधिक प्रभाव नगरों तक ही सीमित रहा। ग्रामीण जीवन के तारतम्य को सैद्धान्तिक क्षति नहीं के बराबर पहुँच सकी थी। गाँवों के मुसलमानों का रहन-सहन, राग-रङ्ग, आदि, बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक लगभग वैसा ही रहा जैसा कि मुसलमान होने के पूर्व था। साधारण जनता के समस्त कार्य-कलाप 'कर्म' को ही प्रधानता देते हुए सम्पादित होते थे। साथ ही, इस्लाम में भी सचाई, सादगी, कर्त्तव्य-परायणता आदि, को अधिकाधिक महत्त्व है। तत्कालीन भारतीयों को इस्लाम से धक्का तभी पहुँचता था जब कि धर्म की आड़ में राजनीतिक कुचक्र रचे जाते थे। परन्तु इस्लाम के 'फ़र्ज' और भारतीय 'कर्म' में पर्याप्त अन्तर है। 'फ़र्ज' बहुत अंशों में पाश्चात्य 'ड्यूटी' से मिलता-जुलता है। विचार करने पर इनका अन्तर झलकता तो अवश्य है परन्तु उसको स्पष्ट करना सरल नहीं। 'फ़र्ज' और 'ड्यूटी' का सम्पादन प्रायः व्यक्तित्व की रक्षा के लिए होता है परन्तु 'कर्म' के सम्पादन में व्यक्तित्व का बलिदान भी हो जा सकता था। कुछ भी हो 'कर्म' को मध्यकालीन भारतवर्ष में पर्याप्त महत्त्व दिया जा रहा था।

प्राचीन काल की दूसरी भारतीय विशेषता 'पूर्व-जन्म' तथा 'पुनर्जन्म' सम्बन्धी है। पिछले अध्याय में यह स्पष्ट किया गया है कि यह सिद्धान्त 'कर्म' की ही सुविधा के लिए निर्धारित तथा विकसित हुआ है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि जिस अनुपात से मध्यकाल में 'कर्म' की प्रधानता रही होगी उसी से 'पूर्व-जन्म' तथा 'पुनर्जन्म' में भी लोगों का विश्वास रहा। 'जौहर-व्रत' की प्रशंसा प्रसङ्गवश पाश्चात्य विद्वानों ने भी की है। परन्तु उनकी दृष्टि में यह हर प्रकार से उचित नहीं जँचता। भारतीय परम्परा में इसके आधार असफलता, निराशा, ग्लानि, आदि कदापि नहीं हैं। योद्धाओं के वीरगति प्राप्त कर लेने पर भारतीय ललनाएँ हँसते-हँसते अग्नि की गोदी में इसलिए प्रवेश कर जाती थीं कि 'पुनर्जन्म' के सिद्धान्त पर अपने-अपने पतियों से वे स्वर्ग में सानन्द मिल लेंगी। 'पुनर्जन्म' 'स्वर्गारोहण' आदि, होते हों अथवा न होते

हों परन्तु इतना तो निश्चय है कि युद्धस्थल में पति तथा महलों में पत्नियाँ निश्चिन्तरूप से अपने दायित्वों का पालन कर लेती थीं। संक्षेप में मध्यकाल में इस सिद्धान्त का पर्याप्त आदर था।

सांस्कृतिक तथा विभिन्न संघर्षों के फलस्वरूप सर्वसाधारण का जीवन भी अव्यवस्थित तथा कण्टकाकीर्ण हो गया था। ऐसी परिस्थिति में निर्धारित कर्मों से च्युत हो जाना असम्भव नहीं। ऐसे व्यक्तियों का 'पूर्व-पुनर्जन्म' में विश्वास सिद्धान्तः तो—नहीं हो सकता था परन्तु इसका मौखिक पाठ करके, अकर्मण्यता-जनित ग्लानि और अवसाद से तो, अपनी रक्षा की ही जा सकती थी। फलतः 'कर्म' का ह्रास होते हुए भी इस सिद्धान्त का अनुचित प्रचार मध्यकाल में अधिक होता रहा होगा। आदर्श-च्युत् ऊँचे वर्ग के लोग इन सिद्धान्तों का सार-हीन प्रतिपादन तथा उनकी मनगढ़न्त व्याख्या करके यथा-कथित निम्न वर्ग के लोगों को कृत्रिम आशा बँधाते रहे होंगे। प्राचीन काल की ही भाँति मध्यकाल में भी साधारण जनता का उल्लेख नहीं के बराबर मिलता है। तत्कालीन सन्त-साहित्य की समीक्षा करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि इस सिद्धान्त की चर्चा पर्याप्त थी परन्तु इसके वास्तविक उद्देश्य लगभग अस्त-व्यस्त हो गये थे।

प्राचीन काल की तीसरी भारतीय विशेषता 'वर्ग-भेद' अर्थात् 'जाति-पाँति' सम्बन्धी है। मध्य काल में भी इसका पर्याप्त प्रचार रहा परन्तु उद्देश्य में ह्रास हो गया था। 'जाति-पाँति' की परम्परा को प्रथम धक्का बौद्ध-जैन धर्मों से ही मिल चुका था। मुसलमानों के भाई-चारे से यथा-कथित निम्नवर्ग के लोग और भी क्षुब्ध हो रहे थे। परन्तु स्मरण रहना चाहिए कि इस 'वर्ग-भेद' का आधार द्वेष, शत्रुता, कपटाचार, आदि न थे। इसका विकास कर्मों के सुसम्पादन के निमित्त हुआ था। इसे किसी व्यक्ति या वर्ग को दुखी अथवा अपमानित करने के विचार से तैयार किया गया कुचक्र अथवा अस्त्र-शस्त्र न मानकर किसी अत्यन्त उपयोगी तथा सुदृढ़ शृङ्खला की कड़ी मानना चाहिए। शृंखला को समझने का प्रयत्न न करके इस वर्ग-भेद की तीव्र आलोचना लोग करने लगते हैं। पाश्चात्य विद्वान तो सम्भवतः इसे भाँप भी नहीं सकते थे परन्तु भारतीय विद्वानों का यह परम पुनीत दायित्व और कर्तव्य है कि ऐसे प्रसङ्गों पर एकाग्र चित्त से विचार करें। इसका यह उद्देश्य नहीं है कि इसे पुनर्जीवित किया जाय परन्तु इसकी उपयोगिता यथासम्भव अपनाना ही चाहिए।

मध्यकालीन वर्ग-भेद की सबसे बड़ी कमी यह थी कि इसका आधार 'कर्म' के बजाय जन्म हो गया। फलतः सामाजिक व्यवस्था तथा विकास

कुण्ठित से हो गये। तुलसीकृत 'रामचरित मानस' में कई प्रसङ्ग आये हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि विभिन्न वर्गों में संघर्ष की भावना प्रज्वलित थी। विभिन्न वर्गों की आन्तरिक व्यवस्था लगभग ठोस थी। यथाकथित निम्नवर्ग के लोग अधिक सङ्गठित थे। विभिन्न जातियों के गाँव-गाँव में 'चौधरी' होते थे। प्रायः कई गाँवों में रहनेवाले एक जाति के लोग एक ही 'चौधरी' के पथ-प्रदर्शन में कार्य करते थे। चौधरियों के निर्णय प्रायः सच्चे, पवित्र तथा सर्वमान्य होते थे। सामाजिक आदर्शों का पालन कड़ाई से होता था। ब्राह्मण और क्षत्रियों की व्यवस्था अधिक अस्त-व्यस्त हो चुकी थी। इन्हीं लोगों को ऊँचे-ऊँचे कार्य प्राचीन काल में करने पड़ते थे। विदेशी सत्ता का धक्का इन्हीं लोगों को अधिक पहुँचा। वैश्यों और शूद्रों को तो विदेशी संस्कृति से ऊँचे उठने की प्रेरणा मिल सकती थी; परन्तु ऐसा हो न सका। यही भारतीय संस्कृति की विशेषता है जो उपर्युक्त 'शृङ्खला' सम्बन्धी उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि किसी-न-किसी रूप में मध्यकालीन भारतवर्ष में वर्ग-भेद विधिवत् प्रचलित रहा यद्यपि इसके आदर्शों में परिवर्त्तन हो गया था।

प्राचीनकाल की चौथी भारतीय विशेषता सामूहिक परिवार सम्बन्धी है। मध्यकाल में भी इसमें हेर-फेर के लिए कोई विशेष कारण नहीं था। शासकों की पारिवारिक व्यवस्था में कोई भी ऐसी अनोखी अथवा विचित्र परम्परा न थी जिससे भारतीय पारिवारिक व्यवस्था को धक्का पहुँचता। कृषि-प्रधान देश में परिवारों की रूप-रेखा स्वतः विस्तृत होती जाती है। इसमें सहयोग के विना काम कदापि नहीं चल सकता। यह भी तो उसी शृङ्खला की ही कड़ी थी। शासकों के उत्तराधिकार-संघर्षों से स्नेह, सम्बन्ध, आदि की वास्तविकता पर लोगों को कभी-कभी सन्देह अवश्य होता रहा होगा। यूरोप-निवासियों के प्रभुत्व स्थापित हो जाने तक ही नहीं प्रत्युत उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक अधिकांश भारतीय परिवारों की रूप-रेखा अधिकाधिक विस्तृत थी और कतिपय प्रसङ्गों में तो आज भी है। परन्तु मध्यकाल में इन परिवारों की व्यवस्था में त्याग परोपकार, सहिष्णुता, आदि की मात्रा घट गई थी। किसी कठिनाई के होते ही लोग अलग हो जाते थे और कभी-कभी तो धर्म-परिवर्तन भी कर देते थे।

प्राचीनकाल की पाँचवीं भारतीय मौलिकता अथवा विशेषता 'धन' सम्बन्धी है। प्राचीन भारतवर्ष में धन केवल साधन मात्र रहा। मध्यकाल में परिस्थिति बहुत बदल गई थी। विदेशी आक्रमणकारियों की धन-लिप्सा तथा

लूट-खसोट से तत्कालीन भारतवासी भी 'धन' को कुछ अधिक महत्त्व देने के लिए विवश हुए। यह सब कुछ होते हुए भी धन-प्राप्ति के लिए यहाँ के लोग अधिक प्रयत्नशील न थे। यही कारण है कि यूरोपीय कम्पनियों को अपना व्यापारिक इन्द्रजाल रचने में अधिक सरलता तथा सफलता हुई। सब कुछ होते हुए भी 'त्याग', 'उदारता', 'दार्शनिकता', आदि यहाँ के वातावरण में विधिवत् निहित हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक भारतीय परम्परा की मूल विशेषताओं पर बहुत नगण्य आघात हुए थे। मुसलमान आक्रमणकारी तथा शासक धन का प्रयोग अपने व्यक्तिगत हितों में नहीं करते थे। मन्दिरों से प्राप्त धन से वे प्राय: मस्जिदें चुनवाते थे अथवा सेनानियों और साधु-फकीरों में बाँट देते थे। यह कहा जा चुका है कि महमूद गजनवी धन के लिए उतना उत्सुक नहीं था जितना कि मूर्ति तोड़ने के लिए। इस प्रकार मध्यकालीन भारतवर्ष में भी 'धन' को अधिक महत्त्व नहीं था।

मध्यकालीन शिक्षा—प्राचीन काल में शिक्षा का उद्देश्य था 'आत्मा और परमात्मा' के सम्बन्ध को समझना और भारतवर्ष में था 'आत्मा और परमात्मा' का यथासम्भव साक्षात्कार कराना। मध्यकालीन यूरोप में शिक्षा का उद्देश्य 'मनुष्य और मनुष्य' के सम्बन्ध को समझना हो गया। धर्म के रंग में रँगी होने के कारण प्राचीन काल की ज्ञानमूलक शिक्षा भी अत्यन्त उपयोगी थी। उपर्युक्त राजनीतिक, औद्योगिक, व्यापारिक, आदि, गुत्थियों की उलझ-सुलझ में मध्यकालीन यूरोप में मनुष्य के लिए मनुष्य ही एक समस्या हो गया। यथासम्भव 'चर्च' का प्रभुत्व लोग क्रमशः घटाते गये। 'इहलोक' को ही प्रधानता मिलने से पाश्चात्य संस्कृति में आरम्भ से ही 'धर्म' 'शिक्षा', आदि, सभी लगभग साधन मात्र रहे। इनका उद्देश्य प्रस्तुत जीवन को ही सुलभ तथा सुविधा जनक बनाना था। फलत: मध्यकालीन शिक्षा का उद्देश्य बदल जाने से उनकी संस्कृति और भी प्रफुल्लित होने लगी। प्राचीन काल के नियन्त्रण या तो हटा दिये गये अथवा अत्यन्त सरल तथा सामयिक कर दिये गये। मशीनों के आविष्कार से मनुष्यों के स्वाभाविक सम्पर्क घटते गये। प्रस्तुत जीवन का भी विधिवत् सुखी होना केवल धन से सम्भव नहीं। फलतः मध्यकालीन यूरोप की शिक्षा का उद्देश्य विभिन्न प्रकार के कृत्रिम सम्पर्क (संघ) स्थापित करने के उपाय निकालना हो गया।

शिक्षा की ऊँची-ऊँची संस्थाएँ तो फ्रांस, जर्मनी, इटली, आदि, में थीं परन्तु उन राष्ट्रों के मध्यकालीन शिक्षा के आदर्श देश, काल और पात्र की कसौटी पर विधिवत् कसे नहीं थे। 'व्यक्तिप्रधान' संस्कृति में जब तड़क-भड़क

की कमी पड़ती है तो समस्त ललित कलाओं की भी रूप-रेखा अस्त-व्यस्त हो जाती है। युद्धों, अनुसन्धानों, अन्वेषणों, आविष्कारों, आदि, का व्यवस्थित विकास तथा सामञ्जस्य न होने से यूरोप के ये राष्ट्र अपनी स्थानीय संस्कृति के अनुकूल शिक्षा को पूर्ण रूप से न ढाल सके। प्रत्येक देश में कोई निश्चित पाठ्यक्रम था और निर्धारित शिक्षा प्रणाली थी; उसमें उच्चकोटि के विद्वान, वैज्ञानिक, राजनीतिक, आदि—ऐसे-ऐसे विद्वान जो अपनी प्रतिभा तथा विद्वत्ता से समस्त संसार को आश्चर्य और दुविधा में डाल देते थे, हुए। परन्तु यह सब कुछ उनकी व्यक्तिगत प्रतिभा के फलस्वरूप हुआ न कि उन देशों के विभिन्न आदर्शों के सामञ्जस्य के। उन राष्ट्रों के लिए इस प्रकार का सामञ्जस्य उनकी भौगोलिक स्थिति के कारण कठिनतर हो गया था। वे एक ओर तो रोम और यूनान के भग्नावशेषों को देखते थे और दूसरी ओर उत्तरोत्तर विकसित होते हुए इङ्गलैण्ड को। उन देशों की संस्कृति प्राचीन थी। वे सब विश्व-विख्यात रोमन साम्राज्य के अङ्ग रह चुके थे। फलतः उनके यहाँ प्रबल संघर्ष अवश्यम्भावी रहा।

अन्य योजनाओं की भाँति, मध्यकाल में अपनी शिक्षा की रूप-रेखा भी इंगलैंड ने धीरे-धीरे और अत्यन्त सावधानी से निर्धारित तथा विकसित की। स्थानीय विशेषताओं को विधिवत् समझने का प्रयत्न जितना इंगलैण्ड में किया गया उतना अन्यत्र नहीं। इंगलैंड का अतीत महत्त्वपूर्ण नहीं था। नई-नई योजनाओं को किसी भी क्षेत्र में कार्यान्वित करने में उसे अपनी धरोहर अथवा निधि (अतीत) त्यागने के लिए अधिक न था। फलतः उनके विकास में संघर्ष के प्रसंग नहीं के बराबर थे। कुछ भी कारण रहे हों पर इतना निश्चय है कि मध्यकाल के समाप्त होते-होते इंगलैंड की शिक्षा सम्बन्धी रूप-रेखा पूर्ण रूप से वहाँ की आवश्यकताओं के अनुकूल व्यवस्थित हो गई थी। शिक्षा और संस्कृति में अधिकाधिक सामञ्जस्य होने ही के कारण इंगलैंड में इतने उच्च कोटिका लोकवाद विकसित हो सका। उसकी शिक्षा-प्रणाली में अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा 'धर्म' को कुछ अधिक महत्त्व दिया गया। पाश्चात्य संस्कृति की सभी मौलिक विशेषताएँ वहाँ पर भी विद्यमान हैं परन्तु स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप उन पर पक्की कलई अत्यन्त सावधानी तथा तत्परता से की गई है। यही कारण है कि वहाँ के नागरिक अपने तथा अपने राष्ट्र के लिए इतने उपयोगी हो सके हैं।

मध्यकालीन भारतवर्ष की 'शिक्षा' की रूप रेखा बड़ी विचित्र तथा विषम है। आक्रमणकारियों ने अनेक विद्यालयों, पुस्तकालयों तथा सार्वजनिक

संस्थाओं को निर्मूल कर दिया था। प्राचीनकाल का अपार साहित्य नष्ट-भ्रष्ट हो गया। बाबर से पूर्व के शासकों ने भी शिक्षा के लिए यदा-कदा कुछ न कुछ किया अवश्य था। अलाउद्दीन अत्यन्त प्रतिभा सम्पन्न शासक था और अपनी रुचि के अनुसार उसने शिक्षा सम्बन्धी योजनाएँ भी कार्यान्वित की। फ़िरोज तुगलक भी इस प्रसङ्ग में प्रयत्नशील रहा। बाबर, अकबर, औरङ्गजेब आदि सभी सम्राटों ने 'शिक्षा' के लिए कुछ-न-कुछ किया अवश्य। परन्तु हमारे मध्यकालीन शासकों की शिक्षा सम्बन्धी कोई व्यवस्थित रूप-रेखा न थी उनमें से अधिकांश भारतवासियों पर अपना धर्म लादने के लिए उत्सुक थे। चूँकि 'धर्म' ही यहाँ की शिक्षा का प्राण रहा फलतः शिक्षा की भारतीय रूप-रेखा पर परोक्ष में कुठाराघात होता रहा। बड़े-बड़े बिहारों के साथ तथा मन्दिरों और धर्मशालाओं में पाठशालाएँ स्थापित थीं। मन्दिरों की भित्तियों पर मस्जिदें चुनवाते समय पाठशालाएँ भी मकतब बना दी जाती थीं।

मध्यकालीन भारतवर्ष की ऊँची शिक्षा-संस्थाओं को मदरसा कहते थे। इनमें प्रायः मुसलमान पढ़ते थे। जीविकोपार्जन की समस्या सर्वदा से टेढ़ी रही है। सरकारी पदों की प्राप्ति के लिए बहुत से हिन्दू भी इन मदरसों में शिक्षा प्राप्त करते थे। दिल्ली, आगरा, जौनपुर, आदि में ऊँची शिक्षा की पर्याप्त व्यवस्था थी। अन्य नगरों में भी ऐसी संस्थाएँ थीं। इनके व्यय के लिए राजकीय कोष से सहायता मिलती थी और कभी-कभी संस्थाओं के निमित्त जागीरें निर्धारित कर दी जाती थीं। मकतबों और मदरसों में इस्लाम धर्म तथा उससे सम्बन्धित संस्कृति को अधिकाधिक महत्त्व दिया जाता था। धर्म के अतिरिक्त अन्य समाजोपयोगी विषयों की भी व्यवस्था थी परन्तु उनका दृष्टिकोण पर्याप्त व्यापक और उदार नहीं था। विषयों की व्याख्या केवल सीमित प्रसङ्गों में की जाती थी। स्त्री-शिक्षा की रूप-रेखा अत्यन्त संकुचित थी। केवल शाही तथा ऊँचे परिवारों की लड़कियाँ पढ़ती-लिखती थीं। मुल्लाओं और मौलवियों का प्रभाव अधिक था और वे प्रायः अपने कट्टर विचारों से इन संस्थाओं को प्रभावित करते थे। अकबर के शासन काल में परिस्थितियों में पर्याप्त सुधार हुए थे परन्तु उनकी नीति अधिक दिन तक न चल सकी थी।

मकतबों और मदरसों में छात्रों को अधिकाधिक सुविधाएँ दी जाती थीं। निर्धन छात्रों को पूर्ण व्यय प्राप्त हो जाता था। आवश्यकतानुसार-छात्रालय की भी व्यवस्था थी। विद्यार्थियों और गुरुओं के सम्पर्क का स्तर

अत्यन्त ऊँचा था। कुछ शासक शिक्षा-संस्थाओं को मस्जिदो और मन्दिरों के समान पवित्र मानते थे। छात्रों का जीवन सादा तथा ऊँचा था। जीवन की पवित्रता ही तत्कालीन शिक्षा की अनोखी विशेषता थी। यह सब कुछ होते हुए भी शिक्षा में इस्लाम की अधिकता से वातावरण क्षुब्ध था। आरम्भ में प्रत्येक धर्म, स्थान विशेष के लिए अर्थात् उसकी भौगोलिक और ऐतिहासिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अंकुरित तथा विकसित हुआ था। फलतः धर्म विशेष की क्रियाओं तथा अभ्यासों से तत्सम्बन्धी स्थान विशेष ही के निवासियों को वास्तविक शान्ति तथा आनन्द सम्भव होते हैं। प्रत्येक धर्म के दो मुख्य रूप होते हैं—सिद्धान्त रूप तथा अभ्यास रूप। सिद्धान्त सभी धर्मों के उच्च तथा लगभग समान होते हैं। परन्तु अभ्यासों में स्थानीय विशेषताओं के अनुरूप पर्याप्त अन्तर हो जाता है। सिद्धान्तों का अध्ययन तथा आदर ऊँचे लोग करते हैं परन्तु इनकी संख्या प्रत्येक धर्म के अनुयायियों में बहुत थोड़ी होती है। अधिकांश लोग अभ्यासों के ही सहारे अपनी रक्षा करते हैं। इस प्रकार अभ्यासों के अन्तर से जब दो या अधिक धर्मों के अनुयायियों को साथ रहना पड़ता है तो वातावरण क्षुब्ध हो ही जाता है।

भारतीय संस्कृति-पोषक पाठशालाओं के सम्बन्ध में जितना ही कम सोचा जाय उतना ही अच्छा। विख्यात संस्थाएँ नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी थीं। कुछ शासक तो इनके सतत विध्वंस में ही अपने को गौरवान्वित समझते थे। परन्तु भारतीय शिक्षा की एक विशेषता यह भी थी कि गुरुओं के आश्रम प्रायः बस्ती से दूर उपवनों में और कभी-कभी जङ्गलों में होते थे। जब साधारण परिस्थिति में वे अपने को भीड़-भाड़ से दूर रखते थे तो संकटाकीर्ण होने पर कहना ही क्या है। विविन्न विघ्न-वाधाओं से उद्विग्न होकर गुरुगण निकटवर्ती जंगलों में पटन-पाठन का कार्य करते थे। इन परिस्थितियों में किसी भी पाठशाला का सुव्य-वस्थित होना असम्भव था। इन गुप्त-पाठशालाओं की शिक्षा तत्कालीन व्यवहार के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकती थी। फलतः धीरे-धीरे इनकी संख्या भी क्षीण होने लगी। धनीवर्ग के लोग अध्यापकों (मौलवियों) को अपने घर पर रखकर बच्चों को फारसी, आदि की शिक्षा दिलवाते थे। साथ ही साथ सुसंस्कृत परिवारों में धर्म-कर्म तथा संस्कृत की भी शिक्षा दी जाती थी।

सर्वसाधारण की शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। धार्मिक आदर्शों और अभ्यासों में पर्याप्त अन्तर होने से मकतबों और मदरसों का वे दर्शन

तक नहीं कर सकते थे और धनाभाव के कारण घर पर भी कोई प्रबन्ध नहीं हो पाता था। तत्कालीन निरक्षरता तथा अशिक्षा का अनुमान एक ग्राम्यगीत की निम्नांकित कड़ी से लगाया जा सकता है—

'केथुआ का बोलों कोर कगदवा,
तो केथुआ की मसीहानी।
हाय राम! के के बोलाओं कयथवा,
तो चिठिया लिख भेजों॥

इसे ग्रामीण स्त्रियाँ प्रायः चक्की पीसते समय गाती हैं। कोई रमणी वियोग से संतप्त है। वह सोचती है कि किस प्रकार मैं कोरा कागज़ प्राप्त करूँ और किस प्रकार स्याही। फिर किस कायस्थ को ढूँढ़ूँ जो मेरी चिट्ठी लिखे और मैं उसे भेज दूँ। वास्तव में उस समय बड़े-बड़े गाँवों में भी एक-दो कायस्थ लोग ही कुछ पढ़े-लिखे होते थे और वे ही गाँव भर के सरकारी तथा निजी चिट्ठी-पत्रों को पढ़ते-लिखते थे। पूजा-पाठ करने वाले पण्डित तो प्रायः मिल जाते थे पर उनकी विद्या का व्यावहारिक जीवन में विशेष महत्त्व नहीं रह गया था। तत्कालीन कायस्थ लोग भी उदर-पूर्ति के ही निमित्त आरम्भ में फारसी और फिर उर्दू पढ़ने लगे। वे चिट्ठी-पत्री देवनागरी में लिखते तो अवश्य थे परन्तु लिपि तोड़-मरोड़ दी गई थी। गाँवों में इस लिखावट की अनेक प्रतियाँ आज भी मिलती हैं—उसे 'कयथी' कहा जाता है। मैकाले महोदय की यथा कथित महान शिक्षा-योजना के प्रादुर्भाव के समय कुछ हेर-फेर के साथ लगभग यही परिस्थिति थी।

भारतीय संस्कृति-पोषक विद्यालयों के अभाव में मध्यकाल में 'कथा-वाचन' तथा 'सत्सङ्ग' को विशेष प्रोत्साहन मिला। नगरों, तीर्थ स्थानों तथा अन्य आवश्यक स्थानों पर इस प्रकार के समारोह होते रहते थे। अनपढ़ लोगों की ऐसे उपदेशों तथा व्याख्यानों में विशेष श्रद्धा और आस्था होती है। प्रसङ्गों की व्याख्या का स्तर सम्भवतः उतना ऊँचा नहीं रहता था। टीका-टिप्पणियों में उपयोगिता पर ध्यान कम रहता था—रूढ़ियों और परम्पराओं को उन प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अक्षुण्ण बनाये रखने के अव्यावहारिक उपाय बताये जाते थे। निर्गुण, सगुण, द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, आदि की शास्त्रीय व्याख्या सर्वसाधारण तक, गुरुओं उपगुरुओं तथा चेलों के माध्यम से, पहुँचते-पहुँचते अतिरञ्जित तथा रूपान्तरित हो जाती थी। कबीर, तुलसी, नानक, आदि के उपदेशों में उपयोगिता और सिद्धान्तों के

अनुपात घटते-बढ़ते रहते थे। कबीर दास जी उपयोगिता के माध्यम से सिद्धान्तों का महत्त्व स्वीकार करते थे और गोस्वामी तुलसी दास जी ने सिद्धान्तेतर उपयोगिता का तिरस्कार किया है। कुछ भी हो, इन सत्सङ्गों तथा समारोहों से तत्कालीन अनपढ़ जनता का बहुत कल्याण हुआ है। इनकी विशेषताओं को समझने का भारतीय दृष्टिकोण से प्रयत्न होना चाहिए।

<u>मध्यकालीन पाठ्य-क्रम की विशेषताएँ</u>:—ज्ञान-मूलक शिक्षा के क्षेत्र यूरोप में पाठ्य-क्रम विभिन्न देशों की स्थानीय (भौगोलिक), सांस्कृतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक आवश्यकताओं के अनुसार काटा-छाँटा गया और फिर विस्तृत किया गया। उन देशों की संस्कृति और शिक्षा में यथा सम्भव सामञ्जस्य स्थापित होता रहता था। यह क्रिया इंगलैंड में तो अत्यन्त स्वाभाविक रूप से धीरे-धीरे हो रही थी परन्तु अन्य देशों ने कुछ शीघ्रता की। फलतः जो तादात्म्य ब्रिटेन की शिक्षा और संस्कृति में पुष्पित और प्रफुल्लित हो रहा था वह अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं हो पाता था। कुछ भी हो, सभी देशों ने अपने-अपने पाठ्य क्रम को तत्कालीन आवश्यकताओं के अनुकूल बनाया। परन्तु भक्ति-मूलक शिक्षा के क्षेत्र भारतवर्ष में यह न हो सका। शासकों ने पाठ्यक्रम को अपनी संस्कृति के अनुकूल ढालने में तनिक भी कसर न की। सिद्धान्तः तो परिस्थितियों के अनुरूप पाठ्यक्रम में परिवर्तन हुए अवश्य परन्तु उनके फलस्वरूप सामञ्जस्य के बजाय संघर्ष को उत्तेजना मिली। वातावरण में प्रगत अथवा समुचित विकास किसी प्रकार भी सम्भव न हो सका।

मध्यकालीन पाठ्य क्रम की दूसरी विशेषता मूल आदर्शों से सम्बन्धित है। पाश्चात्य शिक्षा की रूप-रेखा में व्यक्तित्व को अधिकाधिक महत्त्व मिला और साथ ही साथ 'तर्क' के लिए जीवन सम्बन्धी लगभग सभी क्षेत्र खुल गये। 'धर्म' का क्षेत्र वहाँ भी प्राचीन काल तक 'तर्क' से परे रहा। परन्तु मध्यकाल का अन्त होते होते समस्त यूरोप में 'क्यों' और 'कैसे' की कसौटी से धर्म के कुछ ही प्रसङ्ग बच सके। भारतवर्ष में भी 'भक्ति' के कई अङ्गों को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। शासकों और शासितों की संस्कृतियों के कई मूल सिद्धान्तों में आशातीत समानता थी। दोनों के यहाँ आज्ञापालन तथा गुरुजन-प्रधान-शिष्टाचार को अधिकाधिक महत्त्व था। दोनों की पारिवारिक तथा सामाजिक व्यवस्था में 'तर्क' को गौणातिगौण स्थान था। व्याख्या तथा रूप-रेखा में पर्याप्त अन्तर होते हुए भी 'त्याग' का महत्त्व दोनों के यहाँ

प्रमाणित है। फलतः पाठ्यक्रम में कई व्यतिक्रम होते हुए भी प्राचीन भारत की कई मूल प्रवृत्तियाँ यदि प्रत्यक्ष रूप से नहीं तो परोक्ष रूप से विकसित हो रही थीं। यदि तत्कालीन शासक कुछ भी विवेक और उदारता के साथ पाठ्यक्रम में विवरणात्मक सामञ्जस्य का प्रयत्न किये होते तो कई गुत्थियाँ, जिनका कालान्तर में यूरोप-निवासियों ने अनुचित लाभ उठाया, सम्भवतः उलझने ही न पातीं।

मध्यकालीन पाठ्यक्रम की तीसरी विशेषता 'गुरु' सम्बन्धी है। पाठ्य क्रम के अधिक व्यापक तथा समाजोपयोगी हो जाने के कारण पाश्चात्य देशों में शिक्षकों की व्यक्तिगत रुचि का महत्त्व और कम हो गया। 'तर्क' के अधिकाधिक विकास के कारण अध्यापकों को अपने सभी विचारों को 'क्यों' और 'कैसे' की कसौटी पर कस लेना होता था। स्मरण रहना चाहिए कि पाश्चात्य संस्कृति में अध्यापकों का स्थान प्राचीन काल में भी बहुत ऊँचा नहीं था। पाठ्यक्रम में निर्धारित विभिन्न विषयों के अनुरूप और अनुकूल शिक्षकों को चलना पड़ता था। व्यक्ति-प्रधान संस्कृति तथा ज्ञानमूलक शिक्षा में अध्यापक केवल साधन मात्र होता है। मध्यकालीन भारतवर्ष में 'गुरुओं' और उस्तादों का स्थान पर्याप्त ऊँचा था। कहा जाता है कि आलमगीर (औरंगजेब) ने अपने गुरु को बहुत फटकारा था। यदि यह इस सीमा तक ठीक भी है तो इसका आधार औरंगजेब की व्यक्तिगत रुचि है न कि तत्कालीन परम्परा। महात्मा कबीरदास जी ने तो अपने गुरु को 'गोविन्द' से भी बढ़ा दिया था। उन्होंने ललकारते हुए कहा है:—

गुरु गोविन्द दोउ खड़े, काको लागों पाय।
बलिहारी गुरु आप की, जो गोविन्द दियो बताय॥

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी अधिकाधिक श्रद्धा के साथ लिखा है—

श्री गुरु चरण सरोज रज, निज मन मुकुर सुधारि।
बरणौ रघुबर विमल यश, जो दायक फल चारि॥

कालान्तर में शिक्षा का सर्वथा लोप हो जाने पर 'कनफुँकवा गुरु' की परम्परा चल पड़ी। एक ओर ब्राह्मण लोग विद्या के आदर्शों से अनभिज्ञ होते गये और दूसरी ओर अन्य वर्ग भी कर्मच्युत् होते गये। ऐसी दशा में भी लोग ब्राह्मणों से ही गुरु मंत्र लेने लगे। इस परम्परा को प्रत्येक दृष्टिकोण से उपयोगी नहीं माना जा सकता परन्तु इतना तो निश्चय है कि इनसे साधारण कोटि के लोगों को पर्याप्त मानसिक शान्ति मिलती थी। साथ ही 'गुरुओं' की भारतीय

संस्कृति में विशेषता भी प्रमाणित हो जाती है। यह लिखा जा चुका है कि सर्व साधारण की बौद्धिक शिक्षा की कोई व्यवस्था न थी। परन्तु शारीरिक अभ्यास अर्थात् कुश्ती, व्यायाम, आदि, का विशेष प्रचार था। लगभग प्रत्येक गाँव में अखाड़ा होता था और वहाँ पर प्रति दिन प्रातःकाल तथा सायंकाल लोग व्यायाम करते थे। अखाड़े के गुरु अथवा 'उस्ताद' का स्थान बहुत ऊँचा था। गाँव वाले उन्हें प्रायः 'ओस्ताद' कहते थे। अपने शागिर्दों और चेलों के बीच ये 'वोस्ताद' भी लगभग उसी आनन्द तथा गौरव का अनुभव करते थे जिसका द्रोणाचार्य, आदि, प्राचीन काल में अपने शिष्यों के बीच में करते थे।

इस्लाम के सम्पर्क से अथवा अन्य किसी कारण से ये 'वोस्ताद' ब्राह्मण न होने पर भी ब्राह्मण-गुरुओं से किसी प्रकार भी कम सम्मानित न होते थे। कुश्ती लड़ने अथवा किसी व्यायाम प्रदर्शन के पूर्व शिष्य-गण 'वोस्तादों' का चरण छूते थे और उनकी अँगुलियों से शक्ति तथा आशीर्वाद लेते थे। यह परम्परा भारतीय अखाड़ों में (यद्यपि इनकी संख्या घटती जा रही है) आज भी देखी जा सकती है। परन्तु जब से विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में कुश्ती तथा अन्य भारतीय खेलों को स्थान मिला है तब से इन आदर्शों में उत्तरोत्तर परिवर्त्तन हो रहा है। 'वोस्तादों' का बाह्य आदर तो लगभग वही है पर उनके प्रति वास्तविक विश्वास, निष्ठा, श्रद्धा आदि, का ह्रास हो रहा है। यथाकथित वैधानिकता के समावेश से व्यवहार में आडम्बर तथा कूटनीति को प्रोत्साहन मिल रहा है। स्पष्ट और प्रत्यक्ष निर्णयों में भी आपत्ति की जाती है और पग-पग पर 'प्रोटेस्ट' होते रहते हैं। इन वोस्तादों का भी स्थान लगभग वही होता जा रहा है जो कि 'रेफ़री' का पाश्चात्य खेलों में तथा अध्यापकों का अंगरेजी स्कूलों और कालेजों में बहुत पहले हो चुका था। इस प्रकार स्पष्ट है कि मध्यकालीन भारतवर्ष में भी गुरुओं और उस्तादों का स्थान सर्वोच्च तो नहीं परन्तु पर्याप्त ऊँचा था।

मध्यकालीन पाठ्यक्रम की चौथी विशेषता अनुशासन तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी है। यूरोपीय देशों में व्यक्तित्व को अधिकाधिक महत्त्व मिलने से स्वास्थ्य पर स्वतः ध्यान आकर्षित हुआ। स्वास्थ्य व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण तथा अविच्छिन्न अङ्ग है। हाँ, अनुशासन सम्बन्धी गुत्थियाँ अवश्य उलझ सकती थीं। परन्तु 'आत्म-सम्मान' भी व्यक्तित्व का आवश्यक उपकरण है। फलतः इसकी रक्षा के लिए लोग अनुचित कार्यों से यथासम्भव दूर भगते थे। साथ ही संस्कृति और शिक्षा में सामञ्जस्य होने से अनुशासन को स्वाभाविक प्रोत्साहन मिलता

था। भारतवर्ष में परिस्थिति विचित्र थी। मानसिक और बौद्धिक शिक्षा की व्यवस्था न होने से शारीरिक विकास की ओर ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक ही था। लगातार युद्धों और संघर्षों के होते रहने से भी पुष्ट-काय व्यक्तियों का प्रत्येक स्थान पर आदर था। फलतः उस वातावरण में स्वास्थ्य का तिरस्कार असम्भव था। अनुशासन के सम्बन्ध में किसी निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है। परन्तु इतना निश्चय है कि मध्यकालीन भारतीय शिक्षा-पद्धति में अनुशासन-हीनता के अवसर कदाचित ही आते रहे होंगे। भारतीयता-प्रधान विद्यालयों में तो इसका प्रश्न ही सहीं उठता परन्तु मदरसों और मकतबों में भी जीवन अधिकाधिक नियमित तथा नियंत्रित था। इन संस्थाओं में भी इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों का विधिवत् अध्ययन होता था।

मध्यकालीन पाठ्यक्रम की पाँचवीं विशेषता स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में है। पाश्चात्य देशों की संस्कृति 'व्यक्ति प्रधान' होने से प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व चाहे वह स्त्री हो अथवा पुरुष—समान महत्त्व रखता है। प्रस्तुत जीवन में ही 'स्त्री' को भी तो सब कुछ हो लेना है। फलतः प्राकृतिक तथा शारीरिक अन्तरों और दायित्वों का कुछ भी ध्यान न रखते हुए उन देशों में स्त्रियों और पुरुषों के लिए लगभग समान शिक्षा की व्यवस्था होने लगी। इसकी उपयोगिता की सच्ची व्याख्या करना तथा समझना सम्भवतः हम लोगों के लिए कठिन है। पर सुविधा पूर्वक कहा जा सकता है कि उनकी संस्कृति तथा आवश्यकताओं के लिए यही उचित है। मध्यकालीन भारतवर्ष में इस दृष्टिकोण से भी परिस्थिति अस्त-व्यस्त थी। इस्लाम धर्म का प्रादुर्भाव भी उष्ण जलवायु के देशों में हुआ था; उनके यहाँ भी स्त्रियों का जीवन नियंत्रित है। परन्तु उनके नियंत्रण का कोई सांस्कृतिक तथा व्यावहारिक आधार नहीं दीखता। उनके यहाँ भी लगभग प्रस्तुत जीवन को ही विशेष महत्त्व है। 'दोज़ख' और 'जन्नत' के केवल उल्लेख मात्र मिलते हैं। ऐसी दशा में उनके यहाँ भी स्त्रियां का ही जीवन इतना अधिक नियंत्रित क्यों कर दिया गया—समझना कठिन है। कुछ भी हो, मध्यकालीन भारतवर्ष में स्त्रियों की सामूहिक शिक्षा की कोई व्यवस्था न थी। परन्तु सम्पन्न परिवारों के बालकों की भाँति बालिकाएँ भी कुछ न कुछ पढ़ाई जाती थीं। मध्यकाल में अनेक भारतीय महिलाएँ उच्चकोटि की विदुषी हो चुकी हैं।

मध्यकालीन पाठ्यक्रम की छठीं विशेषता परीक्षा सम्बन्धी है। यूरोपीय देशों में जीवन के प्रत्येक अङ्ग को यथासम्भव अधिकाधिक वैधानिकता दी जा रही थी। फलतः परीक्षाएँ भी विधिवत् नियम-बद्ध होती गईं। ध्यान पूर्वक

विचार करने पर मन में धारणा होती है कि इन सबसे उनका प्रचार और विस्तार तो अधिक अवश्य हो गया परन्तु उनकी वास्तविकता और उपयोगिता प्राचीनकाल की परीक्षाओं के समान न हो सकी। मुद्रणकला का आविष्कार हो जाने पर इनकी रूप-रेखा उत्तरोत्तर विस्तृत तथा निर्धारित होती गई। मध्यकालीन भारतवर्ष की परीक्षाएँ रूप-रेखा और व्यवस्था में तो पाश्चात्य देशों की परीक्षाओं के टक्कर की न थीं परन्तु वास्तविकता और उपयोगिता में उच्चकोटि की रहीं। शिक्षा में धर्म का पर्याप्त पुट होने से भारतीय छात्र मध्यकाल में भी रुचि, उत्साह तथा तत्परता से परीक्षाओं का स्वागत करते थे। भारतीय संस्कृति-पोषक विद्यालयों में परीक्षाओं का स्तर पर्याप्त ऊँचा था। अनेक त्रुटियों के होते हुए भी गुरुगणों के निर्णय प्रायः 'सत्यं, शिवं और सुन्दरं' की कसौटी पर कसे होते थे। 'कर्म' की प्रधानता मध्यकाल में आंशिक ही थी परन्तु इतने से ही भारतीय छात्र असफलता के ज्वर से पीड़ित नहीं होते थे।

[निष्कर्ष]

<u>सिंहावलोकन</u>—शिक्षा के विचार से मध्ययुग का प्रारम्भ आठवीं-नवीं शताब्दी से; संसार के इतिहास का बहुत कुछ बन-बिगड़ चुकना; परमात्मा का आदर प्राचीनकाल के समान नहीं; प्राचीनकाल की धार्मिक संस्थाओं में भी कई दोष; यूरोपीय पोप का ह्रास, मध्यएशिया में इस्लाम धर्म का प्रादुर्भाव और विकास; सभी धर्मों के सिद्धान्तों में उच्चता और समानता परन्तु अभ्यासों में अन्तर; इस्लाम धर्म के प्रचार में बल-प्रयोग; मध्यकालीन साम्राज्यों की उन्नति शीघ्रता से; यूरोपीय देशों द्वारा नवीन व्यापार-मार्गों की खोज व्यापार के माध्यम से राजनीतिक और धार्मिक प्रसार। भारतवर्ष की गाथा विचित्र; महमूद गजनवी के आक्रमण और सोमनाथ के मन्दिर का विध्वंस; धर्म में भारत वासियों के आस्था का ह्रास। यूरोपीय देशों में इंगलैंड का आगे बढ़ना। मशीनों का क्रमशः प्रचार; मनुष्य का मूल्य घटना; मनुष्यों का परिस्थितियों ही द्वारा बनना या बिगड़ना; सभी पासे इंगलैंड के अनुकूल; राष्ट्र निर्माण में इंगलैंड का अधिकाधिक बलिदान करना। भारतवर्ष की स्थिति दयनीय; बाबर से पूर्व के सभी मुसलमान आक्रमणकारियों का उद्देश्य विध्वंसात्मक; धर्म-प्रचार की आड़ से सभी कुछ; भारतीय आदर्श अस्त-व्यस्त। बाबर से औरङ्गजेब तक के सभी सम्राटों का उद्देश्य इस देश में ही बने रहना; परन्तु भा॰
संघ को व्यवस्थित करने के लिए किसी-न किसी रूप में स॰

देश काल और पात्र की कसौटी पर इस्लामधर्म का कसा हुआ न होना; विभिन्न सम्राटों की निजी दुर्बलताएँ; औरङ्गजेब का निजी जीवन अत्यन्त सादा और ऊँचा परन्तु.........।

मध्यकालीन आदर्श—यूरोपीय संस्कृति के अनुकूल मध्यकाल भी; व्यक्तित्व-प्रधान परम्परा एवं प्रस्तुत जीवन को विधिवत् प्रोत्साहन; व्यापारिक सुविधाओं की खोज में यूरोप के सभी राष्ट्र इन्हीं आदर्शों के जान अथवा अनजान में पोषक। मध्यकालीन भारतवर्ष का आदर्श-निर्धारण अत्यन्त कठिन; आदर्शों में हेर-फेर मस्तिष्क और हृदय-विजय से न कि शरीर-विजय से। परन्तु शरीर के विधिवत् अधिकार में हो जाने पर क्रमशः मस्तिष्क और हृदय भी प्रभावित; साथ ही सब कुछ व्यक्ति-विशेष के स्वभाव पर निर्भर; भारतीय आदर्शों में असाधारण दृढ़ता। भारतीय आदर्शों की प्रथम विशेषता 'कर्म-प्रधान' परम्परा; कर्म और कर्त्तव्य में भ्रम; इस्लामधर्म का प्रभाव प्रधानतः नगरों ही तक; 'कर्म' का पर्याप्त आदर अंग्रेजी प्रभुत्व के श्रीगणेश तक। दूसरी विशेषता पूर्व जन्म-पुनर्जन्म सम्बन्धी; 'कर्म' के ही अनुपात से इसका भी महत्त्व, निर्भीकता से युद्ध में लड़ना अथवा जौहर, सती, आदि इस पर अवलम्बित। तीसरी विशेषता वर्गभेद या जाति-पाँति व्यवस्था; 'कर्म' में ह्रास हो जाने से जन्म को महत्त्व देना आरम्भ; जन्म से ही छोटा-बड़ा दोष-पूर्ण। चौथी विशेषता सामूहिक परिवार; इसमें भी पर्याप्त व्यक्तिक्रम; शासकों के उत्तराधिकार सम्बन्धी संघर्षों से स्नेह, प्रेम, बन्धुत्व, आदि में शिथिलता। पाँचवी विशेषता धन सम्बन्धी; धन-लिप्सा का अभाव, आक्रमणकारियों तथा यूरोपीय व्यापारियों के व्यवहार से धन को कुछ अधिक महत्त्व मिलना, फिर भी इसके प्रति पर्याप्त उदासीनता।

मध्यकालीन शिक्षा—शिक्षा का प्राचीन उद्देश्य 'आत्मा और परमात्मा का अध्ययन' परन्तु मध्यकाल में—कम से कम अंतिम चरण में —'आत्मा और आत्मा का अध्ययन' अर्थात् प्राचीन उद्देश्य धार्मिक परन्तु मध्यकालीन एवं उत्तर मध्यकालीन उद्देश्य सामाजिक; दृष्टि कोण भी संकुचित; मशीनों का आविष्कार अस्तु मनुष्यों के मूल्य में कमी। जर्मनी, फ्रांस, आदि में बड़ी संस्थाएँ होते हुए भी वास्तविक शिक्षा की व्यवस्था ब्रिटेन में; इंगलैंड की शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्था सामयिक भी; उपयोगी तथा रुचिकर मध्यकालीन भारतवर्ष की दशा विचित्र; मकतब और मदरसों में इस्लामधर्म की प्रधानता कहीं-कहीं मन्दिरों की भित्ति पर चुनी हुई मस्जिदों में; शिक्षा के बारे में जागरूक सभी शासक परन्तु अपने-अपने ढंग से। मकतबों और मदरसों में

छात्रों को अधिकाधिक सुविधाएँ परन्तु पाठ्यक्रम एवं शिक्षा पद्धति अभारतीय। भारतीय संस्कृति-पोषक पाठशालाओं की दशा शोचनीय, धनी लोग घर पर पंडितों और मौलवियों को रख फ़ारसी, संस्कृत, आदि पढ़ते थे; सर्व साधारण शिक्षा से उदासीन; हाँ, कुश्ती, व्यायाम, आदि, को प्रोत्साहन; बड़े-बड़े गाँवों में केवल दो-एक कायस्थ कुछ पढ़े-लिखे; कथा-वाचन, सत्संग, आदि को प्रोत्साहन।

मध्यकालीन शिक्षा की विशेषताएँ—ज्ञानमूलक शिक्षा के क्षेत्र यूरोप में पाठ्य-क्रम में आवश्यक सुधार और विस्तार; परन्तु भक्ति-मूलक शिक्षा के क्षेत्र भारतवर्ष में इस प्रकार के स्वाभाविक हेर-फेर न हो सके। दूसरी विशेषता मूल आदर्शों-सम्बन्धी; पाश्चात्य शिक्षा में व्यक्तित्व को अधिकाधिक महत्त्व; भारत वर्ष में भी भक्तिमूलक शिक्षा के कई अंगों को प्रोत्साहन। तीसरी विशेषता गुरु सम्बन्धी; पाश्चात्य परम्परा में शिक्षकों की व्यक्तिगत रुचि और ख्याति में और ह्रास; भारपवर्ष में गुरुओं का स्थान पर्याप्त ऊँचा; कुश्ती और व्यायाम के उस्तादों का भी पर्याप्त आदर। चौथी विशेषता स्वास्थ्य और अनुशासन सम्बन्धी। पाँचवीं विशेषता स्त्री शिक्षा सम्बन्धी।

अध्याय ३

वर्तमान शिक्षा की रूप-रेखा

सिंहावलोकन—शिक्षा के दृष्टिकोण से वर्त्तमान युग का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से माना जा सकता है। उस समय तक इङ्गलैण्ड (ब्रिटेन) संसार का सबसे शक्तिशाली राष्ट्र हो चुका था। इंगलैण्ड की यह महत्ता वाह्य अथवा सेना-आधारित ही न थी; उसके प्रत्येक अङ्ग का विकास उचित रूप और मात्रा में हो रहा था। लोकवाद को वहाँ अधिकाधिक महत्त्व तथा प्रोत्साहन प्राप्त था। ज्ञान-मूलक शिक्षा तथा व्यक्तित्व-प्रधान संस्कृति वाले देशों में ब्रिटेन का सर्वतोमुखी उत्कर्ष हो रहा था। इटली, जर्मनी, फ्रांस, आदि यूरोपीय देशों का उसकी पद्धतियों और प्रणालियों का अनुकरण करना, स्वाभाविक ही था। साधारण परिस्थितियों में किसी के अनुभवों तथा आविष्कारों का अधिकाधिक उपयोग किया जा सकता है, परन्तु किसी की विशेषताओं का अनुकरण उसी को दबाने तथा पराजित करने के उद्देश्य से जब किया जाता है तो इससे अधिक कल्याण की आशा नहीं की जा सकती। प्रथम दशा में गुण-ग्राहकता तथा संस्कार की भावना रहती है और द्वितीय में प्रतिशोध की; प्रथम में प्रेम और श्रद्धा के स्रोत बहते रहते हैं परन्तु द्वितीय में होड़, कपट तथा छिद्रान्वेषण के भाड़ सुलगते रहते हैं; प्रथम में विदेशी अनुभवों और आदर्शों को अपनी स्थानीय संस्कृति के अनुसार काटना-छाँटना सम्भव होता है परन्तु द्वितीय में ऐसा करने के लिए न उचित अवसर दिखाई पड़ते हैं न इच्छा ही होती है। इस प्रकार न तो दूसरों की विशेषताएँ स्वाभाविक रूप से सीखी जा सकती हैं और न अपनी विशेषताओं का समुचित विकास ही हो पाता है। इंगलैण्ड के प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रों की लगभग यही दशा रही और बहुत अंशों में आज भी है।

प्राचीन और मध्यकालीन आदर्शों का वर्तमान जीवन और आवश्यकताओं से अधिकाधिक सामञ्जस्य स्थापित करने में ब्रिटेन को अभूतपूर्व सफलता मिली है। यही उसकी सफलता और महत्ता का रहस्य है। किसी

व्यक्ति या राष्ट्र के संस्कारों की परीक्षा उसके सुख के दिनों में नहीं हो पाती; सफलता, धन, धान्य, वैभव, आदि प्रायः बाह्य उपकरणों से भी प्राप्त हो जाते हैं। ऐसी परीक्षा कठिनाईयों से अधिकाधिक घिर जाने पर ही सम्भव होती है। वर्तमान युग में ब्रिटेन इस कसौटी पर कई बार खरा उतर चुका है। उसे खरा इसलिए नहीं कहा जा रहा है कि वह विजयी होता रहा, प्रत्युत इसलिए कि प्रत्येक कठिन परिस्थिति का सामना उसने अधिकाधिक धैर्य तथा निष्ठा से किया; प्रत्येक संघर्ष के अवसर पर ब्रिटेन परिस्थितियों की समीक्षा विधिवत् कर लेता है। कुछ लोग इसे ब्रिटेन की कूट-नीति कह सकते हैं परन्तु यह उचित नहीं। किसी संघर्ष-प्रधान अवसर पर सँभलना, रुकना सबके लिए सम्भव नहीं; पर्याप्त मनन, विवेक, शक्ति, धैर्य, तत्परता, आदि के सामञ्जस्य से व्यक्ति या देश विशेष ऐसा करने में सफल होता है। ब्रिटेन की सांस्कृतिक दृढ़ता का परिचय हम वहाँ की जनता की उस राष्ट्रीयता में पाते हैं जिसके प्रभाव से अंगरेजी सोते के उस पार हिटलर के गुप्तचरों की दाल न गल सकी थी। किसी देश पर चढ़ाई करने के पूर्व वह अपने गुप्तचरों द्वारा वहाँ के देश-द्रोहियों से भेद ले लेता था। ब्रिटेन में देश-द्रोह अंकुरित करने के प्रयत्न में हेस्स महोदय को अंग्रेजी पिंजड़े में बन्द हो जाना पड़ा था। किसी देश की जनता में इतनी राष्ट्रीयता, सच्चरित्रता तथा दृढ़ता का समावेश तभी सम्भव है जब कि वहाँ की संस्कृति और शिक्षा में अधिकाधिक सामञ्जस्य हो।

अपने विभिन्न संस्कारों को देश-काल और पात्र के अनुसार शोधने में ब्रिटेन ने सैकड़ों वर्ष लगाये। उसे नाना प्रकार के बलिदान करने पड़े तथा अनेक यातनाओं का धैर्य और तत्परता के साथ सामना करना पड़ा। उनकी सभी विशेषताएँ अनोखी तथा अपूर्वभूत है। उनके यहाँ सम्पूर्ण वास्तविक सत्ता जनता के हाथ में है परन्तु राजा भी व्यवस्थित रूप से मूर्त्तिमान हैं; प्रत्येक कार्य वैधानिक ढङ्ग से होता है परन्तु उनका विधान किसी पुस्तक के रूप में संकलित नहीं है। उनके नियम उसी गति तथा क्रम से बनते गये जिससे कि वहाँ के लोग उन्हें अपनाते तथा पचाते गये अर्थात् रुचि और निष्ठा के साथ कार्यान्वित करते गये। स्वाभाविक तथा क्रमिक विकास इसी को कहा जा सकता है। कुछ लोगों का विचार है कि यह आवश्यक नहीं कि किसी प्रणाली को पूर्ण रूप देने में जितना समय ब्रिटेन ने लगाया उतना ही समय उसे अपनाने में अन्य देश भी लगायें। ठीक ही है। परन्तु यह भी उतना ही ठीक है कि जो अलौकिक आनन्द उस महान व्यक्ति को हुआ होगा जिसने बिजली के प्रकाश का आविष्कार किया था, वह आनन्द उसके प्रकाश में प्रतिदिन

काम करने वालों को नहीं मिल सकता। वास्तव में उपयोगी अनुष्ठानों का श्रीगणेश व्यक्ति या स्थान विशेष की भौगोलिक तथा सांस्कृतिक विशेषताओं की भित्ति पर होता है। अन्य व्यक्तियों अथवा देशों को चाहिए कि उनके (अनुष्ठानों के) फल के उपभोग के पूर्व अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं की विधिवत् समीक्षा करें और देखें कि उनमें उनके (अनुष्ठानों के) अनुरूप कितनी दृढ़ भित्ति निर्मित हो सकती है या प्रयत्नों द्वारा की जा सकती है। जिस अनुपात में भित्ति सम्भव हो उसी में फल का उपभोग करना उचित तथा उपयोगी होता है। इसमें जितना समय लगे उतना विधिवत् लगाना चाहिए। क्योंकि इसमें व्यतिक्रम होने से गुत्थियाँ उलझती रहती हैं।

जब किसी नये अनुसन्धान अथवा आविष्कार में कोई देश अथवा विद्वान लगता है तो उसका मार्ग सरल तथा सुगम नहीं होता। पग-पग पर बाधाएँ पड़ती रहती है। कभी-कभी तंग होकर वह सोचता है कि कार्य छोड़ क्यों न दिया जाय; फिर सँभलता है और किसी गुत्थी के सुलझ जाने पर फूला नहीं समाता। इस उतार-चढ़ाव, उधेड़-बुन तथा घटाव-बढ़ाव से व्यक्ति या देश विशेष की विभिन्न प्रवृत्तियाँ या परिस्थितियाँ शुद्ध तथा परिमार्जित होती जाती हैं। किसी वस्तु की प्राप्ति से बहुत अधिक कठिन होता है उसका समुचित उपयोग तथा उपभोग। किसी प्रणाली को सुनकर अथवा पुस्तकों में पढ़कर जाना तथा समझा तो जा सकता है परन्तु इतने ही से उसे सफलता पूर्वक कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। इन्हीं कठिनाइयों से यूरोप के अन्य राष्ट्रों का जीवन उतना पूर्ण तथा सुखी नहीं हो सका है जितना कि ब्रिटेन का है। ऊँची से ऊँची संस्थाएँ तथा अनोखे आविष्कारक तो अन्य यूरोपीय देशों में हैं परन्तु उनमें विभिन्न प्रवृत्तियों का समुचित सामञ्जस्य नहीं हो सका है। प्रथम विश्व-युद्ध के उपरान्त रूस का भी सितारा चमका। एक विकट क्रान्ति के उपरान्त इस राष्ट्र का भी नवसंस्कार हुआ और पिछले तीस-चालीस वर्षों में इसकी भी आशातीत उन्नति हुई है। परन्तु इसके आदर्शों की विधिवत् परीक्षा अभी सम्भव नहीं हो सकी है। पिछले विश्व-युद्ध में पर्याप्त धैर्य के साथ इसने जर्मनी की सेनाओं का सामना किया और विजय प्राप्त की; परन्तु इस विजय का अधिकांश श्रेय इसकी भौगोलिक स्थिति को है न कि इसके आदर्शों को।

प्रथम विश्व युद्ध के उपरान्त अमेरिका का भी प्रभुत्व विधिवत् स्थापित हो गया था। संसार के उच्चकोटि के राष्ट्रों में उसकी भी गणना होने लगी। अमेरिका की सफलता का मुख्य आधार उसकी अतुल सम्पत्ति है। वर्तमान युग का दृष्टिकोण आर्थिक होने से किसी भी धनी देश की महत्ता स्वतः कई

गुनी हो जायगी। अमेरिका की भी पर्याप्त रक्षा उसकी भौगोलिक स्थिति हीकरती है। उसके भी आदर्शों की विधिवत् परीक्षा अभी तक सम्भव न हो सकी है; कठिनाइयों का सामना उसे अभी तक करना ही नहीं पड़ा है। परन्तु इतना निश्चय है कि उसकी संस्कृति लगभग ब्रिटेन की ही विशेषताओं पर अवलम्बित है। अपनी सम्पत्ति का उपयोग अमेरिका उचित रूप में कर रहा है। द्वितीय विश्व-युद्ध के उपरान्त तो उसे संसार का सबसे शक्तिमान राष्ट्र मानने में किसी को आपत्ति नहीं है परन्तु इसका निर्णय कठिन है। द्वितीय विश्व युद्ध के ही दौरान में चीन का भी असाधारण काया-कल्प हुआ। गृह-कलह की क्षतियों को असाधारण शीघ्रता से सुधार कर राष्ट्रीय चीन दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करने वाला माना जा रहा है। परन्तु इतनी प्राचीन संस्कृति के राष्ट्र का इस शीघ्रता से रूपान्तर हो जाना वर्त्तमान युग की एक समस्या है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक जापान भी जय-पान कर चुका था। उसकी उन्नति भी सर्वतोमुखी थी। उसकी राष्ट्रीयता में यदि कोई कमी रह गई थी तो केवल इसी कारण से कि उसका उत्कर्ष अपेक्षाकृत थोड़े समय में अत्यन्त तीव्रता के साथ हुआ। प्रथम विश्व-युद्ध के उपरान्त इसकी भी गणना संसार के शक्तिमान राष्ट्रों में होने लगी थी। जापान की राष्ट्रीयता, दृढ़ता, सच्चरित्रता, आदि का परिचय हमें न तो उसकी सिंगापुर-विजय से मिलता है और न तो उसके दिन दूने, रात चौगुने बढ़ने वाले उद्योग-धन्धों से। उसकी आंशिक चरित्रता का परिचय समस्त दक्षिणी-पूर्वी एशिया में फैले हुए उसके विजयी सेनानायकों के उस आज्ञा-पालन अथवा आत्मसमर्पण अथवा परित्याग से मिलता है जो उन्होंने 'हिरोशिमा' और 'नागासाकी' नगरों के अणुबम से निमूंल हो जाने पर सम्राट 'मेकादो' के केवल संकेत मात्र पर किया था। बीसवीं शताब्दी में अब तक दो घटनाएँ अत्यन्त अनोखी हैं—ब्रिटेन का भारत से शान्तिमय प्रस्थान और जापान का उपयुक्त आत्म-समर्पण। यदि सद्‌बुद्धि, सद्भावना तथा विवेक का इन दोनों अवसरों पर तिरस्कार किया गया होता तो न जाने कितना अधिक नर-संहार और हो जाता। जापान की चरित्रता को आंशिक इस लिए कहा जा रहा है कि द्वितीय विश्व-युद्ध में अपने लिए उचित मार्ग का निर्धारण वह न कर सका। उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों और परिस्थितियों के सामञ्जस्य में कोई ऐसी त्रुटि रह गई है जिसके फल-स्वरूप संसार की सर्वोच्च शक्ति बनने की लालसा उसमें उचित समय से पहले हो गई। इसी मायावश वह कुछ गुमराह सा हो गया और समय को विधिवत् तौल न सका।

ब्रिटेन तथा अन्य सभी यूरोपीय राष्ट्रों के वर्तमान जीवन में उनकी प्राचीन तथा मध्यकालीन मौलिक प्रवृत्तियाँ विधिवत् निहित हैं। वैज्ञानिक अविष्कारों के फलस्वरूप लगभग समस्त संसार सम्बन्धित सा हो गया है। चीन और जापान की मौलिक प्रवृत्तियाँ भिन्न हैं और वे सम्भवतः पूर्वी आदर्शों से प्रभावित हैं। खेद है कि पूर्वी आदर्शों का इस युग में विश्लेषण कठिन है। चीन की गाथा ही भिन्न है। यद्यपि इसकी संस्कृति बहुत ही प्राचीन है परन्तु इसकी विशेषताओं में दृढ़ता का अभाव सर्वदा से रहा है। अमेरिका को तो 'नवीन संसार' कहा ही जाता है परन्तु रूस की परम्परा भी प्राचीन नहीं है। वर्तमान या विज्ञान युग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि 'धर्म' का महत्त्व गौणातिगौण हो गया है। यूरोप में 'धर्म' अब 'स्वामी' नहीं रह गया है। चीन, जापान, आदि बौद्ध धर्म के देशों में भी धार्मिक सिद्धान्तों की सरल, सुगम तथा नवीन टीकाएँ तैयार तथा कार्यान्वित हो चुकी हैं। वर्तमान युग का 'धर्म' स्पष्ट रूप से 'धन' हो गया है। विभिन्न 'वादों' का निरूपण इसी पर अवलम्बित हैं; साम्राज्यवाद, समाजवाद, साम्यवाद, आदि सभी का विकास इसी से सम्बन्धित है। प्राचीनकाल तथा पूर्व-मध्यकाल तक जिस प्रकार 'परमात्मा' को लक्ष्य करके विभिन्न धर्मों, पन्थों, सम्प्रदायों, आदि के अविर्भाव होते रहे उसी प्रकार इस युग में 'धन' को लक्ष्य करके अनेक 'वादों' के निरूपण हो चुके हैं तथा होते जा रहे हैं। कुछ भी हो, 'इह लोक-प्रधान' पाश्चात्य संस्कृति की इस युग में भी पर्याप्त रक्षा हो रही है।

वर्तमान भारतवर्ष का चित्रण सरल नहीं है। इसे सुविधा-पूर्वक तीन भागों में बाँटा जा सकता है—प्रथम भाग १८५७ ई० तक, द्वितीय भाग १८५८ से १९४७ तक और तृतीय भाग १९४७ के उपरान्त अर्थात् जो चल रहा है और जब से हम स्वतंत्र हैं। सन् १८५७ ई० तक यूरोप के चमत्कारों को हम लोग उसी उत्कण्ठा से देख रहे थे जिससे कि भीड़-भाड़ अथवा किसी दुर्घटना में ठगा हुआ कोई व्यक्ति स्वयंसेवकों. कर्मचारियों, आदि के ऐसे भी कार्य-कलापों को देखता है जिनकी वाह्य रूप-रेखा तो अनुकूल चित्रित होती है परन्तु उनसे नतीजा कुछ भी नहीं निकलता। नाम के लिए तो 'ईस्ट-इण्डिया कम्पनी' प्रत्येक कार्य मुगल सम्राट की ओर से करती थी परन्तु वास्तव में उन सम्राटों को कोई नहीं पूछता था। प्रथम काल में अर्थात् सन् १८५७ तक अंगरेज लोग हिन्दुओं की ओर अधिक झुके रहते थे। इसका सर्व प्रथम कारण यह था कि हिन्दू लोग उसके पूर्व के मुसलमानी राज्य से सन्तप्त तथा असन्तुष्ट रह चुके थे। फलतः उनके हृदय में सुगमता से स्थान किया जा सकता था। दूसरे, जाति-पाँति के भेद-भाव

से विभक्त हिन्दुओं में ईसाई धर्म का प्रचार सम्भव था। तीसरे, हिन्दू संस्कृति में पर्याप्त सहन-शीलता एवं सहिष्णुता होने से सभी नवागन्तुकों का आरम्भ में इस ओर झुकना स्वाभाविक था। चौथे, यूरोप का दृष्टिकोण हर प्रकार से आर्थिक था (आज भी है) और भारतीय परम्परा में धन को महत्त्व नहीं था—फलतः अँगरेजों की आर्थिक प्यास हिन्दुओं से सरलता से तृप्त हो जाती थी।

एक ओर अपने आदर्शों तथा संस्कारों के छिन्न-भिन्न हो जाने से और दूसरी ओर अंगरेजों के व्यक्तित्व-प्रधान जीवन की प्रत्यक्ष सुविधाओं और यथा-कथित अच्छाइयों से तत्कालीन भारतवासियों पर जादू सा फिर गया। कर्म-प्रधान संस्कृति में अपेक्षित तथा अनिवार्य त्याग, आत्म-नियंत्रण, साधना, आदि के प्रति लोग उदासीन होने लगे। अंगरेजों के अध्यवसाय, आत्म-स मान तथा उत्साह के प्रभाव से यहाँ के लोग प्रेरित तो हो गये परन्तु सांस्कृतिक संघर्ष की दावाग्नि से अपनी रक्षा न कर सके। वैज्ञानिक आविष्कारों से भी विदेशी संस्कृति की उपयोगिता आवश्यकता से बहुत अधिक प्रतीत होने लगी। ठगी, सती, शिशु-हत्या, आदि का निषेध हो जाने से सामाजिक जीवन क्षुब्ध सा हो गया था। टीपू, मरहठे, निज़ाम, अवध, आदि, सभी एक-एक करके समाप्त हो रहे थे परन्तु प्रायः यूरोप के अन्य राष्ट्र, विशेषतया फ्रांस के लोग, गुप्त रूप से इन नरेशों को उभाड़ते थे। इन्हीं परिस्थितियों तथा प्रवृत्तियों के फलस्वरूप सन १८५७ की देश-व्यापी क्रान्ति हुई जिसे यूरोपीय इतिहासकार 'सिपाही-विद्रोह' कहते हैं और भारतीय विद्वान 'स्वतंत्रता का प्रथम युद्ध, मानते हैं। इसे कुछ भी कहा जाय परन्तु इतना निश्चय है कि १८५७ ई० तक भारतवासियों में पाश्चात्य प्रवृत्तियों का पर्याप्त समावेश हो चुका था।

१८५८ ई०से भारतवर्ष पर ब्रिटेन का वैध साम्राज्य स्थापित हो गया। क्रान्ति के उपरान्त अंगरेजों की नीति में परिवर्त्तन हुआ। मुसलमानों के ऊपर कुछ अधिक ध्यान दिया जाने लगा। शासन-व्यवस्था में भी दृढ़ता आई। नवीन परिस्थितियों का सामना करने के लिए आर्य-समाज (धार्मिक तथा सामाजिक), कांग्रेस, मुसलिम लीग, हिन्दू-महासभा, (राजनीतिक), आदि, के प्रादुर्भाव हुए। इनमें कांग्रेस के विधान, विस्तार, उद्देश्य, आदि में उत्तरोत्तर वृद्धि तथा विकास होते गए और इसी के तत्त्वावधान में सन् १९४७ ई० में देश स्वतंत्र हुआ। महात्मा गान्धी के पथ-प्रदर्शन से कांग्रेस में कई भारतीय विशेषताओं का समावेश हुआ—अहिंसावाद, जीवन की पवित्रता और सा

को अधिकाधिक प्रोत्साहन मिला। प्रथम विश्व-युद्ध के उपरान्त, अन्य देशों के अनुरूप, कांग्रेस में भी कई विचारावली के बीजारोपण हुए और कालान्तर में इन्हीं के विकास के फलस्वरूप कई दल बन गये। बीसवीं शताब्दी में भारतवर्ष की व्यापारिक, सामाजिक, औद्योगिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक विशेषताएँ 'पूर्व' और 'पश्चिम' के ऐसे भीषण द्वन्द्व में उलझ गई कि शान्तिपूर्ण जीवन यहाँ असम्भव सा हो गया है। उचित-अनुचित, कर्त्तव्या-कर्त्तव्य, आदि, की परिभाषा तथा व्याख्या इतनी अस्थिर और अनिश्चित होगई कि लोगों को अपना मार्ग-निर्धारण कठिन प्रतीत होने लगा।

उपर्युक्त मार्ग-निर्धारण सबके लिए कठिन नहीं हुआ। आदर्शों और नियमों की अस्थिरता से अधिकांश लोगों का तो काम बन गया अर्थात् वे आसानी से निरंकुश जीवन व्यतीत करने लगे। कठिनाइयों का अनुभव कर्म-वीरों और धर्म-वीरों को हुआ। स्मरण रहना चाहिए कि अंगरेजों ने हमारी भारतीय विशेषताओं का तिरस्कार जानबूझ कर नहीं किया। आदर्शों की भिन्नता के कारण एक-एक करके अनेक क्षतियाँ पहुँचती गई। सर्वप्रथम धक्का हमारे मूल आदर्शों को पहुँचा। 'कर्म-प्रधान' और 'पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्म' की उपयोगिता और विशेषताओं को, न समझ सकने के कारण, वास्तविकता की कसौटी पर कसने का प्रयत्न किया जाने लगा। पाश्चात्य लोगों के लिए 'निष्काम कर्म' की कल्पना ही, कोरी कल्पना प्रतीत होने लगी तो उनके सम्पादन को कैसे प्रोत्साहन मिल सकता था। फिर तो इनसे सम्बन्धित वर्ग-भेद, त्याग, विशालता, उदारता, सहनशीलता, आदि सभी को अस्वाभाविक तथा अव्यावहारिक घोषित किया गया। अभाग्यवश भारतीय विद्वान भी इनकी उपयोगिता की वकालत करने का साहस न करते थे। यहाँ की भौगोलिक विशेषताओं पर विजय प्राप्त करने के निमित्त हमारे प्राचीनकाल के मनीषियों ने जो नियम, उपाय, उपचार तथा संस्कार अनेक अनुभवों, अनुसन्धानों तथा अनुष्ठानों के आधार पर निर्धारित तथा कार्यान्वित किये थे, तिरस्कृत होने लगे।

कांग्रेस तथा अन्य दल स्वतंत्रता के लिए तो जी-जान से प्रयत्नशील थे परन्तु स्वतंत्रता के उद्देश्य सम्भवतः उन्हें विधिवत् स्पष्ट न थे। इसकी प्रेरणा और इसके उपाय भी उन्हें विदेशियों से ही प्राप्त हो सके थे। महात्मा गान्धी ने स्वतंत्रता-आन्दोलन में कई भारतीय विशेषताओं का समावेश किया अवश्य परन्तु इसका आधार उनकी व्यक्तिगत प्रतिभा थी न कि भारतीय आदर्शों तथा संस्कारों का प्रसाद। स्वतंत्रता-प्राप्ति के प्रयत्न ज्यों-ज्यों उत्तरोत्तर दृढ़तर

होते गये त्यों-त्यों विदेशी आदर्शों का हमारे जीवन में समावेश बढ़ने लगा। सन् १९३० के उपरान्त तो यह लहर गाँव-गाँव तक पहुँच गई; एक ऐसा समय आगया था जब कि बच्चा-बच्चा स्वतंत्रता की बलि के लिए कटिबद्ध था। सन् १९४२ ई० में यह लगभग सिद्ध भी होगया। किसी देश के नागरिकों का इतना अधिक आगे बढ़ जाना, साधारण परिस्थितियों में उस देश का सौभाग्य माना जायगा। ब्रिटेन ने भी सन् १९४२ की क्रान्ति को सम्भवतः इसी रूप में लिया और तभी सन १९४७ में शान्तिपूर्वक यहाँ से अपना डेरा कूच कर दिया। परन्तु ध्यानपूर्वक विचार करने से पता चलता है कि बात कुछ और ही थी। आगे बढ़ने से बहुत अधिक कठिन होता है पीछे हटना। जब बढ़ाव क्रमिक तथा अपने संस्कारों और आदर्शों से पोषित होता है तो उसकी उपयोगिता और वास्तविकता में उचित सामञ्जस्य रहता है और आवश्यकता पड़ने पर पीछे हटना न तो कठिन होता है और न उससे हानियाँ होती हैं। वर्तमान काल में आगे बढ़ना तो सभी राष्ट्र जानते हैं परन्तु पीछे हटना पूर्ण रूप से अभी तक ब्रिटेन ही जानता है और अंशतः जापान।

१९४७ ई० से आज तक सबसे बड़ी समस्या हमारी यही है कि स्वतंत्रता के निमित्त असाधारण बढ़ाव से हम उचित रूप में पीछे नहीं हट पा रहें हैं। दूसरे शब्दों में स्वतंत्रता के समुचित उपयोग में यहाँ के कर्णधारों को अनेक कठिनाइयाँ हो रही हैं। अभाग्यवश महात्मा गाँधी जी हम लोगों से छीन लिये गये। यदि वे जीवित रहते तो अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा से पीछे हटने में भी भारतवर्ष की मौलिक विशेषताओं का समुचित प्रयोग करते। स्वतंत्रता प्राप्त करते-करते उन्होंने अपने आग्रह से पाकिस्तान को पचपन करोड़ रुपया दिलवाया। उस बढ़ाव से बिना पीछे हटे ही हम उसी जोश में अनेक यथाकथित अनोखे काम करते जा रहे हैं। उच्च कोटि का विधान तैयार कर लेना, वयस्क मताधिकार दे देना, विभिन्न प्रान्तों से जमीनदारी का उन्मूलन कर देना, इतने बड़े राष्ट्र के लिए एक राष्ट्र भाषा निर्धारित कर कर देना, आदि साधारण कार्य नहीं कहे जा सकते। इनके अतिरिक्त और कितने छोटे-मोटे कार्य उत्तरोत्तर होते जा रहे हैं। परन्तु इन सबका हमारे जीवन पर प्रभाव कैसा पड़ रहा है? हमारे नागरिक तथा हमारा समाज इतने बड़े-बड़े अधिकारों के अनुरूप कर्तव्य सञ्चित करने में कहाँ तक सफल है? यदि अपेक्षित कर्त्तव्यों का सञ्चय नहीं हो पाता है तो ये अधिकार सजीव तथा सुरक्षित कैसे रह पायेंगे? अपनी पाचन शक्ति का बिना अनुमान लगाये विभिन्न राष्ट्रों की विशेषताओं को निगलते जाना कदापि उपयोगी नहीं हो

सकता। उस 'बढ़ाव' से उचित रूप में पीछे हटने का तात्पर्य यही है कि धैर्य और सावधानी के साथ अपनी मौलिक विशेषताओं की समीक्षा की जाय।

हमारी भारतीय विशेषताओं का लोप न्यायालयों के निर्णयों से विशेष रूप से हुआ है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से यहाँ के छोटे-बड़े सभी न्यायालयों के न्यायाधीश प्रायः अंगरेज ही होते रहे हैं। तब तक भारतवासियों में भी धन-लिप्सा का प्रादुर्भाव हो चुका था। भारतीय परिवारों में मालिक के ही नाम से भूमि, मकान, वृक्ष, आदि, खरीदे जाते थे। सच्चाई और ईमानदारी का इतना प्रचार था कि परिवार के किसी भी सदस्य को कोई खटका न होता था। गृह-कलहों का निर्णय करते समय अंगरेज न्यायाधीश सभी कुछ उसी मालिक को देने लगे। यह देखकर सभी परिवारों के अन्य सदस्य क्षुब्ध हो गये। फिर क्या था – जिस किसी गाँव में एक भी निर्णय इस प्रकार का हो जाता था वहाँ के सभी सामूहिक परिवार जो 'कर्म-प्रधान संस्कृति' के एक मात्र प्रत्यक्ष भग्नावशेष रह गये थे, छिन्न भिन्न होने लगे। प्रत्येक व्यक्ति अपनी ही पत्नी और सन्तानों में दत्त-चित्त होने के लिए विवश हुआ। गरम देश होने के कारण यहाँ की परम्परा में नवदम्पतियों के पारस्परिक सम्पर्क नियमित तथा सीमित थे और इसी में यहाँ का कल्याण था। परन्तु सम्पर्क के आधिक्य से लोगों का स्वास्थ्य गिरने लगा और भारतवासियों पर अनेक प्रकार के अभूतपूर्व रोगों के आक्रमण होने लगे। सामूहिक परिवारों में केवल मालिकों और मालिकिनों में प्रबन्ध के उद्देश्य से सम्पर्क रहता था। आयु की अधिकता तथा दायित्व की गुरुता से इन लोगों का सम्पर्क इनके लिए घातक नहीं हो पाता था।

न्यायालयों का दूसरा निर्णय व्यक्तिगत स्वतंत्रता से सम्बन्धित है। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक भारतीय जीवन में 'बिरादरी' तथा 'पञ्चायत' का अधिकाधिक महत्त्व था। प्रत्येक बिरादरी का 'चौधरी' बिना ताज का बादशाह होता था। बिरादरी के चपेट से निकम्में लोग भी अनियमित जीवन व्यतीत करने का साहस न कर सकते थे। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यथा कथित उच्च वर्गों में (ब्राह्मण, क्षत्रिय, आदि में) 'बिरादराना' का महत्त्व घटने लगा। स्मरण रहना चाहिए कि धनी-मानी होने के कारण न्यायालयों के सम्पर्क में सर्व प्रथम ये ही लोग आये। कुकर्म करने वाले लोग नवीन न्यायालयों की कृपा से भारतीय समाज में सिर ऊँचा करके चलने लगे। परन्तु यथाकथित निम्नवर्ग में बिरादरी का प्रभाव

लगभग सन् १९३० तक पर्याप्त रहा। ज्यों-ज्यों इन्हें ऊपर उठाने के लिए वैधानिक आडम्बर रचे जाने लगे त्यों-त्यों बिरादराने का महत्त्व इनके यहाँ भी घटने लगा। बिरादराने की कुछ परम्पराएँ कठिन अवश्य थीं परन्तु डर के मारे लोग अनुचित कामों में लगते ही नहीं थे—फलतः कठिन दण्डों के प्रयोग के अवसर ही कम आते थे। व्यक्तित्व-प्रधान संस्कृति वाले, अंगरेजों ने इन सबको असभ्यता का लक्षण माना। 'व्यक्तिगत-स्वतंत्रता' के नाम पर सभी भारतीय-संयम, नियम, आदि अवैध प्रमाणित किये जाने लगे।

न्यायालयों का तीसरा विषाक्त प्रभाव वकीलों के माध्यम से हुआ। अंगरेज न्यायाधीशों के व्यक्तित्व-प्रधान जीवन का प्रभाव वकीलों पर तत्काल पड़ा। वकीलों के पारिवारिक जीवन का नक्शा अचिरात् बदलने लगा। दावतों और पार्टियों में यथोचित स्थान तथा सम्मान पाने की लालसा से यथा सम्भव वे अपनी-अपनी वकीलाइनों को भी 'लेडी' बनाने का प्रयत्न करने लगे। अंगरेजों के संक्षिप्त पारिवारिक रूप-रेखा से प्रभावित होकर वे लोग भी अपने सहोदरों से अकारण विलग होने लगे। वकीलों और वकीलाइनों की काया-कल्प का प्रभाव गाँव के जमीनदारों और किसानों पर भी पड़ने लगा। वे लोग भी अपने जीवन में व्यक्तिगत-स्वतंत्रता के अनुकूल चक्र-व्यूह रचने लगे। मानसिक शान्ति के स्थान पर शारीरिक तथा वाह्य आडम्बरों को स्थान मिलने लगा। जमीनदारों के पेचीले तथा अनियमित व्यवहार से ग्रामीण वातावरण का दम घुटने लगा। भारतीय सादगी और पवित्रता को पग-पग पर ठोकरें लगने लगीं। वैज्ञानिक आविष्कारों की सुविधाओं और विशेषताओं से इस प्रवृत्ति अथवा लहर को अधिकाधिक उपयोग मिला। भोले-भाले भारतीय ग्रामीण यह सोचने लगे कि इन आविष्कारों का अधिकाधिक उपयोग तभी सम्भव होगा जब कि वे लोग अपने जीवन को पूर्ण-रूपेण व्यक्तित्व-प्रधान कर देंगे।

साधारण जनता में व्यक्तित्व-प्रधान जीवन का समावेश अंगरेज अधिकारियों के चपरासियों द्वारा भी हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि अंगरेज लोग जितना प्यार अपने कुत्तों, घोड़ों तथा अन्य घरेलू जानवरों का करते थे उतना बीसवीं शताब्दी में हमारे यहाँ अपने आदमियों का भी नहीं किया जा रहा है। इसका कारण धनाभाव ही नहीं है। सांस्कृतिक संघर्षों के फलस्वरूप हमारे 'सत्यं, शिवं और सुन्दरं' की धारणा ही अस्त-व्यस्त हो गई है। ऐसी दशा में किसी भी व्यक्ति, समाज या देश के विवेक कुण्ठित हो जाते हैं। विवेक कुण्ठित हो जाने पर शक्ति का सञ्चय क्रमिक तथा व्यवस्थित नहीं

हीं पाता और जो कुछ शक्ति प्राप्त भी होती है, उसका प्रायः दुरुपयोग होता है। जहाँ अधिक शक्ति लगनी चाहिए वहाँ कम लगाई जाती है और जहाँ कम की आवश्यकता होती है वहाँ पर उसका धड़ल्ले से अपव्यय होता है। अंगरेज अधिकारियों से प्रभावित होकर चपरासियों ने अपनी पत्नियों को यथा सम्भव ऊपर तो उठा दिया, परन्तु साधन की कमी तथा वातावरण की भिन्नता के कारण इससे उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। संक्षेप में कहने का तात्पर्य यह है कि न्यायालयों. अधिकारियों वकीलों, आदि के माध्यम से व्यक्तित्व-प्रधान जीवन का समावेश गाँवों के कोने-कोने तक हो गया।

संस्कृति के प्रत्यक्ष आधार 'रोटी तथा बेटी' के व्यवहार होते हैं। इन दोनों व्यवहारों में जितना पारस्परिक सामञ्जस्य होता है उतना ही किसी व्यक्ति या परिवार या समाज का जीवन सुखी तथा शान्तिमय होता है। रोटी का व्यवहार यों तो दिन में दो-तीन बार होता है परन्तु यहाँ पर इसका उल्लेख किसी विशेष दृष्टिकोण से किया जा रहा है। सामूहिक-भोजन अथवा प्रीति-भोज का मानव समाज में बड़ा महत्त्व है। साधारणतः जिसके साथ सहर्ष हम रोटी खा सकें उसी के साथ बेटी का भी व्यवहार होना चाहिए। आज कल इस सिद्धान्त का हनन जितना भारतवर्ष में हो रहा है उतना अन्यत्र नहीं। अंगरेजों के समाज में यदि खान-पान में भेद-भाव नहीं है तो उनके यहाँ जाति-पाँति का भी भेद-भाव नहीं है। अधिकारियों तथा दोस्तों को प्रसन्न रखने के लिए रोटी तो हम लोग प्रतिदिन किसी के भी साथ खा ले रहे हैं परन्तु 'बेटी' का व्यवहार करने में सारी उदारता, विशालता और राष्ट्रीयता काफूर हो जाती है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि रोटी के काम में अधिक समय नहीं लगता और किसी भी पर्दे की आड़ में सुविधा-पूर्वक किसी के साथ भी खाई जा सकती है। परन्तु बेटी का ब्याह तो इस प्रकार छिप कर किया नहीं जा सकता। कुछ भी हो परन्तु इस विषमता पर ध्यान देना आवश्यक है।

नई रोशनी के लोगों की धारणा है कि किसी के साथ खा लेने से हानि ही कौन-सी होती है—कोई अङ्ग तो कट नहीं जाता। उन लोगों से यह पूछने में सम्भवतः धृष्टता न होगी कि बेटी का ब्याह किसी विजाती, विदेशी अथवा अन्य धर्मावलम्बी के साथ कर देने से कौन सा अङ्ग कट जायगा। किसी के साथ रोटी खाते समय उनसे विचारों और भावों का आदान-प्रदान होता है; पान-दान बैठने में श्वासों तक में सम्पर्क हो जाता है। किसी ऐसे

व्यक्ति के साथ, जिसका रहन-सहन, आचार-विचार सर्वथा भिन्न हैं, भोजन करने से विचार प्रभावित होते हैं और हृदय तथा मस्तिष्क की स्वाभाविक शान्ति क्षुब्ध हो जाती है। सबको विदित है कि जितना तथा जितने प्रकार का भोजन हम जाड़े में पचा लेते हैं उतना गर्मी में नहीं। ग्रीष्म ऋतु में सभी को भोजन सँभाल कर करना पड़ता है। ठीक उसी प्रकार अंगरेज लोग ठण्डे देश के रहने वाले हैं उनके यहाँ कुछ भी और किसी प्रकार भी खाकर पचाया जा सकता है, परन्तु हमारा भारतवर्ष अपेक्षाकृत गरम देश है फलतः यहाँ पर रोटी के सम्बन्ध में भी सावधान रहने की आवश्यकता है। कहा जा सकता है कि और भी गरम देश हैं जहाँ पर इस प्रकार के भेद-भाव नहीं हैं। इससे क्या हो सकता है—इसका तात्पर्य यही है कि वहाँ के प्राचीन अथवा मध्यकालींन विद्वानों तथा पथ-प्रदर्शकों का सांस्कृतिक विश्लेषण इस सूक्ष्मता तक पहुँच ही नहीं सका।

वर्त्तमान परिस्थितियों में इस प्रकार की राग अलापना सम्भवतः अच्छा नहीं माना जायगा परन्तु इस सम्बन्ध में मौन रह जाना भी वैसा ही है जैसा कि किसी व्यक्ति के घातक रोग के वास्तविक कारण इसलिए न बताये जायँ कि उन्हें सुनकर वह अप्रसन्न तथा रुष्ट हो जायगा। हमारी संस्कृति की यह विशेषता है कि अपनी भौगोलिक परिस्थितियों और कठिनाइयों को नियंत्रित करने के लिए भोजन, सोना, जागना, उठना, बैठना, आदि पाशविक अथवा प्रारम्भिक आवश्यकताओं के अनुरूप भी अनेक नियम तथा उपनियम प्रस्तुत हैं। इन नियमों को तोड़ने से प्रत्यक्ष क्षति नहीं दिखाई दे सकती परन्तु उससे शनैः शनैः ऐसी हानियाँ होती चलती हैं जिनकी पूर्त्ति ही सम्भव नहीं। वर्तमान काल में हम भारतवासियों का जीवन इतना दुखी क्यों है? हमारे सुख का स्तर संसार में सर्वोच्च रहा है। फलतः अपने अतीत की तुलना में प्रस्तुत जीवन को निकृष्ट तथा निम्नकोटि का देख कर हमारा हृदय उद्विग्न हो उठता है। हो सकता हैं कि हमारा प्रस्तुत जीवन भी अन्य देश वालों से कई दृष्टिकोणों में अच्छा हो परन्तु इससे हमें स्वयं सन्तोष नहीं। त्याग, उदारता, अध्यवसाय, आदि हमारे गुण आज कल हममें से लुप्त से हो गये हैं; हमारी सन्तानें उत्तरोत्तर दुर्बल होती जा रही हैं और हमारे पारस्परिक व्यवहार का स्तर गिरता जा रहा है।

पाठकों को यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि जाति-पाँति के भेद-भाव को यहाँ पर उभाड़ने का प्रयत्न किया जा रहा है—कदापि नहीं। यहाँ पर यही प्रमाणित किया जा रहा है कि 'रोटी' और 'बेटी' के व्यवहार में अधिकाधिक

सामञ्जस्य होने की आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में जिस अनुपात से हम लोग बेटी के व्यवहार में उदार होने का साहस कर सकते हैं उसी से रोटी के सम्बन्ध में भी होना चाहिए। जिनके साथ हम-आप खाने-पीने का सम्पर्क स्थापित करेंगे उनकी सन्तानों का हमारी सन्तानों के प्रति और हमारी का उनकी के प्रति आकर्षित होना स्वाभाविक तथा अधिकाधिक उपयोगी है। उन सन्तानों की भावनाओं को कुचलने से उनके कई महत्त्व-पूर्ण संस्कार समाप्त से हो जाते हैं। आज-कल के ऊँचे तथा मध्यम परिवारों में इस प्रकार की दुर्घटनाएँ प्रायः हुआ करती हैं। भेद-भाव उभड़ने के डर से इतनी बड़ी समस्या को योंही नहीं छोड़ देना है। अंगरेजों ने तो न समझ सकने के कारण इसकी पूरी खिल्लियाँ उड़ाई और भारतवासियों को पूर्ण विश्वास करा दिया कि खान-पान का भेद-भाव हास्यास्पद तथा हेय है। इसी आधार पर हम लोगों ने इन सब नियमों का याद करना भी उचित न समझा। कहना हमें यह है कि देश, काल और पात्र के सिद्धान्त पर इन नियमों का अपने जीवन में जहाँ तक पालन कर सकते हों करें।

<u>वर्त्तमान-शिक्षा</u>—भारतवर्ष की वर्त्तमान शिक्षा को कई दृष्टिकोणों से शिक्षा मानना उचित नहीं; इसे उदर-पूर्ति का साधन मानना भी असङ्गत ही होगा—क्योंकि इससे तो बेकारों की संख्या बढ़ती ही जा रही है। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जिस शिक्षा-पद्धति को भारतवर्ष में कार्यान्वित किया गया वह पूर्ण-रूप से 'ज्ञान-मूलक' तथा 'व्यक्तित्व प्रधान' है और यहाँ की 'कर्म-प्रधान' संस्कृति की पोषिका 'भक्ति-मूलक' शिक्षा थी। अंगरेजी शिक्षा-पद्धति ब्रिटेन के लिए अत्यन्त उपयोगी होते हुए भी, जब व्यक्तित्व-प्रधान संस्कृति वाले ही देशों के लिए (जर्मनी, फ्रांस, इटली, आदि के लिए) अधिक उपयोगी न हो सकी तो भारतवर्ष के लिए कहना ही क्या है! अंगरेजी शिक्षा-पद्धति की विशेषताओं को अपनाते समय अन्य देश अपनी स्थानीय विशेषताओं के अनुरूप काट-छाँट करने के लिए स्वतंत्र थे। वे देश केवल ढाँचा अपनाये होंगे। भारतवर्ष पर तो ढाँचा, व्यवस्था, साहित्य, सन्देश, आदि सभी कुछ लाद दिये गये। पर ऐसा अंगरेजों ने किसी कुत्सित भावना से जान-बूझकर नहीं किया था। उन्होंने वैसा ही किया जैसा कि अमेरिका, आस्ट्रेलिया, कैनेडा, आदि उपनिवेशों में करते आये थे।

सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी भारतीय वातावरण उस समय अत्यन्त क्षुब्ध हो चुका था। अपनी विशेषताओं के प्रति जब तत्कालीन नेतागण ही—राम मोहनराय, आदि ही—उदासीन थे तो औरों को दोष देना व्यर्थ है।

भारतीय विद्वान अपनी संस्कृति के नियम, संयम, आदि से ऊब से गये थे। परन्तु स्मरण रहना चाहिये कि किसी देश की विकसित संस्कृति को, विशेषतया भारतीय संस्कृति को, चाहे परिस्थितियों के हेर-फेर से उसमें कई दोष आगये हों, भुला देना अथवा दबा देना दुष्कर ही नहीं प्रत्युत असम्भव है। एक नहीं—कई मैकाले तथा राम मोहन राय मिलकर ऐसा नहीं कर सकते। अमेरिका, आस्ट्रेलिया, आदि देशों में अंगरेजों को अपनी शिक्षा-पद्धति, ज्यों की त्यों कार्यान्वित करने में, सफलता इस लिए मिली कि वहाँ कोरी पटिया पर लिखना आरम्भ करना था। वहाँ के लोगों को कुछ भी और किसी भी प्रकार से सिखाया जा सकता था। नया सीखने में उन देशों को कुछ त्यागना अथवा भूलना नहीं था। कुछ भी हो, उस शिक्षा-पद्धति से इस देश को अपार क्षति पहुँची है।

बड़े-बड़े नगरों में अंगरेजी स्कूल खोले गये। ईसाई धर्म का प्रचार जोरों से हो रहा था और इन लोगों की ओर से भी कई स्कूल खुले। मिशन के अङ्गरेजी स्कूलों में प्रत्येक भारतीय बच्चे को कुछ न कुछ ईसाई धर्मके सिद्धान्त पढ़ने पड़ते थे। कट्टर वर्ग के लोग आरम्भ में अपने बच्चों को पढ़ाने में ठिठके। परन्तु उदर-पूर्त्ति की समस्या सर्वदा से टेढ़ी रही है। इसकी वेदी पर सभी योजनाएँ ध्वस्त हो जाती हैं। सरकारी नौकरियाँ छोटी ही मोटी सही—केवल अंगरेजी जानने वालों को मिलती थीं। साथ ही, पाठशालाओं और मकतबों को भी कम्पनी की ओर से उचित अनुदान मिलता था। इन संस्थाओं की उपयोगिता और विशेषताओं को अंगरेज समझ नहीं पाये थे फलतः उनमें काट-छाँट हेर-फेर करना उन्होंने उचित न समझा। कुछ लोगों की धारणा है कि पारस्परिक भेद-भाव को कायम रखने के लिए उन्होंने पाठशालाओं और मकतबों को प्रोत्साहन दिया। परन्तु ऐसा सोचने के लिए कोई ठोस आधार नहीं है। उस समय भारतीय वातावरण इतना क्षुब्ध था कि अंगरेज कुछ भी कर सकते थे।

सन् १८५७ ई० तक ऐसे स्कूलों तथा उनमें पढ़ने वाले छात्रों की संख्या सीमित थी। फलतः छात्रों के व्यक्तिगत जीवन में चाहे जो परिवर्तन हुए हों परन्तु समाज अथवा वातावरण पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। विद्रोह के उपरान्त प्रत्येक क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होने लगे। राजनीतिक प्रगति के साथ-साथ वैज्ञानिक आविष्कार भी (रेल, तार, आदि भी) अपना प्रभाव दिखाने लगे। स्कूल और कालेजों की संख्या बढ़ने लगी और पाश्चात्य पद्धति के अनुसार विश्वविद्यालय खुलने लगे। भारतीय संस्कृति तथा समाज

के अनुकूल कुछ भी सामग्री न रखते हुए भी अंगरेजी शिक्षा का प्रचार कई कारणों से खूब बढ़ने लगा। प्रथम कारण था भेद-भाव का अभाव, इस शिक्षा में जाति-पाँति का भेद-भाव नहीं। दूसरे विचार, तर्क, आदि को स्वतंत्रता पूर्वक विकसित करने का सुअवसर इस पद्धति में विधिवत् मिलता है। तीसरे शासकों से सम्पर्क इसी शिक्षा के माध्यम से सम्भव था। चौथे, सरकारी नौकरियाँ सुलभ थीं।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक केवल उच्च वर्ग के लोग—विशेषतया नगरों में रहने वाले—इस शिक्षा को प्राप्त करते थे। मध्यम वर्ग के लोग सामाजिक कट्टरता के (जाति-पाँति छूत-अछूत, आदि के) कारण बहुत दिन तक इससे उदासीन रहे। परन्तु एक ओर आर्य-समाज के प्रचार और दूसरी ओर न्यायालय-व्यवस्था, रेल-यात्रा, आदि से लोगों के विचार बदलने लगे। बीसवीं शताब्दी के आते-आते इस शिक्षा का प्रचार बढ़ गया। न्यायालयों में अंगरेजी भाषा तथा व्यवहारों का प्रयोग देखकर छोटे-मोटे जमीनदार भी भूमि बन्धक रखकर अपने लड़कों को पढ़ाने लगे। १६१६ ई० में कुछ महत्त्व-पूर्ण वैधानिक परिवर्तन हुए और उनके फलस्वरूप भारतीय लोग शिक्षा मंत्री तक होने लगे। शिक्षा की प्रगति तीव्रतर होगई। सन् १६३० तक विद्यार्थियों ने राजनीतिक आन्दोलनों में नेताओं के खूब हाथ बँटाये। परन्तु इसके उपरान्त वेकारी की समस्या ऐसी बढ़ी कि सभी लोग चौंक से गये। विभिन्न प्रकार की 'समितियाँ' नियुक्त की गईं। सन् १६४० ई० तक अनुशासन सम्बन्धी समस्या बहुत गम्भीर हो गई। प्रस्तुत समय का तो कहना ही क्या है? गली-गली में फिरने वाला कोई भिखारी भी इस शिक्षा, इस शिक्षा-पद्धति, इन शिक्षकों तथा इन विद्यार्थियों की सफल आलोचना कर लेता है।

वर्तमान शिक्षा का बाह्यरूप अर्थात् सङ्गठन, प्रबन्ध, आदि और भी घातक है। शिक्षा के प्राणमें अर्थात् उद्देश्य, पाठ्यक्रम आदि में तो भारतीयता की झलक कहीं-कहीं और कभी-कभी मिल भी जाती है पर जहाँ तक शिक्षा के शरीर (प्रबन्ध, व्यवस्था, आदि) का सम्बन्ध है, हमें पूर्ण रूप से हताश होना पड़ता है। शिक्षकों की नियुक्ति, पदोन्नति, अवकाश प्राप्ति, दण्ड, स्थानान्तर, आदि उन्हीं नियमों और सिद्धान्तों के अनुसार होते हैं जिनसे कि अन्य विभागों में किये जाते हैं। साधारणतः ट्रेनिङ्ग कालेजों में शिक्षक प्रशिक्षित होते हैं, पब्लिक सर्विस कमीशन नियुक्ति के लिए चुनाव करता है, सरकार उनकी नियुक्ति, पदोन्नति, आदि करती है तथा उन्हें दण्डित, पुरस्कृत, स्थानान्तरित, आदि करती है; पाठ्यक्रम कहीं और बनते हैं तथा

परीक्षाओं की व्यवस्था कहीं और होती है; इन्सपेक्टर लोग निरीक्षण करते हैं। ज्ञानमूलक शिक्षा तथा व्यक्तित्व-प्रधान संस्कृति के लिए तो इतने रोक-थाम तथा अधिक से अधिक संख्या में अधिकारियों के अलग-अलग पद, उपयोगी हैं। अपने-अपने पदों पर अधिक से अधिक लोगों को व्यक्तित्व-प्रदर्शन के अवसर मिलते हैं परन्तु भक्ति-मूलक शिक्षा तथा कर्म-प्रधान संस्कृति के लिए ये सब घातक हैं।

उपर्युक्त व्यवस्था केवल सरकारी संस्थाओं में है। इनकी संख्या प्रत्येक प्रान्त में इनी-गिनी है। शिक्षा का अधिकांश सम्पादन गैर-सरकारी संस्थाओं द्वारा होता है। वहाँ के शिक्षकों की दशा अधिक दयनीय है। उनकी नियुक्ति, पदोन्नति, आदि प्रबन्धकों की कृपा पर निर्भर है। इन संस्थाओं की आर्थिक दशा प्रायः सन्तोषजनक नहीं होती और शिक्षकों के वेतन में कभी-कभी अवैधानिक कटौती हो जाती है। उनका कटा-छँटा वेतन भी ठीक समय पर नहीं मिलता—कभी-कभी तो तीन-चार महीनों के उपरान्त मिलता है। इन संस्थाओं में शिक्षकों की संख्या पर्याप्त नहीं होती और फलतः सभी शिक्षक कार्याधिक्य से पिसते रहते हैं। अपनी स्थिति सुधारने के लिए यथासम्भव प्राइवेट-ट्यूशन करते हैं और कुछ तो गुप्त रूप से अन्य व्यवसायों में आंशिक रूप से लगने के लिए विवश होते हैं। इन संस्थाओं को सरकार कुछ अनुदान प्रतिवर्ष देती है परन्तु पर्याप्त नहीं होता। यह वितरण भी प्रबन्धकों के व्यक्तिगत प्रभाव पर निर्भर है। अधिक छात्रों वाली संस्था को कम रुपया और कम छात्रों वाली को अधिक प्राप्त हो जाता है।

सांस्कृतिक संघर्षों के फलस्वरूप पारस्परिक विश्वास का स्तर बहुत गिर गया है। शिक्षाधिकारी गण अपने मातहतों को निकम्मा घोषित करने में अधिक गौरवान्वित होने लगे हैं; सहानुभूति और सद्भावना का हमारे व्यवहार से वहिष्कार सा हो गया है। अधिकारियों और मातहतों में जहाँ कहीं थोड़ा-बहुत उचित सामञ्जस्य दीख पड़ता है, उसका आधार व्यक्तिगत सम्पर्क होता है न कि निर्धारित दायित्वों का सुसम्पादन। व्यक्ति-विशेष को आगे लाने के लिए कोई न कोई नई योजना तैयार कर ली जाती है अथवा कोई नया काम तत्काल-उपयोगिता का घोषित कर दिया जाता है और उसकी रूप-रेखा ऐसी प्रस्तुत की जाती है कि वही व्यक्ति उसके लिए सर्वाधिक योग्य दिखाई पड़ता है। यह परिपाटी प्रत्येक विभाग में है और अंगरेजों के समय से चली आ रही है। परन्तु अंगरेजों की 'माई मैन' (मेरा आदमी) की परिभाषा बड़ी संकुचित है—कभी दो-एक व्यक्तियों के लिए वे ऐसा करते थे। यहाँ

देख सकेगा ही। यदि भाग्यवश ये दोनों काम किसी न किसी प्रकार हो जायँ तो यह निश्चय नहीं कि शिक्षक अपनी घोर तपस्या के लिए उचित रूप में पुरस्कृत तथा सम्मानित हो जायगा ही। इतनी डवाडोल परिस्थिति में हमारे शिक्षक-गण अध्यापन से यदि उत्तरोत्तर उदासीन होते जाते हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? जब तक उनके शरीर में पर्याप्त शक्ति होती है और उनका स्वास्थ्य अच्छा रहता है तब तक वे इन विषम परिस्थितियों का निश्चिन्त सामना करते रहते हैं। इन्द्रियों के शिथिल होते ही अन्य लोगों की भाँति शिक्षक-गण भी अतीत की ओर झुकने के लिए विवश होते हैं। अतीत के गुरुओं की प्रतिष्ठा का ध्यान करके उनका उदासीन हो जाना स्वाभाविक ही है। मुझे प्रसन्नता है कि वे महान शिक्षाधिकारी मेरी इन बातों से बहुत कुछ सन्तुष्ट हुए थे।

अन्य विभागों की भाँति शिक्षा में भी अफसरी-मातहती की अनेक सीढ़ियाँ तथा उप-सीढ़ियाँ बनती जा रहीं हैं। स्वतंत्रता के उपरान्त नाना प्रकार की नवीन योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं। फलतः कार्य की अधिकता तथा वातावरण के सांस्कृतिक संघर्ष के फलस्वरूप अधिकारियों का काम में मन कम लग रहा है। कार्यालय के बाबुओं को कौन कहे—चपरासियों की भी बन आई है। चपरासी की अनुमति बिना साहबों के दर्शन तथा बाबुओं की कृपा के बिना कोई सूचना सम्भव नहीं। यही तारतम्य प्रत्येक विभाग में है। परन्तु सबसे बड़ा अन्तर यह है कि अन्य विभागों का बहुत कुछ सम्बन्ध कागज-पत्रों तथा वयस्कों और प्रौढ़ों से होता है। कागज-पत्रों पर अशुद्ध को शुद्ध करके यदि संक्षिप्त हस्ताक्षर कर दिया जाय तो कोई अन्तर नहीं पड़ता। उधर, वयस्कों तथा प्रौढ़ों की बुद्धि और उनके संस्कार परिपक्व होते हैं। उन्हें डाँटने-फटकारने से उनके भले-बुरे संस्कारों पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है। परन्तु अबोध बच्चों की मनोवृत्तियाँ अधिकाधिक कोमल होती हैं—कच्ची और गीली मिट्टी के समान। इनमें प्रत्येक धक्के का अमिट निशान बन जाता है। किसी अधिकारी या बाबू या चपरासी का लड़का जब अपने मास्टर साहब को किसी सूचना के लिए कार्यालय के द्वार-द्वार तथा टेबुल-टेबुल प्यासे बन्दर की भाँति छटपटाते देखता है तो उसकी दृष्टि में वह शिक्षक ही नहीं गिरता प्रत्युत उनकी दी हुई शिक्षा भी गिर जाती है। फलतः एक ओर तो शिक्षक का पढ़ाने में मन नहीं लगता है और दूसरी ओर जो कुछ वे पढ़ाते हैं उसमें छात्रों का विश्वास नहीं होता।

अध्यापन कार्य में प्रायः वे ही लोग लग रहे हैं जिन्हें कोई ऐसा कार्य

नहीं मिलता जिसमें नाम और इनाम दोनों ही की प्रचुरता हो। ऐसे लोग हताश तथा विपन्न होते हैं। इस प्रकार के अभाव-पूर्ण तथा तृषित व्यक्ति किसी भी कार्य के सुसम्पादन के लिए उपयुक्त नहीं होते और अध्यापन के लिए तो किसी प्रकार की भी नहीं। प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षकों को तो प्रशिक्षित होना अनिवार्य है परन्तु उच्च शिक्षा के अर्थात् महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के शिक्षकों के लिए ऐसी कोई भी व्यवस्था नहीं है। इनमें उच्च श्रेणियों के पास होने वाला कोई भी व्यक्ति शिक्षक हो सकता है। यह उचित नहीं दीखता। जिस प्रकार कृपण व्यक्ति अपनी अतुल सम्पत्ति का सदुपयोग नहीं कर पाता और आवश्यकता से अधिक उदार व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को व्यवस्थित नहीं कर पाता ठीक उसी प्रकार उच्च श्रेणियों में में परीक्षाएँ पास करने वाले वे व्यक्ति जो संकुचित हृदय वाले हैं अथवा आवश्यकता से अधिक उदार हैं, अच्छे शिक्षक नहीं हो पाते। जो लोग संकुचित स्वभाव के होते हैं उनमें व्यक्तिगत सच्चरित्रता तो फूट-फूट कर भरी रहती है परन्तु उनके हृदय में इतनी सहन-शीलता नहीं होती कि भिन्न-भिन्न प्रकृति के सौ-डेढ़सौ छात्रों को, कुछ ही समय के लिए सही, एक साथ स्थान दे सकें। उधर, अत्यधिक उदार शिक्षक सभी छात्रों को शीघ्र से शीघ्र अपने हृदय में समेटने के प्रयत्न में प्रायः अपने अध्यापन को अरुचिकर बना देते हैं।

प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षकों का प्रशिक्षण-स्तर गिरता जा रहा है। अंगरेजी शासन में 'प्रशिक्षण' और 'निरीक्षण' को समान महत्त्व दिया जाता था। दोनों का सम्पादन राजकीय संस्थाओं तथा अधिकारियों द्वारा होता था। सन् १९२१ ई० तक उत्तर प्रदेश में राजकीय महाविद्यालयों (डिग्री कालेजों) और प्रशिक्षण महाविद्यालयों के प्राध्यापकों को लगभग समान वेतन मिलता था। राजकीय डिग्री कालेज तोड़ दिये गये। प्रशिक्षण महाविद्यालयों के प्राध्यापकों का वेतन काटते-काटते इतना घटा दिया गया है कि इस समय उनको और माध्यमिक विद्यालयों के सहायक अध्यापकों को समान वेतन मिल रहा है। यही नहीं, निरीक्षण-अधिकारी तो प्रत्येक जिले में नियुक्त किये गये और प्रशिक्षण का कार्य गैर-सरकारी संस्थाओं को सुपुर्द हुआ। फिर भी प्रशिक्षण-महाविद्यालयों की प्राध्यापकी के लिए दो-तीन कारणों से लोग लालायित तथा उत्सुक रहते थे। प्रथम तो यह कि ये संस्थाएँ प्रयाग, लखनऊ, वाराणसी, आगरा, आदि स्थानों में स्थापित हैं। दूसरे, राजकीय संस्थाओं में ये सबसे ऊँची थीं और इनमें कार्य करने से लोगों

को आगे बढ़ने में सुविधाएँ मिलती थीं। परन्तु नैनीताल, ज्ञानपुर, और रामपुर के राजकीय महाविद्यालयों के स्थापित हो जाने से परिस्थिति भिन्न हो गई है।

अध्यापन के लिए प्रशिक्षण का उपयोग प्रत्यक्ष तथा आन्तरिक है और 'निरीक्षण' का परोक्ष तथा वाह्य। यदि शिक्षक ठीक से प्रशिक्षित नहीं किये गये हैं और उनका अध्यापन उचित रूप में नहीं हो रहा है तो निरीक्षण किस बात का होगा? निरीक्षक लोगों का प्रशिक्षण भी तो इन्हीं संस्थाओं में हुआ रहता है। फिर भी इन संस्थाओं के प्रति उत्तर प्रदेश की सरकार की उदासीनता क्यों है—कहा नहीं जा सकता। उपर्युक्त तीनों डिग्री कालेजों के खुल जाने से स्थिति और गम्भीर हो गई। उनमें ऊँचे-ऊँचे वेतन के प्राध्यापक नियुक्त होने लगे। प्रशिक्षण-महाविद्यालय एक प्रकार से खाली होने लगे। कई अनुभवी प्राध्यापक अधिक वेतन की स्वाभाविक लालच में उन डिग्री कालेजों में जाने के लिए विवश हुए। प्रशिक्षण महाविद्यालयों के प्राध्यापकों के कर्त्तव्य तो वही हैं जो सन् १९२१ के पूर्व थे—प्रत्युत उससे अधिक हैं, परन्तु उनका वेतन काट दिया गया है। परम्परा के अनुसार ये प्रध्यापक उस समिति के सदस्य बनाये जाते हैं जो माध्यमिक विद्यालयों (इन्टरमीडियट कालेजों) के निरीक्षण के लिए निर्मित होती है। भला जिला-विद्यालय-निरीक्षकों के सम्मुख वे कितना निष्पक्ष होने का साहस कर सकते हैं। अब तो (१९५६–५७ से) डिप्टी इन्सपेक्टर भी हर प्रकार से इन प्राध्यापकों से ऊँचे कर दिये गये हैं। सन् १९३१ तक हेडमास्टर और प्राध्यापक समान स्तर पर थे और डिप्टी-इंसपेक्टर इनसे नीचे स्तर पर। सन् १९३१ से डिप्टी-इंसपेक्टर के बराबर प्राध्यापकों को कर दिया गया और अब उनसे भी घटा दिया गया है।

शिक्षकों को अध्यापन-प्रणाली जानने के साथ-साथ एक कुशल पहचानने वाला भी होना चाहिए ताकि छात्रों की विभिन्न रुचि, प्रवृत्ति, आदि को वह सरलता और शीघ्रता से पहचान ले। शिक्षकों में इस कला को अंकुरित, पुष्पित तथा विकसित करने वाले अनुभवी प्राध्यापकों का आजकल के प्रशिक्षण महाविद्यालयों में अभाव है। प्राध्यापकों का स्थायी स्थान तो रहता है प्रशिक्षण महाविद्यालयों में परन्तु वेतन-वृद्धि की लालच में वे अन्य-अन्य ऐसे पदों पर कार्य करने लगते हैं जिनका प्रशिक्षण से कोई भी सम्बन्ध नहीं होता और जब प्रशिक्षण सम्बन्धी किसी ऊँचे पद का चुनाव होता है तो अपनी कागजी सीनियारिटी के बल पर प्रशिक्षण के उन ऊँचे कार्य के लिए चुन लिये जाते

हैं चाहे उससे नीचे वाले अपने स्थायी पद पर एक दिन भी कार्य न किये हों। फलतः परिस्थिति यह है कि प्रशिक्षण के साधारण पद पर वास्तव में कार्य करने वाले उससे सम्बन्धित ऊँचे पद पर नहीं पहुँच पाते और ऊँचे पद पर काम करनेवालों को उससे सम्बन्धित साधारण कार्य का अनुभव नहीं होता। प्राध्यापकगण दत्तचित्त होकर काम इसलिए नहीं कर पाते कि उन्हें वेतन वही मिलता है जो कि उन्हें इंटरमीडियट कालेजों में मिलता था और साथ ही उनकी पदोन्नति प्रशिक्षण के उच्च पदपर न होकर अन्यत्र होगी। प्रशिक्षण के ऊँचे पद वाले अधिकारी आत्मविश्वास के साथ कार्य इसलिए नहीं कर पाते कि उन्हें नीचे के कार्य का वास्तविक अनुभव या तो बिलकुल नहीं रहता है या अपर्याप्त। इस प्रकार प्रशिक्षण महाविद्यालयों में उन कुशल तथा अनुभवी प्राध्यापकों तथा ऊँचे अधिकारियों का अभाव है जिनके कि पथ-प्रदर्शन में छात्राध्यापकों में पहचान की क्षमता का विकास सम्भव हो सकता है। संक्षेप में वर्त्तमान राजकीय प्रशिक्षण महाविद्यालय रेलवे के 'प्रतीक्षालय' के समान हो गये हैं।

प्रशिक्षण तथा प्रशिक्षण महाविद्यालयों की प्रस्तुत दयनीय दशा का दायित्व सरकार पर है। इन्टरमीडियट कालेजों के सहायक अध्यापक जब प्राध्यापक नियुक्त होते हैं तो आर्थिक दृष्टिकोण से उनका घाटा होता है। इंटरमीडियट कालेज छोटे मोटे नगरों में भी हैं और वहाँ पर अपेक्षाकृत जीवन-निर्वाह थोड़े में होता है। साथ ही, वहाँ पर प्राइवेट ट्यूशन करना भी अनुचित नहीं। इधर प्रशिक्षण महाविद्यालयों की परम्परा उस समय की निर्धारित है जब कि यहाँ के प्राध्यापक बहुत ही ऊँचे वेतन पर काम करते थे। वर्त्तमान प्राध्यापकों को पेट काट-काट कर अपनी वाह्य मर्यादा रखनी पड़ती है। कितनी ही कठिनाई में क्यों न हों परन्तु प्राइवेट ट्यूशन नहीं करते। खेद का विषय है कि सरकार इस दुर्व्यवस्था के प्रति उदासीन है। इस उदासीनता का आधार कोई शैक्षिक सिद्धान्त नहीं हो सकता। इस प्रान्त के प्रथम दो भारतीय शिक्षा-सञ्चालक अप्रशिक्षित थे। हो सकता है कि प्रशिक्षण की उपयोगिता से या तो वे स्वयं पूर्ण रूपसे सहमत न रहे हों अथवा सरकार के सामने इसकी उचित वकालत न कर सके हों। तृतीय शिक्षा-सञ्चालक का तो अधिकांश समय प्रशिक्षण तथा प्रशिक्षण महाविद्यालयों से ही सम्बन्धित था परन्तु उन्होंने अपने शिक्षा-सञ्चालक की लगभग सारी शक्ति बेसिक शिक्षा के ही कल्याण में लगा दी। कुछ भी हो, सरकार का परम पुनीत दायित्व है कि शिक्षा के मेरुदण्ड प्रशिक्षण विद्यालयों और महाविद्यालयों की ओर उचित ध्यान दे।

गाँवों में तो अभी कम परन्तु नगरों में पर्याप्त, कन्याएँ भी लगभग इसी शिक्षा को प्राप्त कर रही है। जिस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में किसी शिक्षा-व्यवस्था के अभाव में भारतीय नेताओं ने विदेशी शिक्षा को ही सहर्ष अपनाया उसी प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते-होते किसी अन्य उपयुक्त शिक्षा के अभाव में भारतीय लड़कियाँ भी यही शिक्षा पाने लगीं। प्राथमिक और उच्च कक्षाओं में कहीं-कहीं सह-शिक्षा की भी व्यवस्था है। अभारतीय शिक्षा जब तक बालकों तक ही सीमित थी तब तक तो उसका प्रभाव और जमाव घर के बाहर तक ही था; परन्तु जबसे कन्याएँ पढ़ने लगी हैं, तब से उसका प्रवेश घर में भी हो चला है। सामाजिक रूढ़ियों की दृढ़ता और पढ़ी-लिखी लड़कियों की संख्या अभी कम होने से इस स्त्री-शिक्षा से उतनी अधिक सांस्कृतिक हानि नहीं हो पाई है जितनी की सम्भावना थी। परन्तु यूरोप के दाम्पत्य जीवन के वर्णनों से प्रभावित होकर यहाँ के शिक्षित नव-दम्पतियों के स्वास्थ्य प्रायः गिरते जा रहे हैं। यूरोप शीत-प्रधान महाद्वीप है—वहाँ के निवासियों में उत्तेजना अपेक्षाकृत कम होती है। उन्हें भारतवासियों से अधिक तथा विविध आङ्गिक और शारीरिक सञ्चालन करने पड़ते हैं। भारतवर्ष यों ही गरम देश है—वहाँ की क्रीड़ाएँ और उनके अभ्यास यहाँ अवांछनीय हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक इस शिक्षा के दोष प्रकट न हो सके। कई शताब्दियों तक शिक्षा की कोई व्यवस्था न होने से यहाँ के लोगों ने इसी शिक्षा के तारतम्य को बड़े चाव से अपनाया। इस शिक्षा के शिक्षित लोगों को शीघ्रता से सरकारी नौकरियाँ मिलने लगीं। फलतः लोग और आकर्षित हुए। अंग्रेजी स्कूलोंमें शिक्षा पाने वाले विद्यार्थियों के आचार-व्यवहार उनके अभिभावकों को उसी समय खटकते अवश्य रहे होंगे, परन्तु उन विचित्रताओं को नई शिक्षा का आवश्यक अङ्ग समझ कर वे बेचारे अपने मुँह में ताला लगा लेते थे। अंग्रेजी आचार-व्यवहार में उन नवयुवकों को अभूतपूर्व स्वतंत्रता तथा स्वच्छन्दता मिली; शासन में सरकारी पद मिले और घरवालों का मुँह बन्द करने के लिए अधिकाधिक पैसा मिला। इसकी कलई तो तब (बीसवीं शताब्दी के आरम्भ होते-होते) खुलने लगी जब कि उन्नीसवीं शताब्दी के उपर्युक्त नवयुवकों की अवस्था ढली और उनका पाला अपनी स्वच्छन्दता-प्रिय सन्तानों से पड़ा। उनकी ग्लानि और निराशा की सीमा न रही जब वे लोग अवकाश-ग्रहण करके घर बैठे और उनके पुत्र अपनी-अपनी पत्नियों को लेकर नौकरियों पर चले गये।

परन्तु करते क्या ? विवश थे। परिवार में पैसा खूब आ रहा था और लोग खा-पीकर मस्त रहने लगे।

ज्यों-ज्यों यह शिक्षा बढ़ती गई त्यों-त्यों ये दोष भी बढ़ते गये। परन्तु दो कारणों से इस शिक्षा का प्रसार उत्तरोत्तर तीव्रतर होता गया। प्रथम यह कि अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग पैसा खूब पैदा करते थे। पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क में आ जाने से हमारी संस्कृति को सबसे बड़ा धक्का यह लगा कि हमारा दृष्टिकोण भी प्रधानतया आर्थिक होता गया। पैसा के आधार पर आदमी बड़ा-छोटा समझा जाने लगा। फलत: पैसा पैदा करने वाला होने के कारण शिक्षित लोगों की सभी विचित्रताओं को घर वाले सहन करते जाते थे। दूसरा कारण यह था कि प्रस्तुत राष्ट्रीयता की भावना का उद्रेक और विकास इसी शिक्षा से हो रहा था। राजनीतिक आन्दोलनों में ये लोग अत्यन्त उपयोगी प्रतीत हुए। इस प्रकार इस शिक्षा को नेताओं से भी विशेष प्रोत्साहन मिलने लगा। फिर, अन्य किसी प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था न होने से लोग कर ही क्या सकते थे ? साथ ही साथ एक तीसरा कारण यह भी था कि सन् १६३० ई० तक अंग्रेजी पढ़ने लगभग वे ही छात्र जाते थे जो पढ़ने में प्रतिभा-सम्पन्न होते थे अथवा ऊँचे परिवारों के थे। अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण वे दूषित शिक्षा को पाते हुए भी समाज के लिए बहुत निकम्मे नहीं हो पाते थे।

सन् १६३० के उपरान्त पढ़े-लिखे लोगों को नौकरियाँ कठिनाई से मिलने लगीं। कितनों को विवश होकर घर बैठना पड़ा। विचित्र आचार-व्यवहार के कारण न घर पर उन्हें चैन मिलती थी और न घर को इन महानुभावों से। यदि ध्यान से देखा जाय तो वास्तव में उनका शरीर इतना कोमल अथवा दुर्बल नहीं हो जाता था कि वे घर का काम-काज न कर सकते हों। शरीर तो परिस्थितियों के अनुकूल फूल से भी अधिक कोमल और पत्थर से अधिक कठोर हो जाता है। उनके विचित्र व्यवहार ही घर वालों के लिए असह्य हुए। पढ़ते समय कालेज अथवा विश्वविद्यालय से और कालान्तर में नौकरी से दस-पाँच दिन की छुट्टियों पर वे लोग आते थे तो उनके विविध नखरों को घर वाले किसी न किसी प्रकार सहन कर लेते थे और सहर्ष उन्हें सभी सुविधाएँ देते थे। अंग्रेजी रहन-सहन तथा अंग्रेजी समाज की स्वतंत्रता भारतीय परिवारों में लगातार रहने पर कहाँ नसीब हो सकती है ? अंग्रेजी शिक्षा के फलस्वरूप हमारे नवयुवकों में दो विशेषताएँ संक्रामक रूप में विकसित हो गई हैं। प्रथम यह कि बिना 'क्यों ?' तथा 'कैसे ?' की पूर्ति

से फल इसके वर्तमान रूप से—हमारे देश में शिक्षा को बहुत बड़ा धक्का पहुँच रहा है। भारतीय संस्कृति में 'सरस्वती' और 'लक्ष्मी' में पारस्परिक डाह और जलन कल्पित है। 'सरस्वती' का वाहन हंस और 'लक्ष्मी' का उल्लू निर्धारित है। परन्तु आजकल 'लक्ष्मी' ही 'सरस्वती' का आधार, प्रेरिका और पोषिका हो गई है। इस प्रकार समाज का दृष्टिकोण आर्थिक हो जाने से हमारे यहाँ शिक्षा का भी साग-सब्जी तथा आटा-चावल की भाँति मोल-तोल हो रहा है। इसी दाव-घात में एक ओर शिक्षकगण जानबूझ कर कक्षा में परिश्रम से पढ़ा नहीं रहे हैं और दूसरी ओर अभिभावकगण सस्ते से सस्ते किसी ऐसे तिकड़मी शिक्षक की तलाश में रहते हैं जो 'येन-केन प्रकारेण' १४ मई को (परीक्षा-फल के दिन) उनकी नाक रख दे। अभिभावक और शिक्षकों का वर्ष में केवल प्रवेश और परीक्षा-फल के अवसर पर सम्पर्क हो जाता है। बड़े आदमी तो इन अवसरों पर भी स्वयं न जाकर अपने मुंशी, मुनीम, आदि से काम चलाते हैं।

सरकार की भी शिक्षा-सम्बन्धी नीति सम्भवतः उसे ही स्पष्ट नहीं है। सुधार के विचार से विभिन्न समितियाँ बैठाई जाती हैं—कभी प्राथमिक शिक्षा के लिए, तो कभी माध्यमिक शिक्षा के लिए और कभी विश्वविद्यालयों के लिए—परन्तु शिक्षा (सम्पूर्ण) के लिए कोई समिति नहीं बैठती। फल यह होता है कि विश्वविद्यालय अपनी त्रुटियों का दायित्व माध्यमिक विद्यालयों पर टाल देते हैं और ये अपनी का प्राथमिक पर। फलतः सभी डाँट-फटकार प्राथमिक विद्यालयों के ही शिक्षकों पर पड़ती हैं। प्राथमिक शिक्षक एक तो पढ़े-लिखे कम होते हैं दूसरे निरीक्षकों की सतत डाँट-फटकार से उनका आत्म-बल यदि लुप्त नहीं तो कुण्ठित अवश्य हो जाता है। इन शिक्षकों को नगरों तथा ग्रामों में इनके छात्रों के सामने ही कोई भी डाँट सकता है। उपर्युक्त समितियाँ ऐसी समस्याओं तथा सांस्कृतिक और मौलिक अन्तरों पर मौन रहती है। वे केवल 'पाठ्यक्रम-परिवर्तन', 'शिक्षा-विधि-शोधन', 'नवीन-नामकरण', आदि से ही सम्बन्ध रखने वाली योजनाओं पर लम्बे-लम्बे विवरण तैयार करती है। किसी-किसी विवरण में—विशेषतया विश्वविद्यालय सम्बन्धी—शिक्षकों के वेतन का भी उल्लेख रहता है। विश्वविद्यालयों में तो वेतन पहले से ही अच्छे हैं; उनमें साधारण फेर-फार करके भी यश प्राप्त करना सरल होता है।

वर्तमान (भारतीय) शिक्षा की विशेषताएँ:—भारतवर्ष की वर्तमान शिक्षा की प्रथम विशेषता सामञ्जस्य-हीनता है। शिक्षा और संस्कृति में इतनी

करायें वे किसी आज्ञा का पालन नहीं कर सकते थे और दूसरे, 'आत्म-सम्मान' का भूत उन पर सर्वत्र सवार रहता है। लघुता-प्रधान भारतीय परम्परा में इन दोनों ही का खपना कठिन होता है। यदि ये कठिनाइयाँ न हों तो 'बेकारी' की समस्या हमारे देश में इतना नग्न ताण्डव कदापि नहीं कर सकती।

स्वतंत्रता के उपरान्त तो एक प्रकार से स्वच्छन्दता का साम्राज्य स्थापित हो गया है। शिक्षक और विद्यार्थी भी किसी प्रकार पीछे नहीं हैं। यदि विद्यार्थी-जीवन में शिक्षकों के परीक्षा-फल अच्छे नहीं रहे हैं तो प्रयत्नों द्वारा (लघुता-प्रधान उपचारों से) प्रशिक्षण महाविद्यालयों में प्रवेश पा जाते हैं; यदि प्रशिक्षण-काल में ठीक से नहीं चल पाये हैं तो 'कमीशन' के ऊपर जादू की लकड़ी फेरते हैं और यदि अध्यक्ष को उनका अध्यापन पसन्द नहीं है तो न जाने कैसे निरीक्षक (इन्सपेक्टर) को अपने काम से सन्तुष्ट कर लेते हैं—कहने का तात्पर्य यह है कि परिश्रम से अध्यापन सुधारने के अतिरिक्त वे सब कुछ करने में समर्थ हैं। यही दशा लगभग विद्यार्थियों की भी है। यदि कक्षाध्यापक असन्तुष्ट हैं तो अध्यक्ष से अभयदान प्राप्त कर लेते हैं; यदि अध्यक्ष भी रुष्ट हो गये तो एक ओर इस्सपेक्टर का द्वार खटखटाते हैं और दूसरी ओर परीक्षकों के आशीर्वाद के लिए प्रयत्नशील होते हैं और यदि इनमें से कहीं भी गोट न बैठा तो अत्यन्त उदार 'संविधान' तथा न्यायालय और अशरण-शरण वकील साहबान हई हैं। ये लोग भी ध्यान से अध्ययन करने के अतिरिक्त अन्य सब कुछ कर लेने में समर्थ हैं।

अभिभावकों की दशा और शोचनीय हो गई है। वे अपने बच्चों के लिए केवल अच्छा से अच्छा 'सर्टिफिकेट' चाहते हैं। यदि आप मध्यम वर्ग के किसी यथा-कथित सुसंस्कृत परिवार में जायँ और उनके बच्चे उद्दण्डता में लीन हों और कोकाहल के मारे बात-चीत करना भी कठिन हो रहा हो तो गृह-स्वामी तड़ से कह उठते हैं—

"भाई! क्या करें? नन्हें और मुन्ना अब बड़ी शैतानी करने लगे हैं—उन्हें कल से स्कूल अवश्य खदेड़ूँगा। लल्ला के लिए एक सस्ता-सा मास्टर रखना है। अब उसका इम्तहान करीब है—इस वर्ष भी पास न हुआ तो गजब हो जायगा ....।"

इसी से अभिभावकों की रुचि और उनके उद्देश्य का अनुमान लगाया जा सकता है। स्कूल जैसे कोई पागलखाना अथवा मवेशीखाना है जहाँ पर अपने सर की बला टाल दी जाती है। प्राइवेट ट्यूशन की प्रथा से—कम

लेकिन इसके वर्तमान रूप से—हमारे देश में शिक्षा को बहुत बड़ा धक्का पहुँच रहा है। भारतीय संस्कृति में 'सरस्वती' और 'लक्ष्मी' में पारस्परिक डाह और जलन कल्पित है। 'सरस्वती' का वाहन हंस और 'लक्ष्मी' का उल्लू निर्धारित है। परन्तु आजकल 'लक्ष्मी' ही 'सरस्वती' का आधार, प्रेरिका और पोषिका हो गई है। इस प्रकार समाज का दृष्टिकोण आर्थिक हो जाने से हमारे यहाँ शिक्षा का भी साग-सब्जी तथा आटा-चावल की भाँति मोल-तोल हो रहा है। इसी दाव-घात में एक ओर शिक्षकगण जानबूझ कर कक्षा में परिश्रम से पढ़ा नहीं रहे हैं और दूसरी ओर अभिभावकगण सस्ते से सस्ते किसी ऐसे तिकड़मी शिक्षक की तलाश में रहते हैं जो 'येन-केन प्रकारेण' १४ मई को (परीक्षा-फल के दिन) उनकी नाक रख दे। अभिभावक और शिक्षकों का वर्ष में केवल प्रवेश और परीक्षा-फल के अवसर पर सम्पर्क हो पाता है। बड़े आदमी तो इन अवसरों पर भी स्वयं न जाकर अपने मुंशी, मुनीम, आदि से काम चलाते हैं।

सरकार की भी शिक्षा-सम्बन्धी नीति सम्भवतः उसे ही स्पष्ट नहीं है। सुधार के विचार से विभिन्न समितियाँ बैठाई जाती हैं—कभी प्राथमिक शिक्षा के लिए, तो कभी माध्यमिक शिक्षा के लिए और कभी विश्वविद्यालयों के लिए—परन्तु शिक्षा (सम्पूर्ण) के लिए कोई समिति नहीं बैठती। फल यह होता है कि विश्वविद्यालय अपनी त्रुटियों का दायित्व माध्यमिक विद्यालयों पर टाल देते हैं और ये अपनी का प्राथमिक पर। फलतः सभी डाँट-फटकार प्राथमिक विद्यालयों के ही शिक्षकों पर पड़ती हैं। प्राथमिक शिक्षक एक तो पढ़े-लिखे कम होते हैं दूसरे निरीक्षकों की सतत डाँट-फटकार से उनका आत्म-बल यदि लुप्त नहीं तो कुण्ठित अवश्य हो जाता है। इन शिक्षकों को नगरों अथवा ग्रामों में इनके छात्रों के सामने ही कोई भी डाँट सकता है। उपर्युक्त समितियाँ ऐसी समस्याओं तथा सांस्कृतिक और मौलिक अन्तरों पर मौन रहती है। वे केवल 'पाठ्यक्रम-परिवर्तन', 'शिक्षा-विधि-शोधन', 'नवीन-नाम-करण', आदि से ही सम्बन्ध रखने वाली योजनाओं पर लम्बे-लम्बे विवरण तैयार करती है। किसी-किसी विवरण में—विशेषतया विश्वविद्यालय सम्बन्धी में—शिक्षकों के वेतन का भी उल्लेख रहता है। विश्वविद्यालयों में तो वेतन पहले से ही अच्छे हैं; उनमें साधारण फेर-फार करके भी यश प्राप्त करना सरल होता है।

वर्तमान (भारतीय) शिक्षा की विशेषताएँ:—भारतवर्ष की वर्तमान शिक्षा की प्रथम विशेषता सामञ्जस्य-हीनता है। शिक्षा और संस्कृति में इतनी

बड़ी खाई हो गई है कि परिस्थितियाँ सँभाले नहीं सँभल रही हैं। शिक्षा का उद्देश्य संस्कार होता है। किसी व्यक्ति अथवा देश अथवा राष्ट्र के वास्तविक संस्कार वे हैं जो वहीं की विकसित संस्कृति के अनुकूल हों और लोगों में प्रत्येक परिस्थिति का व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से सामना करने की क्षमता उत्पन्न करें। परन्तु इस कसौटी पर हमारी वर्त्तमान शिक्षा खरी नहीं उतर रही है। हम लोगों के जीवन में दृढ़ता तथा अध्यवसाय का उत्तरोत्तर अभाव होता जा रहा है। इन विशेषताओं के प्रादुर्भाव तथा विकास के लिए पर्याप्त सामञ्जस्य की आवश्यकता पड़ती है। सामञ्जस्य के अन्तर्गत वर्त्तमान और प्रत्यक्ष की अपेक्षा क्रम से भूत और परोक्ष अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अपनी सफलता अथवा अच्छाइयों की प्रशंसा हम अपने साथियों और समकालीनों से ही सुनकर सन्तुष्ट नहीं हो पाते। अपने पुरुषाओं की सम्मति और प्रशंसा के लिए हम अधिक आतुर होते हैं। दूसरे शब्दों में अपने क्रिया-कलापों को हम लोग अपनी परम्परा से भी बिधिवत् अनुमोदित होने के लिए उत्सुक रहते हैं। यह उचित और स्वाभाविक है—इसे रोकना सम्भव नहीं। वर्तमान भारतवर्ष के शिक्षित-वर्ग के (और वास्तविक शक्ति उन्हीं लोगों के हाथों में होने से इनके पथ-प्रदर्शन और प्रभाव से अधिकांश अन्य लोगों के) क्रिया-कलापों का भारतीय परम्परा से लेश-मात्र भी अनुमोदन नहीं हो पा रहा है। फलतः हमारे व्यवहार में दृढ़ता और तत्परता को उत्तरोत्तर ह्रास होता जा रहा है।

किसी नवीन रूप में मिलाई जा सकती है। परन्तु 'भक्ति-मूलक' शिक्षा में इस तोड़-फोड़ तथा बँटवारे की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस समय विश्वविद्यालयों के छात्र माध्यमिक और प्राथमिक विद्यालयों में तथा माध्यमिक के प्राथमिक में जाकर धड़ल्ले से अशिष्ट व्यवहार करते हैं और उनके भूत-पूर्व गुरुगण अपने को सर्वथा विवश पाते हैं।

उद्दण्डता की यह परम्परा प्राचीन यूनान की शिक्षा-पद्धति से सम्बन्धित है। वहाँ प्राथमिक और अंशतः माध्यमिक शिक्षा दास-अध्यापकों द्वारा सम्पादित होती थी। इसमें उनका उद्देश्य सम्भवतः छात्रों की भावनाओं को दब जाने से बचाना था। व्यक्तित्व के विकास का महत्त्व प्रसङ्ग वश पहले भी चित्रित किया गया है। वर्त्तमान इंगलैण्ड में भी प्राथमिक शिक्षा के शिक्षकों का स्थान बहुत ऊँचा नहीं है। यूनानी परम्परा के ही अनुकूल यूरोप और वर्त्तमान भारतवर्ष में भी ऊँची शिक्षा के प्राध्यापकों का जीवन आर्थिक दृष्टि-कोण से सुविधा-जनक है। प्राचीन यूनान में नवयुवकों की तर्क-प्रधान ऊँची शिक्षा 'सोफिस्टों' द्वारा होती थी उनका समाज में अपेक्षाकृत आदर था। शिक्षा की रूप-रेखा भिन्न होने से भारतीय विश्वविद्यालयों से व्यक्तियों का आंशिक हित भले ही हो रहा हो परन्तु समाज को उत्तरोत्तर धक्का लग रहा है। अपनी संस्कृति के अनुकूल न होने से इस शिक्षा को जो व्यक्ति जितना ही अधिक पा रहा है वह समाज के मूल आदर्शों से उतना ही दूर होता जा रहा है। इन विश्वविद्यालयों में किसी नवीन संस्कार तथा सुधार की आशा नहीं की जा सकती। माध्यमिक स्तर तक छात्र जो कुछ हो गये रहते हैं उसी का यहाँ पर विस्तार तथा प्रसार सम्भव है। पढ़ाकू छात्र अध्ययन में आगे बढ़ते जाते है और उद्दण्ड छात्र उद्दण्डता की विभिन्न शाखाओं में विशेष योग्यता प्राप्त करते जा रहे हैं। पुस्तकों की सामग्री अनुकूल न होने से अध्ययनशील छात्रों के ज्ञान का विकास भी अभारतीय ढङ्ग से हो रहा है।

वर्त्तमान भारतीय शिक्षा की तीसरी विशेषता अनुशासन सम्बन्धी है। अधिकारी तथा नेतागण अनुशासन-हीनता के कारण अत्यन्त उद्विग्न हैं। पग-पग पर धमकाना पड़ता है कि विद्यालयों में ताला लगाने में तनिक भी संकोच नहीं किया जायगा। बात-बात में हड़ताल की परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। पुलिस, रेल, सिनेमा, आदि के अधिकारियों से विद्यार्थी प्रायः लोहा लेते रहते हैं। इस दयनीय दशा के अनेक कारण हैं परन्तु इनमें दो मुख्य हैं। प्रथम कारण आन्तरिक है और दूसरा बाह्य। शिक्षा का उद्देश्य

बड़ी खाईं हो गई है कि परिस्थितियाँ सँभाले नहीं सँभल रही हैं। शिक्षा का उद्देश्य संस्कार होता है। किसी व्यक्ति अथवा देश अथवा राष्ट्र के वास्तविक संस्कार वे हैं जो वहीं की विकसित संस्कृति के अनुकूल हों और लोगों में प्रत्येक परिस्थिति का व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से सामना करने की क्षमता उत्पन्न करें। परन्तु इस कसौटी पर हमारी वर्त्तमान शिक्षा खरी नहीं उतर रही है। हम लोगों के जीवन में दृढ़ता तथा अध्यवसाय का उत्तरोत्तर अभाव होता जा रहा है। इन विशेषताओं के प्रादुर्भाव तथा विकास के लिए पर्याप्त सामञ्जस्य की आवश्यकता पड़ती है। सामञ्जस्य के अन्तर्गत वर्त्तमान और प्रत्यक्ष की अपेक्षा क्रम से भूत और परोक्ष अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अपनी सफलता अथवा अच्छाइयों की प्रशंसा हम अपने साथियों और समकालीनों से ही सुनकर सन्तुष्ट नहीं हो पाते। अपने पुरुषाओं की सम्मति और प्रशंसा के लिए हम अधिक आतुर होते हैं। दूसरे शब्दों में अपने क्रिया-कलापों को हम लोग अपनी परम्परा से भी बिधिवत् अनुमोदित होने के लिए उत्सुक रहते हैं। यह उचित और स्वाभाविक है—इसे रोकना सम्भव नहीं। वर्तमान भारतवर्ष के शिक्षित-वर्ग के (और वास्तविक शक्ति उन्हीं लोगों के हाथों में होने से इनके पथ-प्रदर्शन और प्रभाव से अधिकांश अन्य लोगों के) क्रिया-कलापों का भारतीय परम्परा से लेश-मात्र भी अनुमोदन नहीं हो पा रहा है। फलतः हमारे व्यवहार में दृढ़ता और तत्परता को उत्तरोत्तर ह्रास होता जा रहा है।

वर्त्तमान शिक्षा की दूसरी विशेषता 'वर्गीकरण' सम्बन्धी है। प्राथमिक, माध्यमिक, उच्च, आदि वर्गों में शिक्षा विभक्त है। उच्च शिक्षा विश्वविद्यालयों में दी जाती है। इन वर्गों और संस्थाओं में लगभग इतना ही सम्बन्ध है कि एक के उपरान्त छात्र दूसरे में प्रवेश करता है। संस्थान्तर-पत्र ले लेने पर प्राथमिक पाठशालाओं से विद्यार्थियों के सभी नेह-नाते समाप्त से हो जाते हैं। यही दशा माध्यमिक विद्यालयों से विश्वविद्यालयों में जाते समय होती है। इतना ही नहीं, यदि माध्यमिक विद्यालय का कोई छात्र संस्थान्तर पत्र लेकर दूसरे माध्यमिक विद्यालय में ही चला जाता है तो पहले विद्यालय के शिक्षकों से उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं रह जाता। दुकानों, होटलों, आदि की भाँति शिक्षा-संस्थाएँ भी हो गई हैं। ज्ञान-मूलक शिक्षा के लिए यह प्रणाली, यही नहीं कि हानिकारक नहीं है, प्रत्युत उपयोगी तथा लाभ-प्रद है वहाँ तो पठन सामग्री आवश्यकता तथा सुविधानुसार रेल के डिब्बों की भाँति कहीं से कहीं लगाई जा सकती है और काट-काट कर अलग की जा सकती है और फिर

किसी नवीन रूप में मिलाई जा सकती है। परन्तु 'भक्ति-मूलक' शिक्षा में इस तोड़-फोड़ तथा बँटवारे की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस समय विश्वविद्यालयों के छात्र माध्यमिक और प्राथमिक विद्यालयों में तथा माध्यमिक के प्राथमिक में जाकर धड़ल्ले से अशिष्ट व्यवहार करते हैं और उनके भूत-पूर्व गुरुगण अपने को सर्वथा विवश पाते हैं।

उद्दण्डता की यह परम्परा प्राचीन यूनान की शिक्षा-पद्धति से सम्बन्धित है। वहाँ प्राथमिक और अंशतः माध्यमिक शिक्षा दास-अध्यापकों द्वारा सम्पदित होती थी। इसमें उनका उद्देश्य सम्भवतः छात्रों की भावनाओं को दब जाने से बचाना था। व्यक्तित्व के विकास का महत्त्व प्रसङ्ग वश पहले भी चित्रित किया गया है। वर्त्तमान इंगलैण्ड में भी प्राथमिक शिक्षा के शिक्षकों का स्थान बहुत ऊँचा नहीं है। यूनानी परम्परा के ही अनुकूल यूरोप और वर्त्तमान भारतवर्त में भी ऊँची शिक्षा के प्राध्यापकों का जीवन आर्थिक दृष्टि-कोण से सुविधा-जनक है। प्राचीन यूनान में नवयुवकों की तर्क-प्रधान ऊँची शिक्षा 'सोफिस्टों' द्वारा होती थी उनका समाज में अपेक्षाकृत आदर था। शिक्षा की रूप-रेखा भिन्न होने से भारतीय विश्वविद्यालयों से व्यक्तियों का आंशिक हित भले ही हो रहा हो परन्तु समाज को उत्तरोत्तर धक्का लग रहा है। अपनी संस्कृति के अनुकूल न होने से इस शिक्षा को जो व्यक्ति जितना ही अधिक पा रहा है वह समाज के मूल आदर्शों से उतना ही दूर होता जा रहा है। इन विश्वविद्यालयों में किसी नवीन संस्कार तथा सुधार की आशा नहीं की जा सकती। माध्यमिक स्तर तक छात्र जो कुछ हो गये रहते हैं उसी का यहाँ पर विस्तार तथा प्रसार सम्भव है। पढ़ाकू छात्र अध्ययन में आगे बढ़ते जाते हैं और उद्दण्ड छात्र उद्दण्डता की विभिन्न शाखाओं में विशेष योग्यता प्राप्त करते जा रहे हैं। पुस्तकों की सामग्री अनुकूल न होने से अध्ययनशील छात्रों के ज्ञान का विकास भी अभारतीय ढङ्ग से हो रहा है।

वर्त्तमान भारतीय शिक्षा की तीसरी विशेषता अनुशासन सम्बन्धी है। अधिकारी तथा नेतागण अनुशासन-हीनता के कारण अत्यन्त उद्विग्न हैं। पग-पग पर धमकाना पड़ता है कि विद्यालयों में ताला लगाने में तनिक भी संकोच नहीं किया जायगा। बात-बात में हड़ताल की परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। पुलिस, रेल, सिनेमा, आदि के अधिकारियों से विद्यार्थी प्रायः लोहा लेते रहते हैं। इस दयनीय दशा के अनेक कारण हैं परन्तु इनमें दो मुख्य हैं। प्रथम कारण आन्तरिक है और दूसरा बाह्य। शिक्षा का उद्देश्य

संक्षेप में जीवन को सुखी बनाना है। सुख का कुछ अंश घर से सम्बन्धित होता है और कुछ बाहर से। यूरोप और भारतवर्ष में छात्रों को लगभग समान शिक्षा मिल रही है। यूरोप के समाज और घर ऐसे निर्मित तथा व्यवस्थित हैं कि वहाँ के छात्र इस शिक्षा के बल पर भीतरी और बाहरी दोनों सुखों को अपनी-अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार प्राप्त करते रहते हैं। परन्तु भारतवर्ष में स्थिति भयावह है। अंग्रेजी शासन के कारण बाह्य तारतम्य—रेल, न्यायालय, पुलिस, सिनेमा, आदि तो इसी शिक्षा के आदर्शों के अनुकूल व्यवस्थित हैं परन्तु भारतीय घरों की व्यवस्था सर्वथा भिन्न है। फलतः छात्रों को बाहर-सम्बन्धी सुख तो मिलते रहते हैं परन्तु घर-सम्बन्धी सुखों की प्यास प्रायः अतृप्त रहती है। इसी प्यास को बुझाने का प्रयत्न वे बाहरी-सुख के उपकारणों से (सिनेमा, रेल, पुलिस स्टेशन आदि से) करते हैं। चूँकि इन उपकरणों में घरेलू प्यास बुझाने की क्षमता नहीं है अस्तु संघर्ष अवश्यम्भावी हो जाते हैं।

दूसरा कारण और गम्भीर है। प्रत्येक स्तर के विद्यार्थी स्वभावतः अनुकरण-प्रिय होते हैं। वर्त्तमान उच्चाधिकारी, गुरुजन, नेतागण, आदि भी इसी अनुपयुक्त शिक्षा से शिक्षित हैं। स्वार्थ का त्याग अभाग्यवश ये लोग भी मूर्खता ही समझने के लिए विवश हैं। स्वार्थ-सिद्धि की होड़ में नेताओं के नये-नये राजनीतिक दल बनते जा रहे हैं। इंगलैंड में भी दलबन्दी है परन्तु वहाँ पर मत-भेद होता है न कि हृदय-भेद। खेद हैं कि हमारे यहाँ मत-भेद होते ही हृदय-भेद भी होता जा रहा है। हमारे नेतागण अत्यन्त कठिनाई में हैं। यदि ध्यान से देखा जाय तो भारतवर्ष के लगभग सभी शिक्षित व्यक्तियों का सम्पूर्ण जीवन मानसिक संघर्ष में व्यतीत हो रहा है। किशोरावस्था से युवावस्था तक वे अपने गुरुजनों के (माता, पिता, पितामह, आदि के) प्रतिकूल, भारतवर्ष में भी इंगलैंड के नवयुवकों की स्वतंत्रता को प्रचलित करने में व्यग्र तथा उद्विग्न रहते हैं और जब प्रौढ़ावस्था को पारकर तीसरे चरण में पहुँचते हैं तब अपनी शिक्षित सन्तानों को भारतीय रङ्ग में रँगने के असफल प्रयत्नों में संतत तथा उद्विग्न रहते हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार हमारे नेताओं के 'अपने आदमियों की संख्या विस्तृत है और विदेशी परम्परा के अनुसार उनके अधिकारों और स्वार्थों को सुरक्षित रखने के लिए वे विवश होते हैं। फलतः आए दिन साधारण लोगों के साथ आवश्यकता से अधिक अन्याय हो जाता है। ऐसी घटनाओं का इन नेताओं के, कल के दिली दोस्त और आज के घोर विपक्षी अन्य

नेता गण नमक-मिर्च लगाकर ऐसा कुप्रचार करते हैं कि अबोध छात्रों का हृदय और मन क्षुब्ध हो जाता है। दुख के साथ लिखना पड़ता है कि जिस किसी राजनीतिक दल को कोई आन्दोलन करना पड़ता है तो सर्व प्रथम वह विद्यार्थियों की ही पीठ थपथपाने का प्रयत्न करता है।

वर्त्तमान शिक्षा की चौथी विशेषता महत्त्व सम्बन्धी है। पाश्चात्य परम्परा के अनुसार अंग्रेजी शासन-काल में शिक्षा सरकार के 'आवश्यक दायित्वों' की सूची में न थी। उनके यहाँ शिक्षा आरम्भ से ही केवल साधन मात्र थी। पहले ही बताया जा चुका है कि प्राचीन यूनान में दास-शिक्षकों से बच्चों को उसी प्रकार पढ़वाया जाता था जिस प्रकार कि दर्जियों से कपड़े सिलवाये जाते हैं अथवा मोचियों से जूते बनवाये जाते हैं। यदि ध्यान से विचार किया जाय तो स्वतंत्र भारतवर्ष में भी शिक्षा को लगभग वही महत्त्व दिया जा रहा है। अँगरेजी शासन-व्यवस्था, भारतीयता और राष्ट्रीयता के दृष्टि कोण से भले ही कुछ कठोर तथा दूषित रही हो परन्तु शासन के सिद्धान्तों के विचार से संसार की उच्च कोटि की व्यवस्थाओं में से है। जब तक नेतागण सरकार से बाहर रहते हैं तभी तक उनके विचार स्वतंत्र, शुद्ध तथा उदार रह पाते हैं। सरकार में प्रवेश पाते ही वे उन उच्च अधिकारियों के सम्पर्क में आते हैं जो कि अंग्रेजी शासन-काल के मजे हुए और अनुभवी हैं। अपना प्रभुत्व अक्षुण्ण रखने के उद्देश्य से विदेशी सरकार ने इन अधिकारियों को आवश्यकता से अधिक सुविधाएँ और अधिकार दे दिया था। परन्तु विचित्रता यह है कि स्वतंत्र भारतवर्ष में भी इन अधिकारियों की संख्या और सुविधाएँ उस समय से भी बढ़ गई हैं।

कारण स्पष्ट है। एक ओर साथी नेताओं के नवीन-नवीन दल-निर्माण और सहानुभूति-रहित छिद्रान्वेषण से तथा दूसरी ओर देश की विकट समस्याओं से मंत्री महोदय लोग इतने आतङ्कित और उद्विग्न हो जाते हैं कि उच्च अधिकारियों का आवश्यकता से बहुत अधिक सहारा लेना उनके लिए अनिवार्य हो जाता है। परम्परागत ढाँचे में प्रान्त तथा संघ के आय-व्यय का ऐसा निश्चित लेखा-जोखा उपस्थित किया जाता है कि शिक्षा सम्बन्धी विशेषतया शिक्षक सम्बन्धी—अनेक योजनाएँ आर्थिक-अभाव की चट्टान पर चूर हो जाती हैं। साथ ही यह भी ध्यान रखना है कि अच्छी हो अथवा बुरी परन्तु वर्तमान शिक्षा-प्रणाली अत्यन्त सुदृढ़ तथा सुव्यवस्थित है। इसे भारतीय रूप देने में भगीरथ प्रयत्न करने पड़ेंगे। कतिपय समितियों के बैठाने से अथवा नामकरणों में परिवर्तन करने से अथवा पाठ्यक्रम में जहाँ-तहाँ नोच-

खसोट करने से काम नहीं चल सकता। भारतीय संस्कृति और वर्त्तमानकाल की कसौटी पर भारतीय शिक्षा को कसने के लिए कई सुरक्षित और सुदृढ़ दुर्गों को तोड़ना पड़ेगा। समाज को कई प्रकार के बलिदान करने पड़ेंगे।

[निष्कर्ष]

सिंहावलोकन—शिक्षा का वर्त्तमान युग उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से, ब्रिटेन का सर्वतोमुखी प्रभुत्व अन्य देशों की शिक्षा का तार-तम्य अंग्रेजी पद्धति से प्रभावित; प्राचीन और मध्यकालीन विशेषताओं को ब्रिटेन द्वारा वर्तमानकाल में भी सफलता पूर्वक ग्रहण कर लेना; अंग्रेजी शिक्षा और संस्कृति में समुचित सामञ्जस्य; ब्रिटेन की मननशीलता और दूरदर्शिता अद्वितीय; विभिन्न संघर्षों एवं युद्धों में कूदने के पूर्व समुचित तथा आवश्यक विचार विनिमय; अपनी वर्त्तमान संस्कृति के निर्माण में ब्रिटेन का पर्याप्त तथा समुचित समय लगाना तथा आवश्यक परित्याग और बलिदान करना; उसकी विशेषताओं को अपनाने तथा कार्यान्वित करने में अन्य देशों का शीघ्रता करना फलतः उनसे पर्याप्त तथा स्वाभाविक सुविधाओं से प्रायः वञ्चित रह जाना।

प्रथम विश्व-युद्ध के उपरान्त अमेरिका, रूस, जापान, आदि का शीघ्रता से अग्रसर होना; उस युद्ध के पहले से ही जापान का 'जय-पान' किये रहना; मननशीलता में जापान का द्वितीय स्थान (प्रथम ब्रिटेन का) प्राप्त करना; अमेरीकी ख्याति और शक्ति का मूल आधार अतुल सम्पत्ति तथा अंग्रेजी संस्कार। जापानी उत्कर्ष में कोई विशेष आन्तरिक त्रुटि; सम्भवतः उन्नति असाधारण तीव्रता के साथ होने से विविध अङ्गों और उपाङ्गों में स्वाभाविक सामञ्जस्य का अभाव; पिछले विश्व महा-युद्ध में उसका नीति-निर्धारण दूर-दर्शिता-रहित। ब्रिटेन तथा अन्य राष्ट्रों की वर्त्तमान व्यवस्था में उनकी प्राचीन तथा मध्यकालीन मूल विशेषताओं का आवश्यक समावेश। वर्तमान युग में धन को मुख्य तथा धर्म को गौणातिगौण स्थान; इस प्रवृत्ति को उन देश के अतीत से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष योग।

वर्तमान भारतवर्ष का चित्रण कठिन; १८५७ ई० तक यूरोपीय चमत्कारों से किंकर्त्तव्य विमूढ़; १८५७ से १९४७ तक स्वतंत्रता-संघर्ष; घोर सांस्कृतिक

संघर्ष; विभिन्न राजनीतिक, धार्मिक, औद्योगिक दलों तथा संस्थाओं के निर्माण और विकास। व्यक्तित्व-प्रधान पाश्चात्य संस्कृति की प्रत्यक्ष सुविधाओं की ओर थके तथा विपन्न भारतवासियों का शीघ्रता से आकर्षित होना; महात्मा गान्धी के कारण 'कांग्रेस' में कई भारतीय विशेषताओं का समावेश होना; प्रथम विश्व-युद्ध के उपरान्त स्वतंत्रता ज्यों-ज्यों निकट त्यो-त्यों सामाजिक, आर्थिक, आदि गुत्थियों का अंकुरित होना। इन संघर्षों के फलस्वरूप निकम्मे तथा अकर्मण्य लोगों को अनियमित जीवन व्यतीत करने का अवसर मिलना। इस स्वतंत्रता की रूप-रेखा मूलतः विदेशी; फलतः ज्यों-ज्यों इसके निकट त्यों-त्यों अभारतीय प्रवृत्तियों का हमारे जीवन में समावेश; स्वतंत्रता प्राप्ति के निमित्त अभारतीय रूप से हमारा अधिकाधिक आगे बढ़ जाना; स्वतंत्र होते ही गान्धी जी की हत्या; फलतः उस बढ़ाव से पीछे हटना कठिन।

भारतीय विशेषताओं को वर्तमान न्यायालयों से क्षति; अङ्गरेज न्यायाधीशों के निर्णयों से सामूहिक परिवारों का छिन्न-भिन्न होना; भारतीय दम्पतियों का जीवन भी अनियमित हो जाना; पाश्चात्य परम्परा के अनुसार निर्णय होने से यहाँ की 'विरादरी' अथवा 'पञ्चायत' परम्परा की विशेषताओं का लुप्त होना; वकीलों, चपरासियों, आदि के माध्यम से पाश्चात्य रहन-सहन का सरल, सस्ता तथा निकम्मा अंश देश के कोने-कोने में पहुँचना; 'रोटी' और 'बेटी' के व्यवहार में अस्वाभाविक विषमता का अंकुरित तथा विकसित होना; शीत प्रधान समाजों के क्रिया-कलापों का विना सोचे-समझे भारतवासियों द्वारा अपनाना।

<u>हमारी वर्तमान शिक्षा</u>—भारतवर्ष की वर्तमान शिक्षा से उदर-पूर्ति भी सम्भव नहीं; ज्ञानमूलक तथा व्यक्तित्व-प्रधान शिक्षा की व्यवस्था; मौलिक भारतीय प्रवृत्तियों के प्रति तत्कालीन भारतीय नेताओं का भी उदासीन रहना; १८५७ ई० तक पाश्चात्य परम्परा के विद्यालय केवल बड़े-बड़े नगरों में; ऊँचे और धनी परिवारों के लोगों तक ही वह शिक्षा सीमित; ईसाई धर्म के प्रचारकों द्वारा भी अंग्रेजी विद्यालयों की स्थापना; १८५७ तक पाश्चात्य शिक्षा एवं परम्परा का प्रभाव केवल कुछ ही व्यक्तियों, परिवारों तथा वर्गों तक। १८५७ के उपरान्त वर्तमान शिक्षा की मात्रा और गति में विकास; १९१९ के वैधानिक सुधार; १९२० से १९३० तक के राजनीतिक आन्दोलनों में विद्यार्थियों का सहयोग। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों का अधिक पैसा पैदा कर लेना; शिक्षा का व्यावहारिक मूल्य शून्य होते हुए भी पैसे की लालच से इस शिक्षा की क्रमशः उन्नति। १९३० के उपरान्त बेकारी की समस्या; फलतः

इस शिक्षा की कलई का धीरे-धीरे खुलना; साधारण परिवार के बच्चों को विद्यालयों में पहुँचते ही नाना प्रकार की समस्याओं का अंकुरित एवं पुष्पित होना।

जिन नियमों, उपनियमों, आदि द्वारा अन्य विभागों में नियुक्तियाँ, पदोन्नति, स्थानान्तर, आदि उन्हीं द्वारा शिक्षा विभाग में भी; भक्तिमूलक शिक्षा के लिए सर्वथा घातक; गैर सरकारी संस्थाओं की दशा बहुत ही शोचनीय। अधिकारियों और शिक्षकों में स्वाभाविक तथा उपयोगी सहानुभूति और सम्पर्क का अभाव। शिक्षण की सफलता या विफलता प्रत्यक्ष नहीं; अन्य विभागों की भाँति शिक्षा में भी अफसरी और मातहती की अनेक सीढ़ियाँ; अन्य विभागों का सम्बन्ध कागज-पत्रों तथा वयस्कों और प्रौढ़ों से परन्तु शिक्षा में अबोध बच्चों तथा किशोरों से; ज्ञानमूलक शिक्षा के लिए ये सीढ़ियाँ जितनी ही आवश्यक तथा उपयोगी उतनी ही भक्ति-मूलक शिक्षा के लिए अनावश्यक तथा घातक। शिक्षा में हमारे यहाँ वे ही लोग प्रायः खपते हैं जिन्हें कोई अन्य कोई अच्छा काम नहीं मिलता।

प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर के शिक्षकों के प्रशिक्षण में उत्तरोत्तर ह्रास; प्रशिक्षण के प्रति सरकार की असाधारण उदासीनता; पिछले आठ-दस वर्षों में प्रशिक्षण का अस्वाभाविक तथा असामयिक तिरस्कार परन्तु निरीक्षण को विविध प्रोत्साहन; निरीक्षण के इस प्रोत्साहन से भक्तिमूलक प्रवृत्तियों का उत्तरोत्तर लोप।

कन्याओं के लिए भी इसी दूषित शिक्षा की व्यवस्था; फलतः विदेशी परम्परा तथा रहन-सहन का भारतीय घरों में भी प्रत्यक्ष प्रवेश; भारतीय परम्परा की दृढ़ता तथा कन्याओं की शिक्षा के अपेक्षाकृत सीमित प्रचार से स्थिति का काबू से बहुत अधिक बाहर न होना।

शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ इन दोषों का भी विस्तार; परन्तु कुछ कारणों से इस शिक्षा का उत्तरोत्तर विकास; प्रथम, अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों का अधिक पैसा पैदा करना; दूसरे राजनीतिक आन्दोलनों में इन लोगों की उपयोगिता; और तीसरे सन् १६३० तक केवल अच्छे छात्रों का इस शिक्षा को प्राप्त करना और अपनी स्वाभाविक अच्छाई से इन दोषों के चङ्गुल में अपेक्षाकृत कम फँसना।

१६३० के उपरान्त बेकारी का बढ़ना; साथ ही साधारण घरों तथा बुद्धि के छात्रों का अंग्रेजी पढ़ना; नौकरी न मिलने पर ऐसे लोगों को घर रहने के लिए विवश होना परन्तु घर में न खप सकना; अवश्यम्भावी संघर्ष।

स्वतंत्रता के उपरान्त से स्वच्छन्दता का नग्न ताण्डव; छात्रों में अध्ययन के प्रति स्वाभाविक रुचि का अभाव; छात्र, अभिभावक, शिक्षक, अधिकारीगण, आदि सभी लोग केवल उच्चकोटि के परीक्षाफल के लिए अधिक व्यग्र। शिक्षा-सुधार की चर्चा प्रायः हुआ करती है परन्तु सुधार की रूप-रेखा सम्भवतः सरकार को भी स्पष्ट नहीं।

वर्तमान (भारतीय) शिक्षाकी विशेषताएँ—प्रथम विशेषता सामञ्जस्य-हीनता; इसमें समाजोपयोगी संस्कार—क्षमता का अभाव; भारतीय परम्परा में वर्तमान के साथ-साथ भूत और भविष्य भी अधिक महत्त्वपूर्ण; फलतः घोर संघर्ष; शिक्षा से प्राप्त पथ-प्रदर्शन और वास्तविक जीवन में विविध अन्तर तथा संघर्ष।

दूसरी विशेषता वर्गीकरण सम्बन्धी; प्राथमिक, माध्यमिक, उच्च, आदि वर्गों में शिक्षा विभक्त; ज्ञान-मूलक शिक्षा के लिए इस प्रकार के वर्गीकरण जितने ही उपयोगी, भक्ति-मूलक के लिए उतने ही हानिकारक। प्राचीन यूरोप (यूनान आदि) में प्रारम्भिक शिक्षक प्रायः दास वर्ग के; उत्तरोत्तर ऊँची कक्षाओं में 'सोफिस्ट' शिक्षक; फलतः वर्गीकरण। संस्कारों का निर्माण प्रारम्भिक स्तर पर न कि विश्वविद्यालयों मे।

तीसरी विशेषता अनुशासन सम्बन्धी; इसके लिए अलग से प्रयत्न; घरेलू और विद्यालय जीवन में सामञ्जस्य न होने से विविध कठिनाइयाँ। दूसरे गुरुजनों का अनुकरण; वर्तमान गुरुजन भी इसी विषाक्त शिक्षा से शिक्षित; इनकी चर्या भी संघर्ष-मय; फलतः छात्र प्रभावित।

चौथी विशेषता महत्व सम्बन्धी; पाश्चात्य परम्परा के आधार पर शिक्षा सरकार के आवश्यक दायित्वों के अन्तर्गत नहीं; पाश्चात्य जीवन में शिक्षा के केवल साधन मात्र होने से यह रूप-रेखा भी उपयोगी परन्तु भक्तिमूलक के लिए घातक; साथ ही, वह शिक्षा भली हो या बुरी परन्तु विधिवत् व्यवस्थित तथा दृढ़; फलतः इसे भारतीय रूप देना सरल या सुगम नहीं।

अध्याय ४

शिक्षा-सुधार सम्बन्धी समस्याएँ

सिंहावलोकन—हमारी वर्तमान शिक्षा के सुधार का उद्देश्य यही होना चाहिए कि 'देश, काल और पात्र' के सिद्धान्त पर 'कर्म-प्रधान संस्कृति' तथा 'भक्ति-मूलक शिक्षा' की पुनर्व्यवस्था हो। वास्तव में शिक्षा की रूप-रेखा भक्ति-मूलक कर देने पर कर्मों की प्रधानता स्वतः स्थापित हो जायगी। 'भक्ति' का प्राचीन रूप वर्तमान परिस्थितियों में न तो सम्भव है न आवश्यक। भक्ति की कई विशेषताओं में सर्वोच्च हैं 'आत्मनियंत्रण' तथा 'आत्म-समर्पण'। यदि ध्यान से देखा जाय तो ये विशेषताएँ सभी कालों के सभी उन्नति-शील राष्ट्रों के सभी नागरिकों में कुछ न कुछ पाई जाती हैं। परन्तु अन्तर यह है कि अन्य देशों में ये विशेषताएँ ऊपर से लागू की जाती हैं—विभिन्न अधिनियमों धाराओं, आदि द्वारा और भारतवर्ष में शिक्षा की रूप-रेखा ही ऐसी निर्धारित की गई थी कि यहाँ के लोगों में इनका प्रादुर्भाव अन्तस्थल से होता जाता था। जिस राष्ट्र के नागरिकों में इन विशेषताओं की कमी होने लगती है उसका उसी अनुपात से ह्रास भी होने लगता है। शिक्षा की रूप-रेखा में इन विशेषताओं के निहित न होने से अन्य देशों के व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन में स्वाभाविक सामञ्जस्य का अभाव सा रहता है। दूसरे शब्दों में संकटाकीर्ण होने पर तो लोग इन विशेषताओं को सहर्ष अपने ऊपर लाद लेते हैं परन्तु गुत्थियों के सुलझते ही फिर स्वच्छन्दता से विचरने लगते हैं। भारतवर्ष में यह बात नहीं रही। यहाँ पर सर्वदा से सुख-दुख का स्वागत समान रूप से होता रहा। वही यहाँ की शिक्षा की विशेषता रही और इसी की रक्षा करना हमारा परम धर्म है।

पिछले अध्यायों में संकेत हो चुका है कि उपर्युक्त विशेषताओं का शिक्षा में निहित कर देना हमारे प्राचीन मनीषियों की संसार को मौलिक देन है। यद्यपि यह रूप-रेखा भारतवर्ष की ही भौगोलिक तथा प्राकृतिक कठिनाइयों के

ऊपर विजय पाने के विचार से बनाई गई थी परन्तु सावधानी से अपनाने पर इससे किसी भी देश का कल्याण हो सकता है। यह कथन इस समय स्वप्नवत् प्रतीत होगा; जब उस रूप-रेखा की विदाई उसकी जन्म-भूमि से ही हो चुकी है तो उसमें अन्य राष्ट्रों के कल्याण की क्षमता घोषित करना सम्भवतः बुद्धिमानी नहीं मानी जायगी। स्मरण रहना चाहिए की इन विशेषताओं की विदाई वर्तमान महलों, वैज्ञानिक आविष्कारों, सुदृढ़ शासन पद्धतियों, वैधानिक धाराओं, समाचार-पत्रों, नवीन-पुस्तकों, शिक्षा-संस्थाओं, आदि से अवश्य हो चुकी है परन्तु भग्नावशेषों, झोपड़ों, नदियों, पहाड़ों, आदि में इनके कण प्रचुर मात्रा में बिखरे पड़े हैं। इन्हीं कणों को पहचानने तथा यथासम्भव उन्हें एकत्र करने में जिस भारतवासी को जितनी सफलता मिलती है वह संसार के सामने उतना ही ऊँचा हो जाता है। इन्हीं कणों के बल पर गान्धी जी महात्मा हुए तथा श्रद्धेय जवाहरलाल नेहरू जी की परराष्ट्र-नीति उत्तरोत्तर अनोखी होती जा रही है।

'आत्म-नियंत्रण' तथा 'आत्म-समर्पण' को अपनाने में वर्त्तमान भारतवासी अपना अपमान मान सकते हैं। परन्तु जब देश के सभी लोग अथवा अधिकांश लोग इनका अभ्यास करने लगेंगे तो अपमानित करने के लिए कौन और कहाँ से आयेगा। ये अभ्यास तो छात्रों के लिए किशोरावस्था तक आवश्यक होंगे। विदेशियों से वास्तविक सम्पर्क प्रायः प्रौढ़ावस्था तथा उसके उपरान्त हो पाता है। आवश्यकतानुसार विद्याध्ययन के लिए भी विद्यार्थी अठारह-बीस वर्ष की अवस्था से पूर्व विदेश न जायँगे। अपने को इस अवस्था तक शोध लेने के उपरान्त वे विशुद्ध ज्ञानार्जन विधिवत् कर सकते हैं। इस स्तर से किये गये ज्ञानार्जन से हमारे नवयुवकों में अहंकार, असामयिक तथा अनुचित महत्त्वाकांक्षा, विवेक-हीनता, आदि का सञ्चार कदापि नहीं हो पायेगा। निसन्देह यह सिद्धान्त-निरूपण तो सरल है परन्तु इसके अनुकूल शिक्षा-पद्धति तथा वातावरण निर्मित करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं।

(क) <u>शीघ्रता एवं आतुरता</u>—शिक्षा को भक्ति-मूलक रूप देनेमें हमारी प्रथम कठिनाई सुधार सम्बन्धी शीघ्रता तथा आतुरता है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरान्त ही अनेक सुधार-योजनाएँ अत्यधिक संख्या तथा शीघ्रता में निर्मित तथा कार्यान्वित होने लगीं। इसमें सन्देह नहीं कि घोर कठिनाइयों और बाधाओं के होते हुए भी हमारी विभिन्न प्रान्तीय सरकारों ने इस थोड़े समय में बहुत कुछ कर डाला है। परन्तु एक ओर तो इनमें आवश्यकता से बहुत अधिक शक्ति (धन-जन सम्बन्धी) लगी और दूसरे इनमें पारस्परिक तथा

स्वाभाविक सामञ्जस्य स्थापित न हो सका। द्वितीय विश्व-युद्ध के फल-स्वरूप अन्न-वस्त्र की समस्या अत्यन्त विकट अवश्य हो गई थी और उसको तत्काल सुलझाना परमावश्यक था। साथ ही, देशी रियासतों और भौगोलिक सीमा से सम्बन्धित गुत्थियों से भी उदासीन रहने में अहित की सम्भावना थी। किन्तु हमने तो इनके अतिरिक्त भी बहुत कुछ कर डाला और करते ही जा रहे हैं। धड़ा-धड़ कानून पर कानून पास हो रहे हैं और जनता उनमें से बहुतों से उदासीन है। सम्भवतः प्रत्येक अधिकारी यही चाहता है कि उसकी योजना उसी के कार्य-काल में सम्पादित, पल्लवित और पुष्पित भी हो जाय। यह धारणा उचित तथा उपयोगी कदापि नहीं मानी जा सकती।

भारतवर्ष के मूल सिद्धान्त इस वातावरण के लिए इतने छान-बीन कर और सावधानी से बने हुए हैं कि इनमें देश, काल और पात्र के आधार पर कुछ हेर-फेर तो असम्भव नहीं परन्तु आमूल परिवर्तन के लिए स्थान नहीं है। यही कारण है कि यहाँ पर बौद्ध धर्म की शान्ति, अकबर की उदारता, आलमगीर की दृढ़ता, अंगरेजों की कूटनीति, आदि सभी को हताश होना पड़ा। खेद है कि भारतीय अतीत को समझने का प्रयत्न हमारे यहाँ कम हो रहा है। खण्डहरां, टीलों, आदि की खोदाई से उपलब्ध सामग्री का यथा-कथित वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाता है परन्तु उनके बनाने वालों तथा उनमें निहित अनोखे आदर्शों को समझने और पहचानने की परम्परा लगभग वही है जो अन्य देशों में है। अन्य देशों में वर्तमान जीवन की ही प्रधानता होने के कारण अपने अतीत को वे लोग संकुचित तथा सीमित रूप में समझने और चित्रित करने का प्रयत्न करते हैं। दूसरे शब्दों में उनके अतीताध्ययन की रूप-रेखा से भारतीय विशेषताओं की छान-बीन कठिन है। फिर भी, उन देशों के वर्त्तमान वैभव से हमारी आँखें इतनी चकाचौंध हो गई हैं कि उन्हीं के मार्ग का अनुसरण करने के लिए हम अपने को विवश पाते हैं।

हमारी आतुरता से शिक्षा भी अछूती न रह सकी है। यों तो पूर्ण स्वतंत्रता सन् १९४७ ई० में मिली परन्तु पर्याप्त अधिकार, विशेषतया शिक्षा सम्बन्धी, सन् १९३६ में ही प्राप्त हो गये थे। तभी से शिक्षा-सुधार की, लगभग सभी प्रान्तों में, विभिन्न योजनाएँ बनने लगीं। उत्तर प्रदेश सभी ऐसे कामों में पर्याप्त आगे रहता है। जापानी शिक्षा-पद्धति से प्रेरित होकर 'बेसिक शिक्षा' की धून चली। अन्य प्रान्तों में तो कुछ ही दिनों के उपरान्त इसकी प्रगति रुक सी गई थी परन्तु उत्तर-प्रदेश में बनी रही। स्वतंत्रता के उपरान्त

केन्द्रीय सरकार से इसे विशेष प्रोत्साहन फिर मिल रहा है। इसी प्रकार माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा के निमित्त भी विभिन्न योजनाएँ तैयार की जा रही हैं। इनमें अपार धन का अपव्यय हो रहा है। इनकी रूप-रेखा हर प्रकार से अभारतीय होती है। इन्हें तैयार करने के पूर्व रूस, अमेरिका, ब्रिटेन, जापान, आदि की शिक्षा-पद्धतियों का विस्तृत तथा तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। उन पद्धतियों की अच्छाइयों को अपनाने में जब अधिकाधिक धन-राशि का प्रश्न उठता है तो उन्हें धीरे से छोड़ दिया जाता है और उन देशों की सस्ती तथा निम्न कोटि की शिक्षा-परम्पराएँ कार्यान्वित करके हम लोग अपने आप ही अपनी पीठ ठोंकने लगते हैं। इन्हीं कठिनाइयों से हमारी सभी योजनाएँ प्रायः असफल होती जा रही हैं।

आतुरता के लिए कोई व्यक्ति, जाति अथवा देश अपने को प्रेरित तथा विवश तब पाता है जब एक ओर उसमें अध्यवसाय तथा जिज्ञासा का अभाव रहता है और दूसरी ओर प्रचुर मात्रा में बाह्य साधन उपलब्ध रहते हैं। जिज्ञासा और अध्यवसाय के बल पर साधन तैयार करने में स्वतः बिलम्ब होता है, परन्तु कार्य सुन्दर, स्थायी तथा उपयोगी होता है। अपनी कमाई का धन हम अत्यन्त सावधानी से व्यय करते हैं और बाप-दादों से प्राप्त धन का प्रायः अपव्यय होता है। इसी सिद्धान्त पर हमें अपनी शिक्षा-योजनाओं पर विचार करना चाहिए। कभी-कभी प्रचार और ख्याति के निमित्त भी हमें शीघ्रता करनी पड़ती है। अपने नेताओं, कर्णधारों तथा उच्चाधिकारियों से यह विनम्र निवेदन है कि अन्य विभागों में वे चाहे जितनी शीघ्रता तथा आतुरता करें परन्तु शिक्षा में सँभालकर कदम उठायें। ऐसा करने में उन्हें विशेष कठिनाई न होगी। अन्य देशों में तथा अपनी ही वर्तमान शासन-व्यवस्था में 'शिक्षा' सरकार के मुख्य दायित्वों में नहीं है। फलतः इस पर सुविधापूर्वक विस्तृत तथा विविध विचार-विनिमय किया जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय आदर्शों की रक्षा के लिए शिक्षा को सर्वाधिक महत्त्व देना पड़ेगा—यद्यपि यह कार्य सुगम नहीं है। भारतीय विशेषताओं, परम्पराओं तथा आवश्यकताओं पर हमें अत्यन्त सावधानी से विचार करना है।

उपर्युक्त शीघ्रता तथा आतुरता के कारण अभी तक हमारे यहाँ शिक्षा-सम्बन्धी कोई भी सुधार न तो हो सका है और न इसके लिए कोई प्रयत्न ही हो रहा है। प्रथम तथा द्वितीय पञ्चवर्षीय योजनाओं में अन्य विभागों की भाँति शिक्षा का भी नाम है। परन्तु उसी विदेशी शिक्षा पद्धति को दृढ़तर बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। इसका मुख्य कारण हमारे नेताओं को

दुविधा है। जब वे विदेशों में जाते हैं तो वहाँ की शिक्षा-संस्थाओं के तड़क-भड़क तथा हाव-भाव पर मुग्ध होकर उसी ज्ञान-मूलक शिक्षा के तार-तम्य को अपने यहाँ भी अधिकाधिक प्रफुल्लित करने के लिए आतुर होते हैं, परन्तु यहाँ लौटने पर जब अपने प्राचीन ग्रन्थों का वे अध्ययन करते हैं तो यहाँ के सुन्दर और अमूल्य आदर्शों की ओर आकर्षित होते हैं। इसी धुन में कभी-कभी बेचारे वर्तमान शिक्षक यह कह कर फटकारे जाते हैं कि वे प्राचीन गुरुओं की भाँति पवित्र तथा त्यागमय जीवन क्यों नहीं व्यतीत करते। यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यहाँ पर त्याग से तात्पर्य केवल 'कम वेतन' सहर्ष स्वीकार कर लेने से प्रायः होता है। प्राचीन भारतवर्ष में तो त्याग की प्रधानता सर्वत्र थी। उस समय का प्रत्येक सहृदय राजा तथा धनी व्यक्ति किसी ऐसे सुअवसर की ताक में रहता था जब कि वह अपने सभी वैभव को हस्तान्तरित करके मुक्त हो जाय। इस अनुराग-प्रधान तथा ज्ञान-मूलक शिक्षा के तार-तम्य में इस प्रकार के त्याग को कहाँ स्थान है।

(ख) धार्मिक स्थिति—शिक्षा को भक्ति-मूलक रूप देने में हमारी दूसरी कठिनाई धर्म-सम्बन्धी है। वर्तमान कालमें धर्म का वाह्य ढाँचा तो ज्यों का त्यों बना हुआ है। हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, आदि विभिन्न धर्मों में सारा राष्ट्र विभक्त है। मन्दिर, गिरजे, मस्जिदें, गुरुद्वारे, आदि भी ज्यों के त्यों वर्तमान हैं। प्रतिदिन साधारण रूप से और विशेष पर्वों के समय विशेष रूप से पूजा, नमाज, प्रार्थना, आदि की विधिवत् व्यवस्था है। परन्तु इनमें स्वाभाविक निष्ठा और आस्था का अभाव है। भारतीय 'संविधान' में भी धर्म के महत्त्व यदि तिरस्कृत नहीं तो परोक्ष अवश्य ही कर दिये गये हैं। हमारे व्यवहार में धर्म का प्रायः मखौल ही होता रहता है। कितनी दयनीय दशा हो गई है कि न्यायालयों में, दुकानों पर तथा सभाओं में लोग 'भगवान' की शपथ खाते हुए बिना किसी हिचक और दुविधा के असत्य बोलते हैं। साथ ही, न्यायाधीश, दुकानदार, निर्णायक, आदि भी 'भगवान' की साक्षी देकर कही गई बातों को भी स्वेच्छानुसार उचित अथवा अनुचित मानते हैं। पाश्चात्य देशों के अधिकाधिक सम्पर्क से यह परिस्थिति हुई है। उनके यहाँ धर्म सर्वदा साधन मात्र रहा। वैज्ञानिक आविष्कारों से अधिकाधिक साक्षात सहायता मिलने के कारण भी 'धर्म' रूपी अप्रत्यक्ष साधन का महत्त्व वहाँ और घट गया। वर्तमानकाल में यूरोप वाले अपने धर्म का उतना ही आदर करते हैं जितना कि मध्यकाल में कोई प्रतापी सम्राट अपने अत्यन्त आज्ञाकारी

मंत्री का करता था। परन्तु आदर्शों की भिन्नता के कारण भारतवर्ष में धर्म को वास्तविक महत्त्व उतना भी नहीं दिया जा रहा है।

वाराणसी में एक शैव महात्मा हैं। वे अत्यन्त उदार प्रकृति के हैं और बहुत ही सादा तथा पवित्र जीवन व्यतीत करते है। उनके पास पर्याप्त सम्पत्ति है और कभी-कभी निश्चित व्याज पर लेन-देन भी करते हैं। सन् १९५३ ई० की जुलाई तक मैं वाराणसी में ही राजकीय ट्रेनिङ्ग कालेज में प्राध्यापक था। मैं प्रति दिन शाम को उनका दर्शन करने जाया करता था और धर्म-कर्म की वहाँ पर विधिवत् व्याख्या प्रायः होती थी। उस समय मेरी समस्त चिन्ताएँ समाप्त हो जाती थीं और मुझे बड़ा आनन्द आता था। आरम्भ में मैं इस विचार से गया था कि यदि सम्भव हो तो कम व्याज पर अपनी कृषि तथा अपना मकान सुधारने के लिए कुछ ऋण लूँ, परन्तु धीरे-धीरे मेरे मन में उनके प्रति वास्तविक श्रद्धा हो गई और आज भी है। कहने का साहस तो न हुआ पर उनको मैंने अपनी कठिनाइयाँ लिख कर दी। हाँ, इसके पूर्व उनसे निम्न अर्द्धाली सम्बन्धी शङ्का के समाधान की प्रार्थना की थी—

सुर नर मुनि सबकर यह रीती।
स्वारथ लागि करैं सब प्रीती॥

शङ्का यह थी कि देवता लोग भी स्वार्थ के ही निमित्त प्रीति क्यों करते हैं? महात्मा जी के रुपये-पैसे का प्रबन्ध एक बाबू साहब करते थे। महात्मा जी और बाबू साहब दोनों ने कहा कि 'मास्टर साहब! यह व्यवहार है; इसमें धर्म-कर्म नहीं आता। व्याज की दर किसी प्रकार भी कम नहीं की जा सकती।'

सन् १९५३ ई० के अगस्त में मेरा स्थानान्तर प्रयाग हो गया। मैं एक बार घड़ी की मरम्मत कराने गया। घड़ीसाज महोदय 'कुरान शरीफ़' का झूम-झूम कर पाठ कर रहे थे। उनके प्रति मेरे मनमें बड़ी श्रद्धा हुई और मैंने सोचा कि ये धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति हैं—इनसे अच्छा काम कोई अन्य नहीं कर सकता। मैं उन्हीं के सामने खड़ा हो गया। उनकी आँखें तुरन्त ऊपर उठीं और उन्होंने कहा—'कहिए'। मैंने कहा, 'साहब! आप अत्यन्त पवित्र कार्य में लगे हुए हैं—जितना उचित पैसा हो, ले लीजिए और मेरी यह घड़ी ठीक कर दीजिए।' उस महाशय ने तुरन्त कहा 'देखिए साहब! यह रोज़गार है; इससे कुरान शरीफ़ से कोई ताल्लुक नहीं।' मैं बैठ गया और घड़ी बनने लगी। उन्होंने बड़े परिश्रम से कार्य किया और उसे ठीक कर दी। परन्तु बैठे-बैठे मैं सोचता रहा कि हमारे 'संविधान' में धर्म की वह दशा है तथा

'व्यवहार' और 'रोज़गार' में यह । यह समझना बड़ा कठिन हो गया है कि धर्म तथा धार्मिक सिद्धान्तों का उपयोग यदि राजनीति में सम्भव नहीं, व्यवहार में उचित नहीं, रोज़गार में सुगम नहीं तो और कहाँ पर हो सकेगा ?

धर्म की इस दुर्व्यवस्था से हमारे देश में भक्ति-मूलक शिक्षा के पुनरुद्धार में विविध कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी । धार्मिक वातावरण में आत्मनियंत्रण सुलभ तथा स्वाभाविक होता है । इन दोनों का सम्बन्ध अविच्छिन्न सा है । यों तो यहाँ का मूल धर्म बहुत ही विस्तृत, व्यापक तथा उदार है परन्तु व्यक्तिगत स्वार्थों के उत्तरोत्तर ऊपर उठने की जितनी सुन्दर तथा सफल विधि इसमें दी गई है उतनी संसार के किसी अन्य धर्म में नहीं । खेद है कि वर्तमानकाल में इसकी विशेषताओं से हम लोग पूर्णतया उदासीन हैं । यद्यपि नाना प्रकार के कानून, अधिनियम, आदि बने हुए हैं और बनते जा रहे हैं परन्तु उन्हें वह महत्त्व *(कम से कम भारतवर्ष में) नहीं प्राप्त है जो कि परम्परागत धार्मिक* सिद्धान्तों को होता है । अन्य उन्नतिशील देशों में समाज या सरकार के कानूनों को आजकल लोग अधिकाधिक महत्त्व देते हैं परन्तु हमारे यहाँ ऐसी बात नहीं है । हमारी वर्तमान दशा अत्यन्त दयनीय हो गई है । अन्य देशों की देखा-देखी तो हम अपने धार्मिक सिद्धान्तों की अवहेलना करते हैं और पूर्व जन्म, पुनर्जन्म, गीता, पुराण, आदि की आड़ में वर्तमान कानूनों का तिरस्कार कर रहे हैं । फलतः हमारा वर्तमान जीवन एक प्रकार से उद्देश्यों, आदर्शों, संस्कारों, आदि से रहित है । इन परिस्थितियों में किसी प्रकार की भी ठोस शिक्षा सम्भव नहीं और भक्ति-मूलक शिक्षा का तो नाम भी लेना अनुचित है ।

(ग) वैज्ञानिक चमत्कार—शिक्षा को भक्ति-मूलक रूप देने में हमारी तीसरी कठिनाई वैज्ञानिक चमत्कारों पर आधारित है । वर्तमान युग की मुख्य विशेषता विज्ञान सम्बन्धी है । वैज्ञानिकों ने प्रकृति के अनेक क्षेत्रों को वश में कर लिया है और वे करते ही जा रहे हैं । असम्भव नहीं कि कुछ दिनों में वे जन्म और मरण को भी नियंत्रित कर लें । जन्म पर तो कई प्रकार के अधिकार स्थापित हो गये हैं परन्तु मृत्यु में अभी तक दाल नहीं गल सकी है । ज्यों-ज्यों विज्ञान की प्रगति हो रही है त्यों-त्यों धर्म का, यद्यपि अधिकांश वैज्ञानिक अपने धर्म के कट्टर पोषक थे, प्रभाव कम होता जा रहा है । आज का मनुष्य सोचता है कि अपनी सभी आवश्यकताएँ विभिन्न मशीनों द्वारा पूरी की जा सकती हैं । जब रेल, मोटर, तार, आदि न थे तो एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाना कठिन था, पग-पग पर चोर डाकुओं तथा हिंसक पशुओं का

भय था। उस समय अनेक देवी-देवताओं की मनौती करके हम घरसे निकलते थे और सकुशल लौटने पर विशेष प्रकार के धार्मिक उत्सव, यज्ञ, प्रीतिभोज, ब्रह्मभोज. आदि सम्पादित होते थे। आजकल तो यात्रा से पूर्व रेलवे समय-चक्र विधिवत् पढ़ लिया जाता है और यात्रा प्रायः सकुशल समाप्त हो ही जाती है। धनी लोग सुविधा पूर्वक अल्पाल्प समय में वायुयान से यात्रा करने लगे हैं.। इसी प्रकार की सुविधाएँ हमें अन्य कार्यों के सम्पादन में भी मिल रही हैं।

आर्थिक दृष्टिकोण से तो उपर्युक्त सुविधाओं को हम बड़ा महत्त्व देते हैं परन्तु सुख और शान्ति के विचार से ये उतनी उपयोगी नहीं हैं। भारतीय परम्परा में शरीर, स्वास्थ्य तथा स्वच्छता की व्यवस्था भी धर्म के ही अन्तर्गत निहित है। विज्ञान के चकाचौंध में धर्म का तिरस्कार लगभग सभी देशों में हो रहा है परन्तु उनके यहाँ इससे अधिक हानि नहीं हो रही है। उनके धर्म की रूप-रेखा सीमित तथा निर्धारित है। भारतवर्ष में धर्म की ओर से उदासीन हो जाने के कारण यहाँ के जीवन का सौन्दर्य ही समाप्त हो गया है। फलतः विज्ञान के उत्तरोत्तर विकास से यहाँ की व्यक्तिगत पवित्रता और दृढ़ता को अपार क्षति पहुँची है। रेल, बस, आदि में आवश्यकता से अधिक स्थान लोग घेरे रहते हैं परन्तु दूसरों को नहीं आने देते। कभी-कभी तो गाड़ी पर न चढ़-सकने वालों की अभावपूर्ण तथा हताश आकृति को देखकर हम लोग मन ही मन आनन्दित होते हैं। आजकल हम भारतवासियों का हृदय सबसे संकुचित हो गया है। अन्य देशों की देखा-देखी धर्म का स्थान अपने यहाँ भी गौण हो जाने से हम लोगों का जीवन निरंकुश सा हो गया है। संक्षेप में, दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि भारतवर्ष को, अन्य देशों की अपेक्षा, विज्ञान से अधिक हानियाँ हो रही हैं।

पाश्चात्य देशों के माध्यम से 'ज्ञान' और 'विज्ञान' की ऐसी गुट-बन्दी हो गई है कि परिस्थितियाँ सँभाले नहीं सँभल रही हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों के सम्बन्ध में संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि इनसे हमें विभिन्न प्रकार की असीमित शक्तियाँ प्राप्त होती जा रही हैं। शक्ति-सम्पन्न होने पर ही मनुष्य पुण्य-पाप, आदि सब कुछ कर सकने में समर्थ होता है। ज्ञान और विवेक के सम्बन्ध में पिछले अध्यायोंमें कई बार संकेत किया जा चुका है। ज्ञान-परम्परा में विवेक दृढ़ नहीं रह पाता। माया के बने रहने से तुच्छ से तुच्छ स्वार्थ को धक्का पहुँचते ही हमारा विवेक तिरोहित हो जाता है। साधारण स्थिति में तो ज्ञान हमारा विधिवत् पथ-प्रदर्शन करता है परन्तु किसी गुत्थी के उलझते

ही वह हमारा साथ छोड़ देता है। सर्कस में शेर, हाथी, आदि अनेक शक्तिशाली जानवर ऐसे सिखाये हुए होते हैं कि वे बकरी के समान व्यवहार करते हैं परन्तु उन्हें रखना पड़ता है पिंजड़े के ही भीतर! उनके ऊपर पूर्ण विश्वास करना सम्भव नहीं। यही दशा हमारे ज्ञान की है। इससे समय-समय पर हम ऊँचा से ऊँचा कार्य कर जाते हैं परन्तु इस पर हमें पूर्ण विश्वास नहीं हो सकता। फलतः 'विज्ञान' का सदुपयोग केवल ज्ञान द्वारा सम्भव नहीं। ज्ञान के अन्तर्गत माया, अहंकार, प्रतिशोध, ईर्ष्या, आदि विधिवत् सुरक्षित है। इन्हीं के पोषण के लिए वैज्ञानिक शक्तियों का प्रयोग हो रहा है।

ज्ञान-मूलक शिक्षा वाले देशों का अग्रणी ब्रिटेन है। ब्रिटेन भी माया को नियंत्रित न कर सका। उपयुक्त शिक्षा के बल पर उसने 'मनन' और 'चिन्तन' का अभ्यास तो पूर्ण रूप से कर लिया है परन्तु नियंत्रण का अभ्यास न कर सका। प्रत्येक युद्ध तथा संघर्ष में वह पर्याप्त मनन तथा चिन्तन के उपरान्त कूदा, पर कूदा अवश्य। कूदने के आकर्षण को वह रोक न सका—क्योंकि इसके लिए उसकी संस्कृति में स्थान बहुत ही कम है। मनन और चिन्तन में सिद्धहस्त होने के कारण ब्रिटेन आगे-पीछे होना तथा लौट आना भी विधिवत् जानता है परन्तु संघर्ष-विशेष में कूदने से रुक नहीं सकता। जुलाई-अगस्त सन् १९५६ ई० की उसकी स्वेज नहर सम्बन्धी नीति से भी लगभग यही चरितार्थ हो रहा है। जब ब्रिटेन की यह दशा है तो अन्य देशों का कहना ही क्या है। अभाग्यवश ज्ञान-मूलक शिक्षा और व्यक्ति-प्रधान संस्कृति वाले देशों के हाथों में पड़कर विज्ञान बहुत कुछ कुख्यात भी हो रहा है। इसके आविष्कारों से मानव जाति के कल्याण ही नहीं हो रहे हैं; इनसे अनेक हानियाँ भी हो रही हैं। विज्ञान के ही दुरुपयोग से पिछले महायुद्ध में जापान के दो नगर देखते-देखते समाप्त हो गये।

भारतवर्ष में भक्ति-मूलक शिक्षा की पुनर्व्यवस्था करने में वैज्ञानिक चमत्कारों से अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी। बिजली, रेल, तार, टेलीफोन, आदि से हमारा दैनिक जीवन इतना यथाकथित सुखी तथा सुविधामय हो गया कि भक्ति-मूलक शिक्षा में अपेक्षित शारीरिक तथा व्यक्तिगत अभ्यासों की दृढ़ता से वर्त्तमान भारतवासी ऊब जा सकते हैं। दूसरे शब्दों में इन यथाकथित सुविधाओं से हमारे शरीर, व्यक्तित्व तथा स्वास्थ्य इतने बनावटी और परतंत्र हो गये हैं कि मूल भारतीय आदर्शों से हम अपना जी चुरा सकते हैं। कुछ भी हो, हमें अपना उद्धार तो करना ही है। वैज्ञानिक आविष्कारों का उपयोग यदि मूल भारतीय संस्कृति के सिद्धान्तों के अनुसार किया जाय तो

समस्त विश्व का कल्याण हो सकता है। शिक्षा तथा शिक्षा-पद्धति निर्धारित करने में सबसे बड़ी सावधानी हमें यह रखनी है कि एक ओर विज्ञान और धर्म में तथा दूसरी ओर विज्ञान और कर्म में सामञ्जस्य स्थापित हो सके। दूसरे शब्दों में, अपने छात्रों से हमें ऐसे अभ्यास कराने हैं कि एक ओर तो वे विज्ञान के विविध साधनों को देखकर मूल-साधन 'परमात्मा' को न भूलें और दूसरी ओर विज्ञान के साधनों का प्रयोग स्वार्थ-सिद्धि के लिए न्यूनतम करें। उनके हाथों में बन्दूक, पिस्तौल, आदि सब कुछ हों परन्तु क्षणिक मनोविकार के फलस्वरूप इनके प्रयोग की उन्हें इच्छा ही न हो।

(च) गणतंत्रात्मक, संविधान—शिक्षा को भक्ति-मूलक रूप देने में चौथी कठिनाई जन-तंत्र पर आधारित है। वर्तमान युग की दूसरी मुख्य विशेषता जन-तंत्र एवं गणतंत्र सम्बन्धी है। इसकी भित्ति भी प्राचीन यूनान-रोम तथा वर्तमान ब्रिटेन के आदर्शों पर अवलम्बित है। वर्त्तमान काल में जो देश इसे जितनी ही शीघ्रता, पूर्णता और तीव्रता से अपना रहा है वह उतना ही सुविकसित तथा प्रगतिशील माना जा रहा है। भारतवर्ष ने स्वतंत्र होते ही वयस्क मताधिकार अपने नागरिकों को दे दिया। इह-लोक को ही सब कुछ मानने वाले व्यक्तित्व-प्रधान समाज के लिए यह वास्तव में आवश्यक है परन्तु पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के आदर्शों पर अवलम्बित भारतवर्ष की कर्म-प्रधान संस्कृति के लिए यह कहाँ तक उपयोगी है इसे हमारे कर्णधार ही जान सकते हैं। यहाँ पर भारतीय दृष्टिकोण से जन-तंत्र की उपयोगिता निर्धारित करना उद्देश्य नहीं है प्रत्युत यह विचार करना है कि भारतीय शिक्षा को अधिकाधिक भक्ति-मूलक रूप देने में इससे कौन-कौन सी कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी। उचित हो अथवा अनुचित परन्तु भारतवर्ष ने स्वतंत्रता-प्राप्ति के कुछ ही समय के उपरान्त अपने को एक गण-तंत्र राष्ट्र घोषित कर दिया और इसी के अनुरूप एक अनोखा तथा विस्तृत संविधान भी तैयार कर लिया। फलतः देश के सभी वयस्क समान अधिकार वाले हो गये हैं—हर प्रकार के भेद-भाव अवैध घोषित कर दिये गये हैं।

प्रचार के उद्देश्य से कुछ भी कहा जा सकता है परन्तु शिक्षा की रूप-रेखा निर्धारित करते समय वास्तविकता से दूर हटना देश और समाज दोनों ही के लिए घातक है। इसका उल्लेख पहले ही हो चुका है कि वर्तमान भारतीय समाज की यथाकथित विचित्रताएँ यहाँ के मूल आदर्शों पर अवलम्बित हैं और उन्हें भ्रमवश भद्दी, अस्वाभाविक, अमानुषिक, आदि मानना भारतीयता के साथ अन्याय करना है। अपने नये अधिकारों और अधिकार देने वालों

का तिरस्कार अधिकांश भारतवासी इस लिए नहीं करते कि वे निरक्षर अथवा अशिक्षित हैं प्रत्युत इस लिए कि ये अधिकार उनके वास्तविक जीवन में खपते नहीं। पाश्चात्य आदर्शों से लदे होने के कारण भारतीय पारिवारिक सङ्गठन छिन्न-भिन्न सा हो गया है। फिर भी—उत्सवों, पर्वों, यज्ञों तथा अन्य सार्वजनिक तथा सामूहिक अवसरों पर, कुछ ही समय के लिए सही, वास्तविक पारिवारिक परम्परा समादृत होती है। किसी अवसर पर पुरोहित को, किसी पर सर्वाधिक वृद्ध गुरुजन को, किसी पर श्वसुरालय से लौटी हुई पुत्रियों को और कभी किसी अन्य ऐसे व्यक्ति को जिससे मन-मोटाव अथवा शत्रुता होती है सम्मानित किया जाता है। मन-मोटाव और शत्रुता के होते हुए भी व्यक्ति-विशेष अपने दायित्व को आस्था तथा उल्लास के साथ पूरा करता है। नवशिशुओं का नामकरण कुटुम्ब के सर्वाधिक वृद्ध द्वारा होना चाहिए। बच्चों के माता-पिता से बोल-चाल (मनमोटाव के कारण) न होने पर भी वृद्धजन उनका नाम रखते हैं और उन्हें आशीर्वाद देते हैं।

जिस समाज में सगे-सम्बन्धियों की व्याख्या इतनी विस्तृत तथा दृढ है उसमें वयस्क मताधिकार का विशेष महत्त्व नहीं दीखता। मत-दान भी तो एक पुण्य पर्व ही है। फलतः परिवार या कुटुम्ब के नेता ही नहीं प्रत्युत वर्ग के चौधरी अथवा नेता के निर्णय के अनुसार सभी लोग मत-दान कर रहे हैं। यह कटु-सत्य है कि जाति-पाँति के भेद-भाव को मिटाने के लिए जन-तंत्र तथा इससे सम्बन्धित अनेक कानून पास हो रहे हैं परन्तु इसी को सम्पादित करने में (मत-दान में) जाति-पाँति के भेदभाव को प्रोत्साहन मिल रहा है। देव, पितृ, लोक, पर-लोक, जाति-पाँति, आदि से सम्बन्धित कितनी ऐसी गुत्थियाँ हैं जो इन नये अधिकारों की प्राप्ति से दिनों-दिन और उलझती जा रही है। लेखक का उद्देश्य यह कदापि नहीं है कि पुरानी परम्परा की अक्षरशः रक्षा की जाय और नवीन कदम न उठाये जायँ कदापि नहीं। इस सम्पूर्ण पुस्तक में यही प्रयत्न किया जा रहा है कि नवीन कदम ऐसी सावधानी तथा काट-छाँट से उठाये जायँ कि वे प्राचीन आदर्शों से जुटते जायँ और यथा सम्भव जोड़ दिखाई भी न पड़ें। यह कार्य कठिन तथा असम्भव नहीं; वास्तव में इस विचार से अभी तक कार्य किया ही नहीं गया है। स्वतंत्रता के पूर्व अंग्रेजी सरकार जिस प्रकार इने-गिने कुछ सुधार कर दिया करती थी लगभग उसी प्रकार स्वतंत्र होने पर राष्ट्रीय सरकार भी सुधारों की मात्रा, संख्या तथा इनका क्षेत्र यथासम्भव अधिकाधिक विस्तृत

करती जा रही है। दूसरे शब्दों में, सुधारों की संख्या, मात्रा आदि में अपार वृद्धि हुई है परन्तु उनकी परिपाटी तथा रूप-रेखा ज्यों की त्यों अर्थात् विदेशी है।

पिछले अध्यायों में यथा-स्थान कहा गया है कि भक्ति-मूलक शिक्षा का देना और लेना सबके लिए सम्भव नहीं। सभी गुरु तथा सभी छात्र इसके पात्र नहीं हो सकते। जहाँ गुरुओं को प्रतिभा-सम्पन्न, सच्चरित्र, उदार, दृढ़ तथा संयमी होना चाहिए वहाँ छात्रों को आज्ञाकारी, सुशील, अध्यवसायी, सहनशील, धैर्यवान तथा उत्सुक। प्राचीन भारतवर्ष में कुछ ही वर्ग को शिक्षक तथा शिक्षार्थी होने के जहाँ और कई कारण थे वहाँ सबसे मुख्य यही था कि इस शिक्षा की रूप-रेखा अत्यन्त उच्च कोटि की थी और वह सबके लिए सम्भव न थी। परन्तु इस शिक्षा से शिक्षित इने-गिने लोग ही समस्त समाज को उसी प्रकार आलोकित करते थे जिस प्रकार सूर्य समस्त अन्धकार को दूर करता है। यदि व्यक्तिगत उत्कर्ष की होड़ न हो तो निश्चय है कि अधिकांश लोग पथ-प्रदर्शक की खोज पग-पग पर करते रहते हैं। पथ-प्रदर्शन की योग्यता इने-गिने कुछ ही व्यक्तियों में होती है। ऐसे व्यक्तियों को प्रकट होने में प्रत्येक समाज में विलम्ब होता है; अनेक विघ्न-बाधाओं तथा रूढ़ियों को काटते-छाँटते जीवन के उत्तरार्द्ध में कहीं वे अपना वास्तविक स्वरूप प्रदर्शित कर पाते हैं। परन्तु भक्ति-मूलक शिक्षा में ऐसे व्यक्ति छात्रावस्था में ही पहचान लिये जाते हैं। शिक्षा की रूप-रेखा अभारतीय होने ही के कारण महात्मा गाँधी को भी हमने अथवा विश्व ने देर में पहचाना।

कुछ भी हो, जन तंत्र का लेश मात्र भी तिरस्कार करना हमारे लिए असम्भव है। भक्ति-मूलक शिक्षा की रूप-रेखा में हमें सावधानी से ऐसे हेर-फेर करने हैं कि अधिकाधिक लोग इसे रुचि और विश्वास के साथ ग्रहण कर सकें। यह परिवर्तन भी कठिन नहीं। जिस विद्या में आत्म-नियंत्रण की योजना और व्यवस्था हो उसके लिए सभी परिस्थितियाँ सुगम और समान होती है। यदि ध्यान से विचार किया जाय तो विदित होगा कि मत-दान की दुविधा से वास्तव में बचना इसी शिक्षा से सुलभ है। जन-तंत्र का मूल आधार कर्त्तव्य है और भक्ति-मूलक शिक्षा की भित्ति कर्मों पर ही निर्मित है। भारतीय 'कर्म' और वर्त्तमान 'कर्त्तव्य' की रूप-रेखा में अन्तर अवश्य है परन्तु इस अन्तर को न्यूनातिन्यून अथवा लुप्त करना सुगम है। ये अन्तर मार्ग और मात्रा सम्बन्धी हैं न कि उद्देश्य और फल सम्बन्धी। संसार के सभी धर्मों और परम्पराओं का उद्देश्य सुख और शान्ति है। हाँ भौगोलिक

परिस्थितियों के अनुसार इनकी व्याख्या और रूप-रेखा में अन्तर है। इसी अन्तर को अपनी आवश्यकतानुसार ठीक करना वास्तविक सुधार है। भक्ति-मूलक शिक्षा तथा कर्म-प्रधान संस्कृति ही के माध्यम से जनतंत्र की अच्छाइयों को अधिकाधिक प्रोत्साहन और त्रुटियों के निर्मूलन की सम्भावना है।

(छ) आर्थिक होड़—भारतीय शिक्षा को भक्ति-मूलक रूप देने में सबसे बड़ी कठिनाई वर्त्तमान आर्थिक होड़ से हो सकती है। पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में शिक्षा-सुधार की जितनी भी योजनाएँ हमारे यहाँ बनीं, उन सबका दृष्टिकोण आर्थिक एवं अभारतीय रहा। उन सभी योजनाओं का आधार बेकारी अथवा धन-सम्बन्धी अन्य समस्याएँ रहीं। कोई फलाहारी व्यक्ति चाहे कितना हू भूखा क्यों न हो परन्तु उसकी तृप्ति अन्न अथवा माँस के स्वादिष्ट से स्वादिष्ट भोजन से कैसे हो सकती है? जिस देश की सुव्यवस्थित तथा विकसित संस्कृति के मूल-सिद्धान्तों में 'लक्ष्मी' और 'सरस्वती' की पारस्परिक ईर्ष्या चित्रित हो, उस देश की शिक्षा को, चाहे वहाँ के सभी लोग निरक्षर तथा भूखे क्यों न हों, 'लक्ष्मी' का उत्पादक बनाने का प्रयत्न कहाँ तक न्याय-सङ्गत तथा उपयोगी होगा? सन् १९३० ई० के उपरान्त जब बेकारी बढ़ी तो 'बेसिक शिक्षा' का प्रादुर्भाव हुआ और उस समय यह कहा गया कि बच्चों की शिक्षा ऐसी विधि से सम्पादित होगी कि यथा सम्भव शिक्षा के आर्थिक दायित्व को छात्र स्वयं वहन कर सकेंगे। सन् १९५३–५४ में उत्तर-प्रदेश की सरकार ने 'शिक्षा-पुनर्व्यवस्था' (री-ओरियन टेशन) की योजना चलाई। इसमें शिक्षा को कृषि तथा उद्योग के रंग में रँगने का प्रयत्न है। यह योजना अभी चल रही है। इसके भविष्य की कल्पना कठिन है। इसमें भी यह व्यवस्था है कि उपज का अमुक अंश शिक्षक पाएँगे और अमुक छात्र। अन्य देशों की तुलना में ये प्रयत्न चाहे जितने उपयोगी तथा सामयिक घोषित किये जायँ परन्तु भारतीय परन्परा से विचार करते समय किसी भी देश-प्रेमी भारतवासी को गोस्वामी तुलसीदास जी का निम्नांकित दोहा याद आये बिना नहीं रह सकता:—

ग्रह ग्रहीत, पुनि वात बस, तेहि पुनि बीछी मार।
ताहि पियावहु वारुणी, कहौ कौन उपचार॥

भारतीय परम्परा में धन 'साध्य' कभी भी नहीं रहा। 'कर्म' को महत्त्व मिलने से धन-धान्य की प्रचुरता यहाँ योंही रही। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में भी इसकी व्याख्या केवल साधन रूप में है। पाश्चात्य चमत्कार के वर्तमान चकाचौंध का लोहा मानने वाले भारतवासी यहाँ के प्राचीन तथा मध्यकालीन

आर्थिक सिद्धान्तों का पाश्चात्य सिद्धान्तों के निकटातिनिकट पहुँचाने में धड़ाधड़ डाक्टरों की उपाधि से विभूषित हो रहे हैं। वे ऐसा करने के लिए विवश भी हैं। क्या विश्वविद्यालय, क्या समाज, क्या परिवार, क्या दाम्पत्य जीवन सभी का आधार तो धन हो गया है। सुन्दर से सुन्दर और गुणवान से गुणवान नवयुवक तथा सुन्दरी से सुन्दरी और गुणवती से गुणवती नवयुवती क्यो न हों, परन्तु उनका वैवाहिक सम्बन्ध उचित व्यक्ति से तभी सम्भव है जब कि उनके पास पर्याप्त धन हो। किसी व्यक्ति के साथ घोर से घोर अन्याय क्यों न हो रहा हो परन्तु उसे न्याय की आशा तभी हो सकती है जब कि उसके पास न्यायालयों में आहुति देने के लिए पर्याप्त धन हो। निस्सन्देह अन्य उन्नतिशील राष्ट्रों में भी आज कल लगभग यही अथवा इससे भी तीव्रतर तारतम्य है। परन्तु इस प्रसङ्ग में अपनी कठिनाइयों का उल्लेख हम पिछले अध्यायों में कर चुके हैं। पूर्व-जन्म और पुनर्जन्म की प्रेरणा से वर्तमान काल में धन एकत्र करने के लिए हम उतने ही आतुर हैं जितने कि प्राचीन तथा मध्यकाल में सत्कर्मों के लिए थे।

अन्य देशों में सगे-सम्बन्धियों की व्याख्या सीमित तथा संकुचित है। उनके यहाँ प्रस्तुत जीवन के ही सब कुछ होने से लोगों में धन की इच्छा अवश्य रहती है परन्तु उसमें लिप्सा की गन्ध नहीं होती। वे यदि धन प्राप्त करते हैं तो उचित रूप में व्यय भी करते हैं। हम भारतवासियों के साथ यह बात नहीं है। अपनी भौगोलिक कठिनाइयों पर पूर्ण विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से हमारे ऋषि-मुनियों ने यहाँ के कण-कण में त्याग, सन्तोष, बलिदान, आदि का स्थायी समावेश किया है। हमारी परम्परा में आय-व्यय की विशद व्याख्या न आवश्यक थी न उपलब्ध ही है। प्राचीन काल को कौन कहे मध्यकाल के आर्थिक आदर्श का अनुमान निम्नांकित दोहे से लगाया जा सकता है।

पानी बाढ़ो नाव में, घर में बाढ़ो दाम।
दोऊ करन उलीचिए, यही सयानो काम॥

शिक्षा और संस्कृति में सामञ्जस्य होने से वर्तमान अमेरिका लगभग वही कर रहा है जैसा कि उपर्युक्त दोहे में सुझाया गया है। हम लोग ऐसा नहीं कर पा रहे हैं—इसका कारण केवल यही नहीं है कि हमारे पास धनाभाव है प्रत्युत यह भी है कि हमारे पास हृदयाभाव हो गया है। किसी व्यक्ति, जाति अथवा राष्ट्र में सहृदयता का बीजारोपण और विकास उसी अनुपात से

होता है जिससे कि उसकी शिक्षा और संस्कृति में सामञ्जस्य होता है। यही कारण है कि हम भारतवासियों की व्यक्तिगत आर्थिक व्यवस्था सन्तोष-जनक नहीं है। हमें धन का सदुपयोग आता ही नहीं। कुछ लोग अधिकाधिक द्रव्य एकत्र करके उसकी चौकीदारी-मात्र करते हैं; कुछ लोग आवश्यकता से बहुत अधिक कृपिण हैं—ऊँचा वेतन उन्हें मिलता है परन्तु मोचियों, कुलियों, एक्केवानों, आदि से वे प्रायः शास्त्रार्थ करते हुए पाये जाते हैं; कुछ लोग ऐसे भी हैं जिन्हें वेतन पर्याप्त मिलता है और उनका व्यक्तिगत व्यय भी थोड़ा है परन्तु दूसरों से अधिकाधिक सहानुभूति रखने के कारण वे प्रायः कठिनाई में रहते हैं।

यदि ध्यान से देखा जाय तो राजकीय योजनाओं में भी क्रमशः यही तार-तम्य होता जा रहा है। यद्यपि आय-व्यय सम्बन्धी सभी नियम, उप-नियम, आदि अंगरेजों के ही बनाये हुए हैं—फिर भी उनका नियंत्रण और सम्पादन पूर्ण रूप से भारतवासियों के हाथों में आ जाने से किसी विभाग अथवा प्रदेश में निर्धारित मात्रा से बहुत अधिक अथवा कम व्यय हो जाता है। ऐसा करने में हम कोई अपराध नहीं करते। ऐसा करने के लिए हम विवश हैं। इसका उल्लेख पिछले ही अध्यायों में हो चुका है कि वर्तमान ज्ञान-मूलक शिक्षा से शिक्षित होने पर भी जीवन के उत्तरार्द्ध में हम स्वभावतः अपनी संस्कृति की ओर तीव्रता से आकर्षित होते हैं। शासन में लगे हुए चोटी के हमारे सभी नेता जीवन के उत्तरार्द्ध में पहुँच चुके हैं। कर्म-प्रधान संस्कृति होने के कारण हम जहाँ आवश्यकता देखते हैं वहाँ अधिक से अधिक धन लगा देते हैं—उस समय निर्धारित धन-राशि का हमें ध्यान नहीं रहता। हाँ, 'व्यक्तित्व प्रधान' पाश्चात्य संस्कृति के अनुसार, (जिसमें प्रत्येक व्यक्ति, विभाग या प्रदेश दूसरों की आवश्यकताओं पर विना ध्यान दिये, अपने भाग के लिये आतुर रहता है) इस प्रकार का व्यय अनुचित तथा अन्याय पूर्ण है। व्यवस्थापिका सभाओं, समाचार पत्रों, आदि में अधिकारियों की आलोचना इन्हीं पाश्चात्य आदर्शों के अनुसार (जो आजकल हमारे यहाँ अभी पूर्ण रूप से प्रचलित हैं) होती है। दूसरे शब्दों में उच्चाधिकारियों और माननीय मंत्रियों को विकट परिस्थितियों का सामना इस लिए करना पड़ता है कि किसी कार्य को वे किये तो रहते हैं भारतीय आदर्शों से प्रेरित होकर और उसे उचित सिद्ध करना पड़ता है पाश्चात्य आदर्शों के अनुसार।

इस अर्थ-प्रधान युग में कितना हूँ धन क्यों न लगाया जाय परन्तु भारतीय शिक्षा की वास्तविक पुनर्व्यवस्था (भक्ति-मूलक) सम्भव नहीं। इस युग

में जहाँ धन को महत्त्व है वहाँ धनार्जन की कुत्सित से कुत्सित अनेक विधियाँ भी निकल गई हैं और निकलती जा रही हैं। हमारे देश में इस समय अभाग्य वश छोटे-बड़े सभी इस संक्रामक रोग में ग्रस्त हैं। भारतवर्ष की भावी शिक्षा-योजना में हमें इस ओर से विशेष सावधान रहना है। धन और शिक्षा का अचानक तथा पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद तो असम्भव सा है, परन्तु देश, काल, और पात्र के सिद्धांन्त की रक्षा करते हुए इस विच्छेद में जिस अनुपात से प्रगति की जा सकेगी उसी अनुपात मे भारतीय शिक्षा का भक्ति-मूलक रूपान्तर भी हो सकेगा। अभी शिक्षा तथा शिक्षा संस्थाओं के पास कुछ विशेष है नहीं जिसे त्याग कर समाज तथा संसार को त्याग, वलिदान, सन्तोष आदि का पाठ पढ़ाना उन्हें सम्भव हो। आरम्भ में इस ओर पर्याप्त धन-धान्य लगाने की आवश्यकता पड़ेगी और फिर यहीं से त्याग का अभ्यास प्रस्फुटित होगा। शिक्षा पर अधिक व्यय करने का एक कारण यह भी है कि सभी स्वभाव के व्यक्तियों को शिक्षित करना है। निम्न कोटि के व्यक्तियों को आकर्षित करने तथा उनके चञ्चल या सुस्त मन को नियंत्रित या प्रेरित करने के लिए अनेक वाह्य उपकरणों और टिम-टाम की आवश्यकता पड़ेगी; इन सबकी व्यवस्था में धन अपेक्षित है।

(ज) अन्तर्राष्ट्रीय योजनाएँ—अन्य देशों में भी शिक्षा सम्बन्धी विविध योजनाएँ बन रही हैं। अमेरिका अन्य देशों के लिए भी पर्याप्त धन दे रहा है; भारतवर्ष में भी शिक्षा की कुछ अमेरिकी योजनाएँ चल रही हैं। ब्रिटेन ने अंग्रेजी के अध्यापन को सुधारने के लिए केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों की स्वीकृति से गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल पेडागाजिकल इन्स्टिट्यूट इलाहाबाद में एक अंग्रेजी के प्रोफेसर की नियुक्ति की है। इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक-सहयोग के उद्देश्य से विभिन्न देशों के विश्वविद्यालयों में उच्च कोटि के छात्रों को एक-दूसरे के यहाँ बुलाया जा रहा है। एशियाई देशों में भारतवर्ष को सभी देश विशेष रूप से प्रोत्साहित करने के लिए प्रयत्नशील हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों की कृपा से जब समस्त विश्वके विभिन्न खण्ड एक दूसरे के निकटातिनिकट होते जा रहे हैं तो इस प्रकार के प्रयत्न सिद्धान्ततः अधिकाधिक सामयिक तथा उपयोगी हैं। परन्तु भारतवर्ष को इनकी वास्तविक उपयोगिता पर कुछ मनन करना चाहिए। अपनी आवश्यकताओं की विना छान-बीन किये अन्य देशों की योजनाओं को कार्यान्वित करते जाना सम्भवतः दूरदर्शिता का द्योतक नहीं। नई-नई योजनाओं को प्रसारित करने वाले देश भारतवर्ष की ओर केवल इसी लिए आकर्षित होते हैं कि यहाँ के वातावरण में उदारता और सहनशीलता की अधिकता है।

भारतीय उदारता और सहनशीलता की उत्पादक और प्रेरक प्रवृत्तियाँ इस समय तिरोहित हैं। इधर-उधर बिखरी हुई प्राचीन तथा मध्यकालीन सामग्री के बल पर हम अधिक दिन तक टिक नहीं सकते। श्रद्धेय नेहरू जी तथा हमारे अन्य कर्णधार इसी बची-खुची सामग्री का अपनी परराष्ट्र नीति में आतुरता से प्रयोग तो कर रहे हैं परन्तु इसके सूखते हुए स्रोतों के पुनरुद्धार से वे लोग उदासीन से हैं। अन्य देशों के शिक्षा सम्बन्धी अनुसन्धानों तथा प्रयोगशालाओं के अनुरूप तो हमारे यहाँ भी कुछ न कुछ कार्य होता ही जा रहा है परन्तु अपनी मौलिक विशेषताओं की ओर हम ध्यान नहीं दे रहे हैं। इस समय ज्ञान-मूलक शिक्षा का समस्त भूमण्डल में एक-छत्र साम्राज्य स्थापित है। इसमें असीमित धन-राशि तथा तड़क-भड़क की आवश्यकता पड़ती है। कम से कम इस दृष्टिकोण से बड़ा ही अच्छा है कि हमारे पास धन का अभाव है। यदि पैसे की कमी न होती तो हम न जाने कहाँ चले जाते। अन्य देशों से इतना अधिक आर्थिक सहयोग नहीं मिल सकता कि हमारा रोग असाध्य हो जाय। फिर भी हमें शीघ्रता से सावधान होना है। एक अच्छाई और है; ये सारी योजनाएँ लगभग ऊँचे स्तर तक ही सीमित हैं।

ऊँचे स्तर से यह तात्पर्य है कि उच्चकोटि के इने-गिने लोग ही इस नवीनता के सम्पर्क में आ पा रहे हैं। सर्व साधारण तक इन्हें पहुँचाने में लोगों को सफलता नहीं मिल रही है। जिस प्रकार अथक प्रयत्न करने पर भी किसी जलवायु की वनस्पतियाँ भिन्न जलवायु में नहीं पनप पातीं ठीक उसी प्रकार से विदेशी आदर्श इस भारतीय समाज में पनप नहीं पा रहे हैं। परन्तु जिस प्रकार जिस भूमि पर ऐसे पौधों को उगाने का प्रयत्न किया जाता है वह हरी-भरी तथा रमणीक नहीं रह पाती, ठीक उसी प्रकार हमारा भारतीय समाज भी सुखी तथा विकासोन्मुख नहीं है। यदि हमारा प्राचीन संग्रह इतना व्यापक और विशाल न होता तो अपनी वर्तमान कमाई के आधार पर तो न जाने हम कहाँ चले गये होते। विदेशों में दीक्षित हमारे होनहार नवयुवक अपने ज्ञान का जञ्जाल सर्व साधारण तक पहुँचाने के लिए विविध प्रकार के टण्ट-घण्ट फैलाते हैं और आरम्भ में पर्याप्त प्रचार करते हैं। परन्तु कुछ ही समय के उपरान्त वे अपनी असफलता के कारणों का अनुसन्धान करने लगते हैं। चाहे उन्हें सफलता मिले अथवा न मिले परन्तु देश की पर्याप्त शक्ति का अपव्यय होता है और साथ ही उचित सुधार भी नहीं हो पाते।

उपर्युक्त नवीनता तथा नई योजनाओं से भी भारतीय शिक्षा को भक्ति-मूलक रूप देने में कठिनाइयाँ हो सकती हैं। स्वतंत्रता-प्राप्ति के साथ-साथ

हमारे राष्ट्र को अनेक विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ा है—उनमें से कई एक को अभी तक नहीं सुलझाया जा सका है। अंगरेजी सरकार की देखा-देखी वर्तमान राष्ट्रीय सरकार भी शिक्षा को 'परमावश्यक दायित्वों' में नहीं गिनती। फलतः एक ओर विभिन्न कठिनाइयों के जमघट से व्यस्त होने के कारण और दूसरी ओर शिक्षा का स्थान गौण होने से इस ओर कोई ठोस कदम नहीं उठाया जा सका है। भारतीय शिक्षा को भक्ति-मूलक रूप देना वर्तमान विश्व की सबसे अनोखी क्रान्ति होगी—सम्भवतः फ्रांसीसी क्रान्ति से भी बढ़कर। अन्तर यह है कि अन्य क्रान्तियों के फलस्वरूप विभिन्न संघर्षों को प्रोत्साहन मिले—उनकी परम्परा और उनके मार्ग तो बदल गये परन्तु प्रवाह लगभग ज्यों का त्यों चला आ रहा है। इस भारतीय शिक्षा-क्रान्ति से क्रमशः संघर्ष निर्मूल होता जायगा। इन्हीं विशेषताओं के कारण इसका प्रारम्भ सुगम नहीं है। विदेशी विद्वानों को कौन कहे, हमारे देश में ही इसके प्रतिकूल सहस्रों विद्वान उठ खड़े होंगे। ज्ञान-मूलक शिक्षा की वर्तमान परम्परा केवल प्रस्तुत जीवन से सम्बन्धित है और इसी से इसके अनुसार चलना सुगम, स्पष्ट और प्रत्यक्ष होता है। भक्ति-मूलक शिक्षा में पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के सम्बन्ध भी निहित हैं। फलतः इसमें प्रस्तुत जीवन को बहुत सँभाल कर व्यतीत करना पड़ता है।

(क) सामाजिक रूढ़ियाँ - भारतीय शिक्षा को भक्ति-मूलक रूप देने में मुख्य रूप से दो प्रकार की सामाजिक गुत्थियाँ उपस्थित होंगी। प्रथम जाति-पाँति के भेद-भाव से और दूसरे भारतीय समाज में स्त्रियों के स्थान से। भक्ति-मूलक शिक्षा में शिक्षक का स्थान सर्वोच्च होना चाहिए। प्राचीन काल में लगभग सभी शिक्षक ब्राह्मण होते थे। वर्तमान परिस्थितियों में यह न तो सम्भव है और न उपयोगी। इस सम्बन्ध में वैधानिक और वास्तविक परिस्थितियों में बड़ा अन्तर है। यह अप्रिय सत्य है कि प्रचार के लिए चाहे जो कुछ कहा और लिखा जाय परन्तु वास्तव में इस भेद-भाव के ऊपर केवल इने-गिने लोग उठ पाये हैं। नगरों में तो इस प्रकार के सम्पर्क के अवसर कम आते हैं परन्तु गाँवों में यथा-कथित निम्नवर्ग के शिक्षकों का प्रभाव जहाँ अन्य कारणों से कम है वहाँ इस कमी से और भी घट गया है। ज्ञान-मूलक शिक्षा में तो छल-कपट आदि से काम चला जा रहा है। छात्रों और शिक्षकों का सम्बन्ध सीमित समय तक केवल सीमित प्रसङ्गों के ऊपर होता है। भक्ति-मूलक शिक्षा में जब तक छात्र, शिक्षकों को पूर्ण रूप से सर्वोच्च नहीं मान लेगा तब तक उसका आत्म-नियंत्रण का अभ्यास आरम्भ ही नहीं हो सकता। यदि

सच्चाई से स्वीकार किया जाय तो यथा-कथित उच्च वर्ग के लोग अन्य विभागके उन अधिकारियों की भी यथा सम्भव उपेक्षा ही करते हैं, जो जन्म से यथाकथित निम्न जाति के हैं।

कर्म-प्रधान संस्कृति और भक्ति-मूलक शिक्षा का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। पाश्चात्य दृष्टि-कोण से महिलाओं का स्थान भी हमारे यहाँ अच्छा नहीं रहा है। खेद है कि पाश्चात्य विद्वानों ने और उनकी देखा-देखी अधिकांश भारतीय विद्वानों ने भी जाति-पाँति के भेद-भाव, स्त्री-दशा, आदि प्रसङ्गों को हमारी पूर्ण सामाजिक तथा सांस्कृतिक व्यवस्था का अङ्ग मानकर इनकी विशेषताओं को समझने का प्रयत्न नहीं किया है। पिछले अध्यायों में यथा सम्भव इन विशेषताओं को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। फिर भी वर्तमान वातावरण इन प्रसङ्गों के ऊपर इतना क्षुब्ध है कि अब भी इन पर गम्भीर विचार करने के लिए लोग तैयार न होंगे। मन में चाहे जो पक रहा हो परन्तु उनके मुँह से उतने ही गिने-चुने शब्द और वाक्य प्रायः निकलेंगे जो अधिकांश लोगों को प्रिय और संविधान तथा सरकार के अनुकूल होंगे। अंगरेजी सरकार के समय में तो यह बाना धारण करने के लिए हम विवश थे। अब तो ऐसा नहीं होना चाहिए। मान लिया जाय कि लगभग सभी व्यवस्था अभी वही है तो शासन मतदान, व्यवसाय, व्यापार, आदि में हम सावधान रहें परन्तु संस्कार, शिक्षा, साहित्य, आदि में तो यथा सम्भव वास्तविकता के निकट आयें। स्त्री-दशा तथा स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में आगे एक पूरा अध्याय ही दिया जा रहा है।

सभी लोगों से सादर अनुरोध है कि देश और राष्ट्र के कल्याण के निमित्त जिस किसी को जो कुछ परित्याग करना पड़े, वह सहर्ष करे। विदेशी नीति और सम्पर्क के फलस्वरूप बहुत से लोग अनुचित परू से ऊपर-नीचे कर दिये गये हैं। व्यक्तित्व को महत्त्व मिलने से ये सब अन्तर हमें खटक रहे हैं। हमारे यहाँ कर्म को महत्त्व है। कर्म-च्युत् हो जाने पर रावण ऐसे प्रकाण्ड तथा प्रतापी ब्राह्मण का सर्वनाश हुआ। निश्चय है कि नवीन व्यवस्था में कर्म-वितरण जन्म के अनुसार न होकर योग्यता पर निर्भर रहेगा। आरम्भ में कदाचित् कुछ कठिनाई हो परन्तु धीरे-धीरे अध्यापन में लगे हुए सभी लोगों का समान आदर होगा। साथ ही इस अध्याय के आरम्भ में ही संकेत किया गया है कि भक्ति-मूलक शिक्षा का प्राचीन रूप न सम्भव है और न उसकी हमें आवश्यकता ही है। भावी शिक्षा की रूप-रेखा ऐसी बनाई जायगी कि भारतीय महिलाओं को समाज में समुचित स्थान स्वतः प्राप्त होगा।

लेखक का दृढ़ विश्वास है कि जिस कार्य को आर्य-समाज तथा बड़े-बड़े नेता नहीं कर पाये उसे सम्भवतः यह भावी शिक्षा अत्यन्त सुन्दर ढङ्ग से सम्पादित करेगी।

(ट) वर्तमान शिक्षक—भक्ति-मूलक शिक्षा के मेरुदण्ड वर्तमान शिक्षकों की दशा और भी शोचनीय है। इन शिक्षकों को समाज में सर्वोच्च स्थान देने की बात सुनकर अधिकांश भारतवासी हँसेंगे और कितने तो क्रोध से काँप उठेंगे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस समय अधिकांश शिक्षक कई दृष्टिकोणों से शिक्षक कहलाने योग्य भी नहीं रह गये हैं। कुछ शिक्षकों के कुकृत्यों के आधार पर लोग कह सकते हैं कि इन लोगों का आदर करके तो राष्ट्र और नीचे तथा नाशोन्मुख हो जायगा। परिस्थिति वास्तव में भयावह है। परन्तु हमें धैर्य और साहस से काम लेना है। यदि सिर में फोड़ा हो गया है तो उस फोड़े को चीर-फार कर ठीक करना होगा न कि सिर को ही काट कर गिरा देना। यदि निष्पक्ष होकर विचार किया जाय तो इस विषाक्त वातावरण का पूर्ण दायित्व केवल शिक्षकों पर ही नहीं प्रत्युत सभी लोगों पर है। समाज के कई वर्ग शिक्षकों से भी नीचे गिरे हुए हैं। शिक्षकों का अधःपतन हमें इसलिए सर्वाधिक नहीं खटकता कि वे सबसे नीचे गिर गये हैं, प्रत्युत इसलिए कि वे बहुत ऊँचे थे और वहाँ से यहाँ चले आये हैं। प्रसङ्गवश इन बातों का उल्लेख अथवा संकेत पिछले अध्यायों में भी करना पड़ा है, अन्यथा वर्तमान और भविष्य की रक्षा पारस्परिक छिद्रान्वेषण तथा दोष-वितरण से न हो सकेगी।

पाश्चात्य संस्कृति में आरम्भ से ही शिक्षा साधन-मात्र रही है परन्तु भारतवर्ष में साधन तथा साध्य दोनों ही—प्रत्युत साध्य मुख्य और साधन गौण। अपनी सत्ता को स्थायी, दृढ़ तथा सुव्यवस्थित रखने के विचार से अंगरेजी सरकार ने केवल शिक्षकों के ही नहीं प्रत्युत बहुतों के अधिकारों को प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से छीनकर शासन में निहित कर दिया था। इस अधिकारापहरण की भी एक विशेषता है। अन्य वर्गों के अधिकार केवल नीति-भेद के कारण खो गये थे और देश की स्वतंत्रता के उपरान्त बहुत कुछ अंशों में स्वतः लौट आये परन्तु शिक्षकों के अधिकार नीति-भेद के साथ-साथ, सिद्धान्त-भेद के कारण भी अज्ञात रूप से लुप्त हो गये हैं। हमारी भारतीय परम्परा में निस्सन्देह कर्म को ही महत्त्व दिया जाता था—अधिकारों की चिन्ता लेशमात्र भी नहीं रहती थी; कर्मों में लगातार लीन रहने से विभिन्न अधिकार अपने-आप प्रचुर-मात्रा में एकत्र होते जाते थे। परन्तु

विदेशों से आई हुई वर्तमान परम्परा में अधिकारों की ही रक्षा के लिए कर्त्तव्य किये जा रहे हैं। सम्भवतः हमारे देश में आजकल इसका यह विकृत रूप है, अन्यथा उन देशों में लोग कर्त्तव्य और अधिकार दोनों ही के लिए समान रूप से उत्सुक रहते हैं। कुछ भी हो, अपने अधिकारों के बिलकुल लुप्त हो जाने के कारण आज के भारतीय शिक्षक अपने कर्त्तव्यों से भी च्युत हो गये हैं।

प्राचीन काल में भारतीय शिक्षक का कार्य सुगम था। शिक्षा का दृष्टिकोण धार्मिक तथा नैतिक होने से शिक्षकों का उच्च होना उनके ही हाथ में था। वे ज्यों-ज्यों अपना जीवन पवित्र करते जाते थे त्यों-त्यों सबकी आँखों में ऊपर उठते जाते थे। परन्तु उस समय पवित्र जीवन व्यतीत करना भी सरल था। उस वातावरण में जो जितना ही परित्याग करता था वह उतना ही महान् होता जाता था—चाहे शिक्षक हों अथवा अन्य वर्ग के लोग। आजकल वर्तमान शिक्षा का दृष्टिकोण उत्तरोत्तर सामाजिक और समाज का दृष्टिकोण आर्थिक हो जाने से स्थिति में क्रान्ति आ गई है; वातावरण क्षुब्ध है। प्रत्येक व्यक्ति छल-कपट के इन्द्रजाल द्वारा अपना काम बनाने के लिए प्रयत्नशील है। बच्चों की शिक्षा में भी लोग अनेक अभूत-पूर्व मंत्रों के प्रयोग का प्रयत्न करते हैं और प्रायः यथाकथित सफलता भी प्राप्त करते हैं। इन परिस्थितियों में बेचारे शिक्षक-गण पवित्र जीवन किस प्रकार व्यतीत कर सकते हैं। अभिभावकों के मंत्रों का प्रत्यक्ष शिकार कभी-कभी शिक्षकों को भी होना ही पड़ता है। संक्षेप में देश के कर्णधारों तथा उच्चाधिकारियों का कर्त्तव्य है कि शिक्षा-समस्या पर धैर्य, साहस और सहानुभूति से विचार करें। शिक्षकों को लगातार कोसते रहने से देश और समाज का कल्याण न हो सकेगा।

कुछ अन्य बातें—इस समस्या का एक पहलू और विचारणीय है। क्या शिक्षकों को भारतीय समाज में बिना ऊपर उठाये भी हम सुव्यवस्थित तथा सुचारु रूप से चल सकते हैं? भक्ति-मूलक शिक्षा के एक-मात्र आधार गुरुओं एवं शिक्षकों को तिरस्कृत करके हम सुखी नहीं रह सकते। वर्तमान काल में समाज को व्यवस्थित रखने के लिए हमारे देश में अन्य देशों की अपेक्षा अधिक पुलिस, न्यायालय, अधिकारी, गुप्तचर, वकील, आदि लगे हैं, परन्तु परिस्थिति दिनों-दिन बिगड़ती ही जा रही है। स्वतंत्रता के उपरान्त तो इन साधनों और उपकरणों में अपार वृद्धि हुई है और यदि आर्थिक कठिनाई न होती तो अब तक इनमें न जाने कितनी अधिक वृद्धि हो गई होती। ये साधन चाहे जितने बढ़ाये जायँ परन्तु देश का स्थायी कल्याण सम्भव नहीं।

क्योंकि इन साधनों की पुष्टि हमारे अतीत से विधिवत् नहीं हो पाती। हमारा कल्याण तभी सम्भव है जब कि शिक्षा और संस्कृति में उचित सामञ्जस्य स्थापित हो जाय। इस सामञ्जस्य की प्रथम कड़ी शिक्षकों को समाज में सर्वोच्च स्थान देना है।

यों तो पिछली दस-बारह शताब्दियों से यहाँ की मूल संस्कृति को ठोकर लगने लगी परन्तु इसका प्रत्यक्ष ह्रास पिछले डेढ़-दो सौ वर्षों में हुआ है। यदि हम विदेशियों के सम्पर्क में न भी आये होते और समयानुसार हमारी ही शिक्षा-पद्धति (भक्ति-मूलक) देश, काल और पात्र के सिद्धान्त पर परिवर्तित और विकसित होती चली आती तब भी विज्ञान, जन-तंत्र, आदि के प्रभाव से शिक्षकों के अधिकारों को विभिन्न धाराएँ पास करके बढ़ाना एवं बचाना पड़ता। संघर्ष के इस नवीन युग में शिक्षक केवल अपने बल पर ऊँचे कदापि नहीं रह सकते थे। शिक्षकों को पर्याप्त बाह्य योग दिये बिना उद्धत और उद्दण्ड प्रकृति के छात्रों की भक्ति-मूलक शिक्षा कदापि सम्भव नहीं। प्रायः बड़े-बड़े नेता, सम्पादक, विद्वान, समाज-सुधारक, आदि समय-समय पर कहा करते हैं कि शिक्षकों को समाज में समुचित स्थान मिलना चाहिए। परन्तु उनकी यह कृपा केवल प्रसङ्ग-वश होती है। ये हृदयोद्गार प्रायः उस समय निकलते हैं जब शिक्षकगण परीक्षाओं का निरीक्षण करते समय अपमानित होते हैं अथवा उपर्युक्त महानुभावों को किसी शिक्षक-सम्मेलन में अथवा किसी शिक्षा-संस्था के वार्षिकोत्सव में भाषण देना होता है। ऐसे अवसरों पर उच्च से उच्च कोटि की साहित्यिक तथा हृदय-प्रेरक भाषा में शिक्षकों की वर्त्तमान दयनीय दशा से सहानुभूति दिखाई जाती है और कुछ विचित्र सुझाव भी दिये जाते हैं।

इस प्रकार की सहानुभूति केवल शिष्टाचार के रूप में दिखाई जाती है। आजकल के सभ्य समाज की परम्परा है कि जो बुलाये उसकी कुछ प्रशंसा कर दी जाय, चाहे कही हुई बातों में कुछ विश्वास हो या न हो। सिद्धान्ततः लोगों का ध्यान सम्भवतः अभी तक इस ओर नहीं गया है। भारतीय शिक्षा-पद्धति में इस परिवर्त्तन या क्रान्ति का होना इसलिए परमावश्यक नहीं है कि इससे शिक्षकों का कल्याण होगा, प्रत्युत इसलिए कि इससे भारतीय संस्कृति और समाज का कल्याण होगा। उपर्युक्त लोगों का तात्पर्य शिक्षकों को ऊँचा स्थान देने से प्रायः उनका वेतन बढ़वाने से होता है। परन्तु केवल वेतन बढ़ा देने से परिस्थितियों में तनिक भी सुधार नहीं हो पायेगा। इस युग का दृष्टिकोण आर्थिक है—शिक्षकों का वेतन कितना बढ़ाया जायगा कि समाज में

सर्वोच्च हो जायँगे। जिले के कलक्टर सबसे धनी तो नहीं होते। उधर विश्व-विद्यालयों के शिक्षक-गण तो किसी कलक्टर अथवा डिप्टी-कलक्टर से कम वेतन नहीं पाते परन्तु छात्र उनकी भी कहाँ सुन रहे हैं। वेतन मात्र बढ़ा देने से शिक्षकों का पारिवारिक जीवन तो सुविधा-जनक हो जायेगा परन्तु समाज और छात्रों का उससे कुछ भी कल्याण नहीं हो पायेगा। मान लिया कि शिक्षक कुछ अधिक परिश्रम और तत्परता से पढ़ाने लगेंगे परन्तु छात्रों और अभिभावकों में परिवर्तन क्योंकर हो पायेगा।

बचपन में छात्र माता-पिता तथा गुरु के सम्पर्क में आते हैं। माता पिता के प्यार में ममता और वात्सल्य की गन्ध स्वाभाविक है। इस प्यार से बच्चे का शारीरिक विकास तो हो जायगा परन्तु समुचित संस्कार नहीं हो पायेंगे। अधिकांश पढ़े-लिखे माता-पिता भी अपने बच्चों का पूर्ण रूप से संस्कार नहीं कर पाते। आवश्यकतानुसार अपने बच्चों को उचित रूप से ताड़ना देने में प्रायः लोग (ममता-वश) संकोच कर जाते हैं। भारतीय शिक्षा के संस्कार और भी कठिन है; आत्म-नियंत्रण सबसे विकट अभ्यास है। बिना इस अभ्यास के यहाँ के जलवायु में उच्चकोटि का जीवन व्यतीत नहीं किया जा सकता। यदि यह अभ्यास आवश्यक है तो किसी भी माता-पिता से अधिक समादृत भारतीय शिक्षक भी आवश्यक हैं। वर्त्तमान छात्रों को कई विषय पढ़ने हैं और उन्हें कई शिक्षकों के सम्पर्क में आना है। अनेक नियमों, उपनियमों, सिद्धान्तों के होते हुए भी 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना:' के अनुसार छात्रों को कई शिक्षकों की रुचि और प्रकृति के अनुकूल चलना पड़ेगा। विभिन्न रुचियों और प्रवृत्तियों में छात्रों को ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से सामञ्जस्य स्थापित करना पड़ेगा। अध्यक्ष और प्रधानाध्यापकों के अस्तित्व से इसमें सुविधा मिलेगी। वर्त्तमान समाज की आवश्यकताओं के विचार से इस प्रकार के सामञ्जस्य अधिकाधिक उपयोगी होंगे।

प्रारम्भकर्त्ता होने के नाते प्राथमिक पाठशालाओं के शिक्षकों का कार्य कठिन तथा अधिकाधिक दायित्वपूर्ण है। माता-पिता के प्यार और पारि-वारिक सुख को छोड़कर बच्चा सर्वप्रथम इन्हीं शिक्षकों के पास आता है। यही कारण है कि अधिकांश बच्चे पाठशालाओं से अवसर पाते ही खिसक जाते हैं। इस स्तर पर डाँट-फटकार तथा पुचकार का ऐसा सामञ्जस्य होना चाहिए कि बच्चा धीरे-धीरे पाठशाला में अपने-आप टिकने लगे। साथ ही इन शिक्षकों को कुछ सुविधाएँ भी होती हैं। परिवार-वियोग से कुछ क्षुब्ध और उद्विग्न बच्चा इन लोगों से यदि तनिक भी प्यार पा जायगा तो उसका

मन धीरे-धीरे लग जायगा। दूसरे, ये बच्चे अवस्था में इतने छोटे और अनुभव में इतने कोरे होते हैं कि शिक्षक गण सुगमता से उन्हें अपने निर्धारित मार्ग पर ले जा सकते हैं, इस स्तर पर बच्चे कच्ची और गीली मिट्टी के समान होते हैं, कुम्हार की भाँति शिक्षक भी इनको देव अथवा दानव बनाने के लिए लगभग स्वतंत्र होते हैं। दूसरे शब्दों में प्राथमिक विद्यालयों का स्थान इन बच्चों में लगभग वही होता है जो प्राचीनकाल में गुरुओं का शिष्यों में होता था। जाति-पाँति ऊँच-नीच, भेद-भाव, आदि से ये रहित होते हैं। फलतः इन शिक्षकों को ऊँचा बनाने में अधिक कठिनाइयाँ उपस्थित न होंगी। एक बार अपना उद्देश्य निर्धारित कर लेने पर इन लोगों को समाज में सुगमता से उचित स्थान दिया जा सकेगा।

समाज की वर्त्तमान आवश्यकताओंके अनुसार माध्यमिक स्तर के शिक्षकों का दायित्व अधिक गूढ़ तथा गम्भीर है। उत्तर माध्यमिक कक्षाओं में पहुँचते-पहुँचते छात्र प्रायः किशोरावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। इसी स्तर पर उन्हें ठीक से सँभालना अत्यन्त दायित्व का कार्य है। इस समय तक उनकी विभिन्न प्रवृत्तियाँ विकसित होकर प्रफुल्लित होने लगती हैं। फिर तो जो कुछ भी उचितानुचित वे सीखते हैं, वह उनका ही हो जाता है। इस स्तर पर शिक्षक उन्हें डाँट-फटकार कर ठीक कदापि नहीं कर सकते। वे तो किसी बात को स्वीकार तब करेंगे जब उसे उचित तथा उपयोगी मान लेंगे। इस प्रकार माध्यमिक विशेषतया उत्तर-माध्यमिक विद्यालयोंके शिक्षकों का जीवन अनोखा और आदर्शमय होना चाहिए और उन्हें ऐसा होने के लिए पर्याप्त ऊँचा करना पड़ेगा। इन्हीं शिक्षकों की स्थिति डाँवाडोल होने से चारों ओर अनुशासन-हीनता सम्बन्धी हाहाकार मचा हुआ है। पिछले अध्यायों में स्पष्ट किया गया है कि माध्यमिक स्तर की अधिकांश शिक्षा संस्थाएँ यथाकथित 'प्राइवेट' हैं। इनके शिक्षकों की दशा शोचनीय है। कहा जाता है कि वे लोग रात-दिन 'प्राइवेट-ट्यूशन' करते हैं और उन्हें आर्थिक कष्ट उतना नहीं है जितना कि बताया जाता है। यदि मान भी लिया जाय कि इस प्रकार वे पर्याप्त धन प्राप्त करते हैं तो उन्हें ऐसा करने देना अथवा उनकी दशा को इसी बहाने से न सुधारना कहाँ तक उपयोगी तथा न्याय-सङ्गत है? इस परम्परा का विषाक्त-भाव 'अध्यापन' और 'छात्रों' पर पड़ता है न कि अध्यापक और सरकार पर।

भारतवर्ष की वर्त्तमान उच्च शिक्षा की स्थिति और उपयोगिता
वलोकन प्रसङ्गानुसार पिछले अध्यायों में हो चुका है। विश्ववि

सर्वोच्च हो जायँगे। जिले के कलक्टर सबसे धनी तो नहीं होते। उधर विश्व-विद्यालयों के शिक्षक-गण तो किसी कलक्टर अथवा डिप्टी-कलक्टर से कम वेतन नहीं पाते परन्तु छात्र उनकी भी कहाँ सुन रहे हैं। वेतन मात्र बढ़ा देने से शिक्षकों का पारिवारिक जीवन तो सुविधा-जनक हो जायेगा परन्तु समाज और छात्रों का उससे कुछ भी कल्याण नहीं हो पायेगा। मान लिया कि शिक्षक कुछ अधिक परिश्रम और तत्परता से पढ़ाने लगेंगे परन्तु छात्रों और अभिभावकों में परिवर्तन क्योंकर हो पायेगा।

बचपन में छात्र माता-पिता तथा गुरु के सम्पर्क में आते हैं। माता पिता के प्यार में ममता और वात्सल्य की गन्ध स्वाभाविक है। इस प्यार से बच्चे का शारीरिक विकास तो हो जायगा परन्तु समुचित संस्कार नहीं हो पायेंगे। अधिकांश पढ़े-लिखे माता-पिता भी अपने बच्चों का पूर्ण रूप से संस्कार नहीं कर पाते। आवश्यकतानुसार अपने बच्चों को उचित रूप से ताड़ना देने में प्रायः लोग (ममता-वश) संकोच कर जाते हैं। भारतीय शिक्षा के संस्कार और भी कठिन है; आत्म-नियंत्रण सबसे विकट अभ्यास है। बिना इस अभ्यास के यहाँ के जलवायु में उच्चकोटि का जीवन व्यतीत नहीं किया जा सकता। यदि यह अभ्यास आवश्यक है तो किसी भी माता-पिता से अधिक समादृत भारतीय शिक्षक भी आवश्यक हैं। वर्त्तमान छात्रों को कई विषय पढ़ने हैं और उन्हें कई शिक्षकों के सम्पर्क में आना है। अनेक नियमों, उपनियमों, सिद्धान्तों के होते हुए भी 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना:' के अनुसार छात्रों को कई शिक्षकों की रुचि और प्रकृति के अनुकूल चलना पड़ेगा। विभिन्न रुचियों और प्रवृत्तियों में छात्रों को ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से सामञ्जस्य स्थापित करना पड़ेगा। अध्यक्ष और प्रधानाध्यापकों के अस्तित्व से इसमें सुविधा मिलेगी। वर्त्तमान समाज की आवश्यकताओं के विचार से इस प्रकार के सामञ्जस्य अधिकाधिक उपयोगी होंगे।

प्रारम्भकर्त्ता होने के नाते प्राथमिक पाठशालाओं के शिक्षकों का कार्य कठिन तथा अधिकाधिक दायित्वपूर्ण है। माता-पिता के प्यार और पारिवारिक सुख को छोड़कर बच्चा सर्वप्रथम इन्हीं शिक्षकों के पास आता है। यही कारण है कि अधिकांश बच्चे पाठशालाओं से अवसर पाते ही खिसक जाते हैं। इस स्तर पर डाँट-फटकार तथा पुचकार का ऐसा सामञ्जस्य होना चाहिए कि बच्चा धीरे-धीरे पाठशाला में अपने-आप टिकने लगे। साथ ही इन शिक्षकों को कुछ सुविधाएँ भी होती हैं। परिवार-वियोग से कुछ क्षुब्ध और उद्विग्न बच्चा इन लोगों से यदि तनिक भी प्यार पा जायगा तो उसका

महाविद्यालयों के शिक्षकों के वेतन, आदि में भी पर्याप्त भेद-भाव है। सन् १९२२–२३ ई० के आस-पास जब राजकीय महाविद्यालय तोड़ दिये गये तो उनके स्थायी राजकीय प्राध्यापक गण अपने उसी वेतन पर प्रयाग तथा लखनऊ विश्वविद्यालयों में आवश्यकतानुसार नियुक्त हुए। उस समय उन महाविद्यालयों में अंगरेज प्राध्यापक भी पर्याप्त संख्या में होते थे और उन्हीं के ऊँचे-ऊँचे वेतन के बराबर उन पदों पर तथा उन पदों के समान स्तर के पदों पर भारतीय प्राध्यापक भी वेतन पाने लगे। फलतः लखनऊ और प्रयाग विश्वविद्यालयों के नवीन पदों के वेतन भी इसी आधार पर ऊँचे ही निर्धारित हुए। यद्यपि अंगरेज प्राध्यापक धीरे-धीरे चले गये परन्तु एक ओर वैधानिक सुविधाओं (स्वतंत्र कार्य कारिणी) और दूसरी ओर प्रबल पाण्डित्य के बल पर लगभग वे ही वेतन-क्रम आज भी चले आ रहे हैं। अन्य महाविद्यालयों के प्राध्यापकों को वेतन कम मिल रहा है। जब-जब इसे बढ़वाने का निवेदन किया जाता है तो सरकार उपर्युक्त मूल कारणों के आधार पर छान-बीन न कर के इनकी उपयोगिता और दक्षता को विश्वविद्यालयों के समान न होने का निर्णय करती है। वास्तविक कारण सम्भवतः आर्थिक कठिनाइयाँ होती हैं।

भाग्यवश लेखक को प्रयाग विश्वविद्यालय तथा सनातन धर्म कालेज कानपुर—दोनों ही में विधिवत् अध्ययन करने का सुअवसर मिला। मैं गर्व और सचाई से सादर स्वीकार करता हूँ कि कानपुर के प्राध्यापक गण अपने छात्रों को अधिकाधिक रुचि तथा सहानुभूति के साथ पढ़ाते थे। हो सकता है कि उच्चकोटि के छात्रों को विश्वविद्यालयों में अधिक सुविधाएँ मिलती रही हों परन्तु निश्चय है कि साधारण छात्रों के प्रति उनमें साधारण सहानुभूति भी उस समय नहीं दिखाई जाती थी। कहने का तात्पर्य यह है कि महाविद्यालयों की दक्षता और उपयोगिता में सिद्धान्ततः सन्देह करना उचित नहीं। विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों के प्राध्यापकों को यथोचित ऊँचा करने में विशेष कठिनाई न होगी; माध्यमिक स्तर पर सुसंस्कृत हो जाने पर उच्च शिक्षा में छात्र अपने आप ही ठीक चलेंगे। इतना निश्चय है कि इन संस्थाओं में छात्रों की प्रतिशत संख्या घट जायगी। रुचि, प्रकृति, आदर्श, आदि के स्थिर और निर्मित हो जाने पर इस स्तर के छात्र स्वतः अपने क्षेत्र में दत्त-चित्त होकर कार्य करेंगे। वर्तमान समय की भाँति विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में अकारण भीड़ न होगी; दो-चार वर्ष का और समय काटने के विचार से छात्र वहाँ भर्ती नहीं होंगे। साथ ही, अपने विषय को रुचि और उत्साह से पढ़ाने मात्र से ही प्राध्यापकगण सर्वोच्च तथा समादृत होते जायँगे।

[निष्कर्ष]

सिंहावलोकन—'कर्मप्रधान संस्कृति' तथा 'भक्ति-मूलक शिक्षा' का यथा सम्भव पुनरुद्धार आवश्यक; देश, काल और पात्र के सिद्धान्त पर भक्ति की रूप-रेखा में परिवर्तन; आत्म-नियंत्रण परमावश्यक; ये विशेषताएँ सभी देशों में सर्वमान्य केवल साधन में अन्तर; साधनों में अन्तर होने से रूप और उपयोगिता में अन्तर। भारतीय रूप-रेखा हमारे प्राचीन मनीषियों की अलौकिक सूझ; सावधानी से अपनाने तथा कार्यान्वित करने पर समस्त विश्वका कल्याण; उन आदर्शों के मूल रूप खण्डहरों, आदि में अब भी वर्तमान; इन्हीं कणों को पहचानने से गाँधी जी, नेहरू जी, आदि महान। 'आत्म-नियंत्रण' एवं 'आत्म-समर्पण' के नाम से वर्तमान भारतवासियों का चौंकना अस्वाभाविक कदापि नहीं; किशोरावस्था तक देश और समाज के अन्तर्गत इनका अभ्यास सुविधा पूर्वक सम्भव; निस्सन्देह इस पुनरुद्धार एवं पुनरुत्थान में अनेक कठिनाइयाँ।

(क) शीघ्रता एवं आतुरता—स्वतंत्रता प्राप्त होते ही सुधार-सम्बन्धी हमारी अनेक योजनाएँ; अन्न-वस्त्र की कठिनाइयों को तत्काल एवं शीघ्रता से दूर करना परमावश्यक परन्तु हमारी शीघ्रता और आतुरता प्रत्येक क्षेत्र में; फलतः असाधारण शक्ति का अपव्यय। भारतीय विशेषताओं एवं आवश्यकताओं का विश्लेषण आवश्यक; भग्नावशेषों का वर्त्तमान विश्लेषण उपयुक्त नहीं। शिक्षा भी आतुरता से प्रभावित; शिक्षा-सुधार में आतुरता से भयानक स्थिति; विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में अपेक्षित सुधार विदेशी ही आदर्शों पर अवलम्बित।

(ख) धार्मिक स्थिति—वाह्य ढाँचा ज्यों का त्यों परन्तु तत्व एवं वास्तविकता का अभाव; भारतीय संविधान में भी धर्म की प्रामाणिकता परोक्ष; व्यवहार, व्यापार, उद्योग, आदि सभी में धर्म का तिरस्कार। पाश्चात्य सम्पर्क से यह दयनीय दशा; वैज्ञानिक चमत्कारों से धर्म का ह्रास; परन्तु आदर्शों में संघर्ष होने से भारतवर्ष में यहाँ के धर्म को उतना भी महत्त्व नहीं प्राप्त। वाराणसी के शैव महात्मा सम्बन्धी घटना; प्रयाग के घड़ीसाज सम्बन्धी घटना।

धर्म की यह दुर्व्यवस्था भक्ति-मूलक शिक्षा के पुनरुद्धार के लिए प्रतिकूल; यों त्याग के अभ्यास के लिए भारतीय परम्परा एवं धर्म में सर्वाधिक

आयोजन; परन्तु उन आदर्शों के प्रति हमारी वर्तमान उदासीनता असाधारण; हमारा वर्तमान जीवन सर्वथा सिद्धान्त हीन।

(ग) वैज्ञानिक चमत्कार— प्रकृति के अधिकांश क्षेत्र पर विज्ञान की विजय; भौतिक सुविधाओं में उत्तरोत्तर वृद्धि तथा विस्तार; मनुष्यों से अधिक महत्त्व मशीनों को; भारतीय परम्परा में स्वास्थ्य सिद्धान्तों का समावेश भी धार्मिक कार्यकलापों में; धर्म के ह्रास से जीवन की सुन्दरता भी नष्ट। हमारे वर्तमान जीवन में स्वार्थपरता की सर्वाधिक दुर्गन्ध; ज्ञान और विज्ञान की विचित्र गुट-बन्दी; ज्ञान-मूलक शिक्षा वाले देशों का अग्रणी ब्रिटेन; माया पर पूर्ण विजय ब्रिटेन को भी नहीं; सन् १९५६ की स्वेज नहर सम्बन्धी दुर्घटना; ज्ञान-मूलक शिक्षा और व्यक्तित्व-प्रधान राष्ट्रों के हाथ में पड़ जाने से विज्ञान कुख्यात; वैज्ञानिक आविष्कारों तथा चमत्कारों को भक्ति-मूलक शिक्षा तथा कर्म-प्रधान संस्कृति के अनुकूल बनाना।

(च) गणतंत्रात्मक संविधान— गणतंत्र की भित्ति प्राचीन यूनान और रोम के आदर्शों पर; इह-लोक की प्रधान संस्कृति के लिए यह उपयोगी तथा आवश्यक; पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों पर अवलम्बित समाज में यह बहुत उपयोगी नहीं। सगे-सम्बन्धियों की व्याख्या भारतीय परम्परा में अधिकाधिक उदार तथा विस्तृत; वर्तमान भारतवर्ष में शिक्षा के वास्तविक सुधार का कोई भी प्रयत्न नहीं; भक्ति-मूलक शिक्षा का आदान-प्रदान अत्यन्त कठिन परन्तु उपयोगिता अधिकाधिक; फलतः जन-तंत्र अथवा गणतंत्र की वास्तविक सफलता इसी भक्ति-मूलक शिक्षा से ही सम्भव।

(छ) आर्थिक होड़—भारतीय परम्परा में 'लक्ष्मी' और 'सरस्वती' की कल्पना; लक्ष्मी का वाहन 'उल्लू' परन्तु सरस्वती का वाहन 'हंस' वर्तमान भारतवर्ष में शिक्षा सम्बन्धी सुधारों में आर्थिक प्रसंगों को अधिकाधिक महत्त्व; १९३० के उपरान्त की बेकारी से 'बेसिक-शिक्षा' का प्रादुर्भाव; १९५३–५४ की 'शिक्षा पुनर्व्यवस्था' (री-ओरियनटेशन) में भी वही बात। भारतीय परम्परा में धन 'साध्य' कभी भी नहीं; वर्तमान जीवन की ही प्रधानता होने से अन्य देशों और समाजों के आर्थिक प्रयत्नों में 'लिप्सा' का अभाव; अमेरिका की शिक्षा और संस्कृति में सामञ्जस्य।

(ज) अन्तर्राष्ट्रीय योजनाएँ—अन्य देशों और राष्ट्रों के शिक्षा-सम्बन्धी प्रयोग; अमेरिका, ब्रिटेन, आदि की शिक्षा सम्बन्धी योजनाएँ; समस्त

भू-मण्डल में ज्ञान-मूलक शिक्षा का एक-छत्र साम्राज्य; इन प्रयोगों एवं नवीन योजनाओं के सम्मुख शिक्षा को 'भक्ति-मूलक' रूप देना सुगम नहीं।

(झ) सामाजिक रूढ़ियाँ—दो प्रकार की; प्रथम जाति-पाँति का भेद-भाव और द्वितीय—भारतीय समाज में स्त्रियों का स्थान। प्राचीन काल में सभी शिक्षक ब्राह्मण परन्तु आजकल यह असम्भव और उपयोगी भी नहीं; फलतः भक्ति-मूलक शिक्षा को देश, काल, और पात्र की कसौटी पर कसना आवश्यक—फलतः कठिनाइयाँ। कर्म-प्रधान संस्कृति और भक्ति-मूलक शिक्षा का अविच्छिन्न सम्बन्ध; महिलाओं से सम्बन्धित गुत्थी को सुधारना।

(ट) वर्तमान शिक्षक—प्राचीन शिक्षकों का कार्य अपेक्षाकृत सुगम; विद्यार्थियों का संस्कार अपने अनुसार; आजकल छात्रों का संस्कार समाज के अनुसार; 'त्याग' के युग में अपना सम्मान अपने ऊपर परन्तु 'अनुराग' के युग में दूसरों के हाथ में भी; इसी आदर्श-संघर्ष से भारतीय शिक्षकों का पतन; कुछ भी हो वर्तमान शिक्षक भक्ति-मूलक शिक्षा में अपेक्षित सम्मान का पात्र नहीं; इसमें उनका ही दोष नहीं—फलतः शिक्षकों से भी सम्बन्धित कठिनाई।

कुछ अन्य बातें—शिक्षकों को बिना सर्वोच्च बनाये भारतीय समाज एवं संस्कृति की रक्षा कठिन; सामाजिक व्यवस्था के अन्य साधनों से परिस्थिति में सुधार असम्भव; शिक्षकों का केवल वेतन बढ़ा देना पर्याप्त नहीं; जिले का कलक्टर सर्वाधिक धनी तो नहीं। माता-पिता से बच्चों का संस्कार सम्भव नहीं; आत्म-नियंत्रण का अभ्यास बहुत कठिन। माध्यमिक स्तर के शिक्षकों का दायित्व सर्वाधिक; छात्रों का विकास इसी काल में; विश्वविद्यालयों और महा-विद्यालयों के शिक्षकों में वेतन सम्बन्धी भेद-भाव उचित नहीं।

अध्याय ५

भावी शिक्षा की रूप-रेखा

सिंहावलोकन—पाश्चात्य देशों में उनकी संस्कृति के अनुकूल शासन, रक्षा. व्यवस्था, आदि में जितने लोग लगे हैं, वे 'सिविल' तथा 'सेना' दो वर्गों में विभक्त हैं। यही क्रम इस समय लगभग सभी देशों में है। इसे प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं कि सभी देशों में 'सेना' तथा 'सैनिकों' को सर्वाधिक महत्त्व दिया जा रहा है। हम भारतवासियों का यह परम कर्त्तव्य है कि एक ओर अपनी प्राचीन संस्कृति के पुनरुद्धार और दूसरी ओर विज्ञान, जनतंत्र, आदि सम्बन्धी वर्त्तमान प्रवृत्तियों को अपनाने, के लिए यहाँ पर तृतीयवर्ग 'शिक्षा' का स्थापित करें। महत्त्व के आधार पर इनका क्रम 'शिक्षा', 'सिविल' और 'सेना' होना चाहिए। इसे पढ़कर हमारे देश के अधिकांश लोग—विशेषतया 'सिविल' तथा 'सेना' के अधिकारीगण चौंक उठेंगे। जब उन्हें विदित होगा कि 'शिक्षा' को अब इतना महत्त्व मिलने वाला है—विशेषतया जब शिक्षा-विभाग में उनके अनेक ऐसे साथी लगे हैं जो पढ़ने-लिखने में उनसे अच्छे नहीं थे, तो उनका चौंक उठना अस्वाभाविक कदापि नहीं। परन्तु ये लोग तो सम्भवतः उस समय भी चौंक उठे होंगे जब देश की स्वतंत्रता के लिए १५ अगस्त, सन् १९४७ की तिथि घोषित की गई होगी। उस समय तो इन लोगों की परेशानी बहुत अधिक इसलिए रही होगी कि राष्ट्र की बागडोर उन लोगों के हाथ में आ रही थी जिन्हें कि ये लोग अनेक बार बन्दी-गृह में डाल चुके थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक यहाँ के पढ़े-लिखे लोगों को उच्चकोटि की सरकारी नौकरियाँ नहीं मिल पाती थीं—फलतः लोग वकालत, बैरिस्टरी, आदि पढ़ते और करते थे तथा राजनीति में स्वतंत्र रूप से भाग लेते थे। जान-बूझकर अथवा अनजान में अंगरेजों ने नीति बदली और उच्च श्रेणी में उत्तीर्ण होने वाले छात्र ऊँची-ऊँची सरकारी नौकरियाँ पाने लगे। वे मस्तिष्क, जो कि स्वतंत्र होने पर अनेक राजनीतिक, वैज्ञानिक, सामाजिक

खोज तथा आविष्कार करते, सरकारी नियमों-उपनियमों के प्रतिबन्ध में पड़कर पंगु हो गये। इनमें से कुछ लोग तो ऊँचे-ऊँचे वेतन पाने से कट्टर, आलसी और कहीं-कहीं विलास-प्रिय भी हो गये हैं। यही कारण है कि उच्च-कोटि के हमारे नेताओं का ज्यों-ज्यों स्वर्गारोहण हो रहा है, त्यों-त्यों उनके स्थान प्रायः रिक्त से होते जा रहे हैं। जो लोग उनके स्थानों को यथासम्भव भर सकते थे, वे सचिवालयों की फाइलों में गोते लगा रहे हैं। दूषित शिक्षा तथा परीक्षा-प्रणाली से जहाँ अनेक घाटे हुए, वहाँ एक बहुत बड़ा लाभ भी हुआ। कुछ लोग, जिनके विचार, संस्कार, आदि उच्च हैं, परन्तु अपनी मौलिक विशेषताओं के कारण परीक्षाओं में उच्च श्रेणियाँ न पा सके—सरकारी नौकरी से बाहर रह गये। इसी वर्ग के लोग आजकल राजनीतिक क्षेत्र में कुछ ठोस कार्य कर रहे हैं।

अन्य देशों में भी उच्च कोटि के लोग सरकारी नौकरियों में प्रायः नहीं जाते—वे कानून, व्यापार, आदि स्वतंत्र कामों में लगते हैं। उन देशों में सांस्कृतिक विशेषताओं के फल-स्वरूप शिक्षकों का स्थान ऊँचा नहीं है अस्तु शिक्षा में भी कम ही जाते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि अन्य कार्यों में व्यस्त रहने पर भी शिक्षा सम्बन्धी कुछ न कुछ कार्य वे लोग करते रहते हैं। उच्च प्रकृति तथा प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों को सरकारी नौकरियों के प्रतिबन्ध में नहीं पड़ना चाहिए। उचित भी यही जान पड़ता है कि बुद्धि और प्रतिभा की जितनी आवश्यकता कानून बनाने में पड़ती है उतनी उसे कार्यान्वित करने में नहीं। यह लिखने में तनिक भी अशिष्टता न होगी कि इस समय भारतीय नौकरियों में, व्यवस्थापिका सभाओं की कई गुनी बुद्धि तथा प्रतिभा कुण्ठित हो रही है। अंगरेजी शासन-काल में यहाँ के लिए मुख्य कानून अंगरेजी पार्लियामेंट में बनते थे—फलतः उनकी चाँदी थी। उस समय कानून बनाने और कार्यान्वित करने वाले, दोनों ही प्रतिभा-सम्पन्न थे। कोई अन्य उपयुक्त क्षेत्र न पाकर हमारे अनेक होनहार नवयुवक 'आई० ए० एस' तथा 'पी० सी० एस' में चले ही जा रहे हैं। आशा है कि शिक्षा को सर्वोच्च स्थान देते समय ये लोग देश, संस्कृति और राष्ट्र के कल्याण के लिए उसी विवेक, उदारता, हृदय-विशालता, आदि का परिचय देंगे, जिनका कि प्रदर्शन इन लोगों ने अगस्त, सन् १६४७ ई० किया था।

यहाँ की शिक्षा-व्यवस्था से 'निरीक्षण' तथा 'निरीक्षक' (इ तथा इन्सपेक्टर) को हटाना पड़ेगा। 'ज्ञान-मूलक' शिक्षा के लिए जितने ही आवश्यक तथा उपयोगी हैं, 'भक्ति-मूलक' शिक्षा के लि

ही घातक तथा अनुपयुक्त; ज्ञान-मूलक शिक्षा के आधार तर्क, पाण्डित्य-प्रदर्शन, आदि हैं और भक्ति-मूलक शिक्षा के मनन, चिन्तन, आत्म-नियंत्रण, आदि। तर्क के विकास के लिए इस प्रकार के वाह्य उपकरण उपयोगी ही नहीं प्रत्युत अनिवार्य से हैं, परन्तु चिन्तन और मनन के लिए आन्तरिक शान्ति की अधिकाधिक आवश्यकता होती है। यहाँ यह प्रश्न नहीं है कि अन्य कार्यों की भाँति 'निरीक्षण' दोष-पूर्ण हो गया है और इसकी त्रुटियों को दूर कर देने पर उपयोगी हो जायगा। 'निरीक्षण' और 'निरीक्षक' का अस्तित्व वाह्य है। छात्रों का ध्यान 'शिक्षा' और 'शिक्षक' से हटकर कहीं और चला जाता है। दुविधा के समय छात्र और अभिभावक अपनी शंकाओं का समाधान शिक्षकों से ही न करके निरीक्षकों तक पहुँचते हैं। ऐसी परि-स्थिति में छात्रों का मन शिक्षक से केवल उसी प्रसङ्ग के सम्बन्ध में नहीं हटता प्रत्युत उनकी पढ़ाई हुई सभी बातें और उनके दिये हुए सभी उपदेश खटाई में पड़ जाते हैं। शिक्षार्थी और शिक्षक के भेद-भाव बढ़ते ही जाते हैं। ज्ञान-मूलक शिक्षा में तो ऐसे अवसरों का सदुपयोग होता है। उचित-अनुचित के चक्कर में न पड़कर निरीक्षक के सम्मुख शिक्षक और शिक्षार्थी दिल खोलकर तर्क करते हैं। ऐसे शास्त्रार्थों के फल-स्वरूप कभी-कभी लोगों को अपार साहित्यिक, व्यावहारिक तथा विनोदात्मक आनन्द मिलते हैं परन्तु भक्ति-मूलक वातावरण का तो सर्वनाश ही हो जाता है।

वर्तमान 'निरीक्षण' के उपयोगी अंश को अपनाया जायगा। वर्तमान इन्सपेक्टर लोग, सम्भवतः कार्य की अधिकता से, विद्यालयों में समालोचना तो कर लेते हैं परन्तु आदर्श-पाठ बहुत कम देते हैं। भावी व्यवस्था में समय-समय पर आदर्श-पाठों की प्रचुरता रहेगी। क्षेत्रीय प्रशिक्षण महाविद्यालयों और जिला प्रशिक्षण विद्यालयों के शिक्षकों का यह दायित्व होगा कि वे अपने-अपने विषयों का सुव्यवस्थित अध्यापन, क्रम से माध्यमिक तथा प्राथमिक विद्यालयों में करायें। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए किसी पूर्व-निर्धारित योजना के अनुसार कक्षा-विशेष को पाठ-विशेष कुशल शिक्षकों द्वारा पढ़ाये जायँगे। उस विषय के सभी शिक्षक पीछे बैठकर पूरे पाठ का सिंहावलोकन करते रहेंगे। पाठ समाप्त हो जाने पर छात्र वहाँ से चले जायँगे और उसके सम्बन्ध में विधिवत् विचार-विनिमय होगा। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली से 'प्रशिक्षण' को हमें अधिकाधिक अपनाना है। देश भर में प्रशिक्षण विद्यालयों तथा महाविद्यालयों की जाल बिछानी पड़ेगी। प्रत्येक जिले में प्रशिक्षण विद्यालय; आठ-दस जिलों की पूर्त्ति के लिए क्षेत्रीय प्रशिक्षण-महाविद्यालय;

प्रत्येक प्रान्त में प्रान्तीय प्रशिक्षण-केन्द्र और समस्त देश के लिए राष्ट्रीय प्रशिक्षण केन्द्र की स्थापना करनी पड़ेगी। 'निरीक्षण' की अपेक्षा 'प्रशिक्षण' को महत्त्व इसी लिए दिया जा रहा है कि इसमें शिक्षण अथवा अध्यापन निहित है और फलतः इसका अस्तित्व बाह्य नहीं है।

पर्याप्त सोच-विचार के उपरान्त भावी-शिक्षा के निमित्त कुछ नवीन नामकरण, परिभाषाएँ, आदि निम्न रूप में दी जा रही हैं:—

(क) संस्थाओं के वर्त्तमान नाम।	प्रस्तावित नाम।
प्राथमिक या बेसिक स्कूल।	बाल-विद्यालय; बालिका-विद्यालय।
जूनियर हाई स्कूल।	गोपाल-विद्यालय; कन्या-विद्यालय।
हाई स्कूल, हायर स्कूल।	किशोर-विद्यालय, किशोरी-विद्यालय।
प्राइवेट हायर स्कूल।	जनता किशोर अथवा किशोरीविद्यालय।
डिग्री कालेज।	महाविद्यालय।
यूनिवर्सिटी।	विश्वविद्यालय।
नार्मल स्कूल।	प्रशिक्षण विद्यालय।
ट्रेनिङ्ग कालेज।	प्रशिक्षण महाविद्यालय।
रीजनल।	क्षेत्रीय।
प्राविन्सल।	प्रान्तीय।
नेशनल।	राष्ट्रीय।

(ख) वर्त्तमान पद।	प्रस्तावित पद।	
वाइसचैंसलर।	कुलपति।	
प्रिंसिपल।	अध्यक्ष।	
वाइस प्रिंसिपल।	उपाध्यक्ष।	
प्रोफेसर।	आचार्य।	विश्वविद्यालय तथा महाविद्यालयों के लिए।
लेक्चरर (सहा० प्रोफे०)	उपाचार्य।	
असिस्टैंट मास्टर।	प्राध्यापक। प्राध्यापिका।	किशोर-किशोरी विद्यालयों की अन्तिम दो कक्षाओं के लिए।
ट्रेंड ग्रैजुएट।	अध्यापक अध्यापिका	किशोर-किशोरी विद्यालयों की प्रथम दो कक्षाओं के लिए।
ट्रेन्ड अंडरग्रैजुएट (इंटर मीडियट पास)	पाठक-पाठिका	गोपाल तथा कन्या विद्यालयों के लिए।

वर्त्तमान पद	प्रस्तावित पद ः	
ट्रेन्ड अंडरग्रैजुएट (हाई स्कूल पास)	पालक-पालिका	बाल तथा बालिका विद्यालयों के लिए।
हेडमास्टर	प्रधानाध्यापक; प्रधान पाठक, प्रधान पालक।	
हेडमिस्ट्रेस	प्रधानाध्यापिका, प्रधान पाठिका, प्रधान पालिका।	
डायरेक्टर आफ़ एजुकेशन।	शिक्षा-सञ्चालक।	
डेपुटी डायरेक्टर आफ़ एजुकेशन।	उप शिक्षा-सञ्चालक।	
एजुकेशन सेक्रेटरी।	शिक्षा-सचिव।	
एजुकेशन मिनिस्टर।	शिक्षा-मंत्री।	

शासन-व्यवस्था – भारतवर्ष की इस भावी शिक्षा-योजना में अध्यक्षों और प्रधानाध्यापकों को बहुत अधिक अधिकार दिये जा रहे हैं। यद्यपि यह भारतीय संस्कृति की मौलिक विशेषताओं के सर्वथा अनुकूल है, फिर भी वर्त्तमान उच्चाधिकारियों, नेताओं, आदि को खटक सकता है। फलतः प्रत्येक किशोर या किशोरी विद्यालय के लिए 'तीसा', प्रत्येक गोपाल या कन्या विद्यालय के लिए 'बीसा' और प्रत्येक बाल या बालिका विद्यालय के लिए 'सत्ती' नाम की समितियाँ होंगी। जैसा कि इनके नाम से ही स्पष्ट है—'सत्ती' में सात, 'बीसा' में बीस और 'तीसा' में ३० सदस्य होंगे। किसी संस्था की 'तीसा' का निर्माण लगभग इस प्रकार होगा— ३ उस संस्था के शिक्षकों के प्रतिनिधि, ५ छात्रों के प्रतिनिधि, ५ जिला-अधिकारियों में से, २ चपरासियों के प्रतिनिधि, ५ अन्य संस्थाओं के शिक्षकों में से और १० अभिभावकों के प्रतिनिधि। इसी आधार पर बीसा' और 'सत्ती' का भी गाँव, नगर अथवा मुहल्ले के प्रतिनिधियों से निर्माण होगा। इनमें छात्रों और चपरासियों के प्रतिनिधित्व का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी प्रकार 'सत्ती' में शिक्षकों के प्रतिनिधित्व की आवश्यकता नहीं क्योंकि इनकी संख्या प्रायः कम होती है।

जब किसी बाल-विद्यालय के प्रधान-पालक के प्रति किसी विशेष प्रकार का क्षोभ होगा तो गोपाल-विद्यालय के प्रधान-पाठक 'सत्ती' का गुप्त मत-दान लेंगे; जब किसी गोपाल विद्यालय के प्रधान-पाठक के प्रति क्षोभ होगा तो प्रशिक्षण विद्यालय के प्रधानाध्यापक 'बीसा' का गुप्त मत-दान लेंगे और इसी प्रकार जनता किशोर-विद्यालय के अध्यक्ष के प्रति क्षोभ होगा तो जिला-शिक्षा अधिकारी तथा जिला-शिक्षा अधिकारी के प्रति क्षोभ होगा तो क्षेत्रीय प्रशिक्षण महाविद्यालय के अध्यक्ष सम्बन्धित 'तीसा' का गुप्त मत-दान लेंगे। इन

समितियों का ७५ प्रतिशत मत अनुकूल होनेपर अधिकारी विशेष निर्दोष माना जायगा। मत-दान प्रतिकूल होने पर भी अध्यक्ष अथवा प्रधान को दण्डित करना या न करना उच्चाधिकारियों पर निर्भर रहेगा। वे किसी कार्यवाही के लिए वाध्य न होंगे। साथ ही, मत-दान का फल भी घोषित करना अथवा न करना अधिकारियों की ही इच्छा पर निर्भर होगा। किसी अध्यक्ष या प्रधान के सम्बन्ध में 'तीसा' या 'बीसा' या 'सत्ती' का मत-दान करा लेना ही उसकी ख्याति को धक्का पहुँचाने के लिए पर्याप्त है।

उपर्युक्त समितियों का सहयोग अध्यक्ष अथवा प्रधान विद्यालय सम्बन्धी अन्य कामों में भी लेते रहेंगे। किसी अध्यापक या पाठक या पालक को अधिकाधिक योग्य अथवा अयोग्य घोषित करने के लिए भी इनका मत-दान कराया जा सकता है। मतदान का सम्बन्ध जब किसी ऐसे अध्यापक अथवा पाठक से होगा जो कि 'तीसा' या 'बीसा' के सदस्य भी हों तो उनका मत नहीं लिया जायगा। प्रत्येक विद्यालय की 'तीसा' या 'बीसा' या 'सत्ती' का निर्माण प्रति वर्ष जुलाई के प्रथम सप्ताह में सङ्गठित हो जायगा। इसके निमित्त किसी विशेष तैयारी अथवा प्रचार की आवश्यकता नहीं। इनके अधिकार और कर्त्तव्य भी बहुत सीमित हैं। हो सकता है कि वर्ष-भर में इन्हें मत-दान करने के कोई अवसर ही न आए। राजकीय विद्यालयों को छोड़कर सभी जनता विद्यालयों (किशोर और किशोरी) के लिए अलग-अलग 'कार्य-कारिणी-समितियाँ' होंगी। इनका विवरण यथास्थान आगे दिया हुआ है। विद्यालय विशेष की व्यवस्था में आवश्यकतानुसार अध्यक्ष या प्रधान की सहायता उसकी 'कार्य-कारिणी समिति' करेगी न कि 'तीसा'।

प्रत्येक जिले के राजकीय किशोर विद्यालय के अध्यक्ष उस जिले के शिक्षा-अधिकारी भी होंगे। उनकी सहायता के लिए तीन उपाध्यक्ष रहेंगे। प्रथम उपाध्यक्ष उसी राजकीय विद्यालय का प्रबन्ध करेंगे। दूसरे उपाध्यक्ष प्रशिक्षण विद्यालय के प्रधानाध्यापक होंगे और तृतीय उपाध्यक्ष जिला माध्यमिक शिक्षा-परिषद् के स्थायी मंत्री होंगे जो जनता किशोर अथवा किशोरी विद्यालयों (वर्त्तमान प्राइवेट हायर सेकेंडरी स्कूलों) के प्रबन्ध अथवा पथ-प्रदर्शन के लिए निर्मित होगी। इस समय जितने भी प्राइवेट हाई स्कूल और इंटरमीडियेट कालेज हैं उन सबका नामकरण जनता किशोर अथवा किशोरी विद्यालय यथासम्भव हो जायगा। इन सभी संस्थाओं की आर्थिक व्यवस्था का पूर्ण दायित्व सरकार पर होगा। जनता विद्यालयों के अध्यक्षों का वेतन राजकीय विद्यालयों के उपाध्यक्षों के बराबर होगा। जिस जिले में

राजकीय किशोर विद्यालय न होगा उसके किसी जनता विद्यालय को राजकीय में परिवर्त्तित किया जायगा। जिस जिले में एक से अधिक राजकीय विद्यालय होंगे तो उनमें से किसी एक को चुनकर उसके अध्यक्ष का वेतन-क्रम अन्य जिला-शिक्षा-अधिकारियों के समान करना पड़ेगा। उस जिले के शेष राजकीय किशोर विद्यालयों के अध्यक्षों का वेतन वही होगा जो कि जनता विद्यालयों के अध्यक्षों अथवा जिला शिक्षा-अधिकारी के उपाध्यक्षों का होगा।

(क) जिला प्राथमिक शिक्षा-परिषद्—जिला शिक्षा-अधिकारी के तृतीय उपाध्यक्ष जिला प्रशिक्षण-विद्यालय के प्रधानाध्यापक होंगे। प्रधानाध्यापक की सहायता के लिये दो प्राध्यापक रहेंगे। एक तो प्रशिक्षण विद्यालय की आन्तरिक व्यवस्था करेंगे और द्वितीय 'जिला प्राथमिक शिक्षा-परिषद्' के मंत्री होंगे। प्रधानाध्यापक इसके सभापति होंगे। इस परिषद् में पाँच गोपाल विद्यालय के चुने हुए प्रधान-पाठक और तीन कन्या विद्यालयों की चुनी हुई पाठिकाएँ रहेंगी, ये दस अपनी आवश्यकतानुसार एक ऐसे व्यक्ति को मनोनीत करेंगे जो बाल-मनोविज्ञान का पण्डित होगा। इस प्रकार प्राथमिक परिषद् में कुल ग्यारह सदस्य होंगे। इसके पुरुष सदस्यों की अवस्था पैंतीस वर्ष से और महिला सदस्याओं की अवस्था तीस वर्ष से साधारणतः कम नहीं होनी चाहिए। साथ ही इनका चुनाव ऐसी सावधानी से हो कि इसमें जिले के मुख्य नगर, प्रत्येक तहसील, आदि का प्रतिनिधित्व हो जाय। इसके सभापति को 'विशेषाधिकार' रहेगा परन्तु वे जिला शिक्षा-अधिकारी की अनुमति के विना उसका प्रयोग न कर सकेंगे। 'विशेषाधिकारों' के प्रयोग प्रत्येक परिषद् में बहुत सँभाल कर किये जायँगे। इसकी कार्य-कालावधि तीन वर्ष होगी।

'जिला प्राथमिक परिषद्' ही के माध्यम से जिले की सम्पूर्ण प्राथमिक शिक्षा अर्थात् गोपाल, कन्या, बाल और बालिका विद्यालयों की व्यवस्था होगी। प्रत्येक गोपाल तथा कन्या विद्यालयों के प्रधान पाठक तथा पाठिका की सहायता के लिए क्रम से चालक तथा चालिका होंगी। प्रत्येक गोपाल तथा कन्या विद्यालय के अन्तर्गत कई बाल तथा बालिका विद्यालय होंगे। प्रत्येक गोपाल तथा कन्या विद्यालय में एक-एक 'पारिवारिक शिक्षा-समिति' होगी जो अपने अन्तर्गत बाल तथा बालिका विद्यालयों की व्यवस्था करेगी। इस स्तर पर महिलाओं और पुरुषों की 'पारिवारिक समितियाँ' अलग-अलग होंगी। इसके पाँच सदस्य अथवा सदस्या होंगी! 'पुरुष-समिति' में गोपाल-विद्यालय के प्रधान-पाठक सभापति और चालक मंत्री तथा विद्यालयों के तीन

चुने हुए प्रधान-पालक, सदस्य होंगे। 'महिला-समिति' में कन्या विद्यालय की प्रधान पाठिका सभानेत्री और चालिका मंत्राणी तथा बालिका विद्यालयों की तीन चुनी हुई प्रधान-पालिकाएँ, सदस्या होंगी। पाठ्यक्रम, परीक्षा, नियुक्तियाँ स्थानान्तर, दण्ड-विधान, पुरस्कार, आदि सभी कुछ इसी जिला प्राथमिक परिषद् द्वारा सम्पादित होंगे।

(ख) जिला माध्यमिक शिक्षा-परिषद्—इसमें सात सदस्य होंगे। दो सदस्य जनता किशोर तथा किशोरी विद्यालयों के अध्यक्षों तथा अध्यक्षाओं द्वारा मनोनीत अध्यक्ष अथवा अध्यक्षा; दो वर्त्तमान मैनेजरों के चुने हुए प्रतिनिधि परन्तु नौ वर्ष के उपरान्त विद्यालय-कार्य-कारिणी समितियों के चुने हुए प्रतिनिधि; राजकीय किशोरी विद्यालय की अध्यक्षा, इस प्रकार पाँच ये हुए और राजकीय किशोर विद्यालय के अध्यक्ष अर्थात् जिला-शिक्षा अधिकारी इसके सभापति तथा राजकीय किशोर विद्यालय के द्वितीय उपाध्यक्ष इसके मंत्री होंगे। यदि किसी जिले में राजकीय किशोरी विद्यालय न हो तो वहाँ के किसी भी जनता किशोरी विद्यालय की अध्यक्षा को उपर्युक्त सदस्य मनोनीत कर लेंगे। परिषद् की कार्य-काल-अवधि साधारणतः तीन वर्ष रहेगी। राजकीय को छोड़कर प्रत्येक जनता किशोर या किशोरी विद्यालय के अध्यक्ष या अध्यक्षा की सहायता के लिए एक संस्था-कार्यकारिणी-समिति होगी। इसके कुल पाँच सदस्य होंगे। दो शिक्षक, दो अभिभावकों के प्रतिनिधि और अध्यक्ष स्वयं उसके सभापति तथा एक शिक्षक (उन्हीं दो में से) मंत्री रहेंगे। 'जिला माध्यमिक परिषद्' तथा 'संस्था कार्य कारिणी समिति' के निर्णयों को उनके सभापति मानने के लिए विवश नहीं। परन्तु ऐसी स्थिति उपस्थित नहीं होनी चाहिए। किसी सभापति (जिला शि० अधिकारी अथवा अध्यक्ष) की असफलता के प्रमाण के लिए यही पर्याप्त होगा कि 'परिषद्' अथवा 'समिति' उनके साथ नहीं है।

विशेषाधिकार का सभापतियों द्वारा प्रयोग अच्छा नहीं माना जायगा। साथ ही, संस्था-समिति के सभापति 'जिला-परिषद्' के सभापति के पास और 'जिला-परिषद्' के सभापति 'क्षेत्रीय प्रशिक्षण महाविद्यालय' के अध्यक्ष को उन सभी परिस्थितियों तथा कारणों का विवरण भेजेंगे जिनके कि आधार पर उन्हें 'विशेषाधिकार' का प्रयोग करना पड़ा। ऐसे प्रसङ्गों में क्रम से जिला परिषद् के सभापति और क्षे० प्रशिक्षण महा विद्यालय के अध्यक्ष के निर्णय अन्तिम होंगे। यथा-सम्भव संस्था-समिति की बैठक महीने में एक बार अवश्य हो। सामूहिक और संघात्मक कार्य, जैसे—टूर्नामेन्ट, वाद-विवाद-

प्रतियोगिता, वार्षिक सम्मेलन आदि 'जिला-परिषद्' के मंत्री की देख-रेख में सम्पादित होंगे। विद्यालय-प्रवेश, अध्यापन, परीक्षा, आदि प्रसङ्गों में अध्यक्षों के ही निर्णय अन्तिम होंगे। कोई छात्र अथवा अभिभावक अपने किसी ऐसे प्रसङ्ग को अन्यत्र न ले जा सकेगा। परिस्थिति विशेष में यदि ७५ प्रतिशत् शिक्षक किसी ऐसी गुत्थी के सम्बन्ध में अध्यक्ष से लिखित अनुरोध करेंगे तो वे सम्पूर्ण शिक्षकों की बैठक में उस प्रसङ्ग पर विचार कर सकते हैं। परन्तु अध्यक्ष महोदय यदि फिर भी सहमत न हों तो 'जिला-परिषद्' के सभापति के पास अपनी सम्मति के साथ अन्तिम निर्णय के लिए भेज सकते हैं। ऐसा करने के लिये वे बाध्य नहीं।

(ग) <u>क्षेत्रीय शिक्षा-परिषद्</u>—क्षेत्रीय प्रशिक्षण महाविद्यालय के तृतीय उपाध्यक्ष इसके मंत्री तथा अध्यक्ष महोदय सभापति होंगे। क्षेत्र के प्रत्येक जिले से एक-एक व्यक्ति जिला माध्यमिक परिषद् द्वारा निर्वाचित होकर आयेंगे। क्षेत्रीय उपशिक्षा-सञ्चालक भी इसके स्थायी सदस्य होंगे। फलतः सदस्यों की संख्या निश्चित तथा निर्धारित नहीं की जा सकती। जनता माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षकों का स्थानान्तर क्षेत्र में कहीं भी हो सकता है। ऐसे स्थानान्तर प्रायः शिक्षकों की इच्छानुसार होंगे। प्रशिक्षण महाविद्यालय से निकले हुए नवीन शिक्षकों की नियुक्ति विभिन्न किशोर अथवा किशोरी तथा गोपाल अथवा कन्या विद्यालयों में इसी परिषद् द्वारा होगी। इसकी भी कार्यकालावधि तीन वर्ष होगी।

(च) <u>प्रान्तीय शिक्षा-परिषद्</u>—प्रान्तीय शिक्षा-सञ्चालक इसके सभापति तथा प्रान्तीय प्रशिक्षण केन्द्र के अध्यक्ष मंत्री होंगे। क्षेत्रीय प्रशिक्षण महाविद्यालयों के अध्यक्ष-गण तथा विभागीय परीक्षाओं के रजिस्ट्रार भी इसके सदस्य होंगे; रजिस्ट्रार इसके उपमंत्री भी होंगे। इनसे छात्राध्यापको के परीक्षाफल आदि मिलने में सुविधा होगी। माध्यमिक विद्यालयों की ग्यारहवीं और बारहवीं कक्षाओं के प्राध्यापकों का प्रशिक्षण प्रान्तीय प्रशिक्षण केन्द्र में होगा। इनकी नियुक्तियाँ प्रान्त में कहीं भी हो सकती है। जनता माध्यमिक विद्यालयों के अध्यक्षों, उपाध्यक्षों तथा प्राध्यापकों के स्थानान्तर तथा नियुक्तियाँ प्रान्त में कहीं भी हो सकती है। इन लोगों के चुनाव भी इसी परिषद् की देख-रेख में होंगे। जनता माध्यमिक विद्यालयों की आर्थिक व्यवस्था का दायित्व भी इसी पर होगा और इस लिए अर्थ-उपशिक्षा-सञ्चालक भी इसके स्थायी सदस्य होंगे। इनकी भी कार्य कालावधि तीन ही वर्ष होगी।

(छ) राष्ट्रीय शिक्षा-परिषद्—इसकी रूप-रेखा निर्धारित करना सरल नहीं है। यथा सम्भव इसमें सात सदस्य होने चाहिए। राष्ट्रीय प्रशिक्षण केन्द्र के अध्यक्ष इसके मंत्री तथा राष्ट्रीय शिक्षा-सञ्चालक (यह नवीन पद निर्मित होगा) सभापति होंगे। इसके निर्माण के निमित्त सम्पूर्ण देश पाँच क्षेत्रों में उत्तरी, पूर्वी, दक्षिणी, पश्चिमी और मध्य में विभक्त हो। प्रत्येक क्षेत्र के आचार्य, महाविद्यालयों के अध्यक्ष, शिक्षा-सञ्चालक, उपशिक्षा सञ्चालक, आदि मिलकर किसी शिक्षा सञ्चालक अथवा कुलपति को अपना प्रतिनिधि भेजेंगे। शिक्षा सम्बन्धी सभी राष्ट्रीय तथा अन्तर्प्रान्तीय समस्याएँ और नवीन सुझाव इसी के माध्यम से सुलझाये तथा कार्यान्वित किये जायँगे। इसकी कार्य-कालावधि भी तीन वर्ष रहेगी। उपर्युक्त सभी परिषद् प्राथमिक और माध्यमिक स्तर तक की शिक्षा के लिए प्रस्तावित हैं परन्तु इस 'राष्ट्रीय परिषद्' का नियंत्रण उच्च शिक्षा पर भी रहेगा। दूसरे शब्दों में उच्च शिक्षा की रूप-रेखा का निर्धारण केन्द्रीय सरकार तथा राष्ट्रीय परिषद् द्वारा होगा। देश के सभी महाविद्यालय (वर्तमान डिग्री कालेज) किसी न किसी विश्व-विद्यालय से सम्बन्धित रहेंगे। उनकी व्यवस्था उसी के अनुसार होगी। किसी विश्वविद्यालय से सम्बन्धित महाविद्यालयों के अध्यक्ष उसकी कार्य-कारिणी-समिति के पदाधारी (एक्स आफिशियो) सदस्य होंगे।

वर्तमान विश्वविद्यालयों को पर्याप्त वैधानिक सुविधाएँ तथा स्वतंत्रता प्राप्त हैं। खेद और ग्लानि के साथ देखा जा रहा है कि आदर्शों के संघर्ष में इन सुविधाओं का दुरुपयोग हो रहा है। कुलपति का चुनाव नहीं होना चाहिए। कार्य-कारिणी का प्रत्येक सदस्य इस पद के लिए एक नाम देगा। ये सब नाम प्रान्त के प्रधान न्यायाधीश के पास भेजे जायँगे और वे सबकी योग्यता तौलकर केवल पाँच नाम 'चैंसलर' महोदय को भेजेंगे और वे उनमें से किसी एक को नियुक्त करने की कृपा करेंगे। यदि कार्यकारिणी पाँच से कम नाम भेजती है तो प्रधान न्यायाधीश को कष्ट करने की आवश्यकता नहीं। यदि कार्य-कारिणी केवल एक ही नाम सर्वसम्मति से भेजेगी तो चैंसलर महोदय उसे ही सहर्ष स्वीकार कर लेने की कृपा करेंगे। चैंसलर महोदय को यह भी अधिकार होगा कि वे कार्य-कारिणी के किसी भी सदस्य को किसी भी समय हटा सकते हैं। परन्तु उस हटे हुए सदस्य का स्थान नियमानुसार ही भरा जायगा। विश्वविद्यालयों में शासन और व्यवस्था की एक परम्परा चली आ रही है। माध्यमिक स्तर पर जब छात्रों का जीवन सुधर जायगा तो विश्वविद्यालयों की वर्तमान समस्याएँ अपने-आप ही लुप्त हो जायँ

फलतः इनके सम्बन्ध में अधिक यहाँ सोचना और लिखना आवश्यक प्रतीत नहीं होता।

अधिकारियों की रूप-रेखा—(क) देश के प्रधान मंत्री और मुख्य सचिव क्रम से केन्द्र के शिक्षा-मंत्री तथा शिक्षा-सचिव होंगे। इसी प्रकार प्रान्तों के मुख्य मंत्री तथा मुख्य-सचिव क्रम से अपने-अपने प्रान्तों के शिक्षा-मंत्री तथा शिक्षा सचिव होंगे।

(ख) प्रान्तों में जिस प्रकार शिक्षा-सञ्चालक आजकल हैं उसी प्रकार भविष्य में भी होंगे। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय शिक्षा-सञ्चालक की भी नियुक्ति होगी। यह नवीन पद है। इनका मुख्य दायित्व होगा विभिन्न प्रान्तों की शिक्षा में सामञ्जस्य स्थापित करना।

(ग) प्रान्तों में जिस प्रकार उपशिक्षा सञ्चालक आजकल हैं उसी प्रकार भविष्य में भी होंगे इसके अतिरिक्त पाँच उपशिक्षा सञ्चालक (उत्तरी, पूर्वी, दक्षिण, पश्चिमी और मध्य भागों के लिए) केन्द्र में भी होंगे। प्रान्तों में कुछ उप-शिक्षा-सञ्चालक प्रधान कार्यालय में और एक-एक प्रत्येक क्षेत्र में। भावी योजना में शिक्षा, शासन, पाठ्यक्रम, परीक्षा, इत्यादि सभी कुछ प्रशिक्षण संस्थाओं की देख-रेख में शिक्षकों को ही सुपुर्द है। शिक्षा-सञ्चालकों तथा उप शिक्षा-सञ्चालकों के मुख्य कार्य केवल दो होंगे—(अ) राजकीय संस्थाओं की नियुक्तियाँ, स्थानान्तर, पदोन्नति, इत्यादि तथा (ब) राजकीय तथा जनता विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति करना।

प्रशिक्षण संस्थाएँ

(१) राष्ट्रीय प्रशिक्षण केन्द्र—साधारणतः इसे दिल्ली अथवा बम्बई, मद्रास, कलकत्ता, आदि विशाल नगरों में स्थापित होना चाहिए। परन्तु यह अप्रिय सत्य है कि इन नगरों की वर्त्तमान चमक-दमक भक्ति-मूलक प्रवृत्तियों को प्रेरित करने में सर्वथा असमर्थ हैं। यों तो हमारे देश-रत्न इसकी स्थापना कहीं भी कर सकते हैं परन्तु सब बातों का ध्यान रखते हुए इसे काशी (वाराणसी) के उत्तर सारनाथ में स्थापित होना चाहिए। इसके कार्य मुख्यतः दो प्रकार के होंगे—(अ) विभिन्न प्रान्तों के प्रशिक्षण-केन्द्रों के शिक्षा-शास्त्रीय अनुसन्धानों में एक ओर सामञ्जस्य स्थापित करना और दूसरी ओर अन्य देशों के शिक्षानुसन्धानों से इन्हें तौलना और (ब) राष्ट्र

के विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों के लिए शिक्षक प्रशिक्षित करना। शिक्षा-शास्त्रीय अनुसन्धान दिल्ली की वर्त्तमान संस्था में हो रहे हैं परन्तु उनके दृष्टि-कोण अभारतीय हैं।

इंगलैंड, अमेरिका, रूस, चीन, जापान, आदि देशों में महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों को प्रशिक्षित होना आवश्यक माना जाता हो या न माना जाता हो परन्तु भारतवर्ष की कर्म-प्रधान संस्कृति की पूर्त्ति के लिए यह परमावश्यक है। स्थायी रूप से शिक्षण में लगाने के पूर्व नवयुवकों की रुचि, सहृदयता, तत्परता, अध्यवसाय, चरित्र, आदि का कुछ तो पता लगाना ही चाहिए। अपने विषय के उच्च कोटि के 'पोस्ट-ग्रेजुएट' यहाँ भर्ती होंगे और एक वर्ष तक व्याख्यान प्रणाली से पढ़ाने का अभ्यास करेंगे। कुछ प्रशिक्षित प्राध्यापकगण महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में सफलता पूर्वक कार्य कर रहे हैं। उच्च-कोटि में केवल परीक्षा पास कर लेने से ही कोई सफल शिक्षक नहीं हो जाता। उच्च-कोटि के अधिकांश विद्वान एक ओर कृपिण तथा कट्टर होते हैं और दूसरी ओर सामन्तवादी प्रवृत्ति के होते हैं। ऐसे लोग अच्छों को तो बहुत अच्छा बना सकते हैं परन्तु बुरों और साधारण को अच्छा नहीं बना पाते। उनका हृदय इतना संकीर्ण और सीमित होता है कि अनेक प्रकार की स्वाभाविक और मानवी दुर्बलताओं के लिए उसमें शिक्षकोचित सहानूभूति ही नहीं होती। वे लोग उच्च कोटि के अन्वेषक हो सकते हैं परन्तु शिक्षक नहीं। यही कारण है कि प्रशिक्षण महाविद्यालयों में उच्च-कोटि में परीक्षाएँ पास करने वाले कितने नवयुवक प्रायः असफल रहते हैं। फलतः इस कसौटी पर विश्वविद्यालयों के भी भावी शिक्षकों को कसना असङ्गत कदापि न होगा।

इसके निमित्त समुचित पाठ्यक्रम तैयार किया जायगा। साधारण रूप-रेखा लगभग वही होगी जो कि प्रशिक्षण महाविद्यालयों की है। साधारणतः इसमें अध्यक्ष और दो उपाध्यक्ष— एक प्रशिक्षण-व्यवस्था और दूसरे अन्वेषण-व्यवस्था के लिए—होंगे। इसके अतिरिक्त कुछ आचार्य तथा उपाचार्य। प्रान्तीय प्रशिक्षण केन्द्रों के आचार्य और उपाचार्य—विशेषतया भाषाओं के—आते रहेंगे। स्थायी शिक्षकों की संख्या इतनी पर्याप्त रहेगी कि प्रशिक्षण, अन्वेषण तथा प्रान्तों और विदेशों में आना-जाना सुविधा पूर्वक हो सकें। महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के आचार्यों और उपाचार्यों के सम्मेलन भी पूर्व निर्धारित उद्देश्यों से प्रायः होते रहेंगे। यदि यह केन्द्र सारनाथ में स्थापित होगा तो इसके छात्राध्यापक वाराणसी के हिन्दू विश्वविद्यालय,

संस्कृत विश्व विद्यालय तथा विभिन्न महाविद्यालयों में अपने शिक्षण अभ्यास करेंगे।

(२) प्रान्तीय प्रशिक्षण केन्द्र—यह प्रत्येक प्रान्त में स्थापित होगा। इसमें एक अध्यक्ष तथा दो उपाध्यक्ष होंगे। प्रथम उपाध्यक्ष आन्तरिक व्यवस्था अर्थात् प्रशिक्षण और अन्वेषण का प्रबन्ध करेंगे और द्वितीय उपाध्यक्ष उत्तर-माध्यमिक अर्थात् वर्त्तमान इन्टरमीडियट का पाठ्य क्रम और उसकी परीक्षा-व्यवस्था का प्रबन्ध करेंगे। इसके छात्राध्यापक भी पोस्ट-ग्रैजुएट होंगे और उत्तर माध्यमिक कक्षाओं के अध्यापन के लिए प्रशिक्षित किये जायँगे। उत्तर प्रदेश में प्रान्तीय प्रशिक्षण केन्द्र इलाहाबाद में स्थापित होगा। इसमें यथा-सम्भव निम्नलिखित कार्य होंगे:—

(क) उत्तर माध्यमिक अर्थात् वर्त्तमान इंटरमीडियट कक्षाओं को पढ़ाने के लिए प्राध्यापक प्रशिक्षित करना।

(ख) राष्ट्रीय प्रशिक्षण केन्द्र तथा क्षेत्रीय प्रशिक्षण महाविद्यालयों में सक्रिय सम्पर्क स्थापित करना तथा शिक्षा-शास्त्रीय अन्वेषण करना।

(ग) उत्तर माध्यमिक कक्षाओं के लिए पाठ्य-क्रम और पुस्तकें निर्धारित करना और उनकी परीक्षा की समुचित व्यवस्था करना।

(च) पैंतालीस वर्ष से कम अवस्था के प्राध्यापकों को समय-समय पर बुलाकर पुनर्प्रेरित करना।

(छ) उत्तर माध्यमिक संस्थाओं में समय-समय पर विभिन्न विषयों के आदर्श-पाठ की व्यवस्था करना।

आचार्यों और उपाचार्यों की संख्या तो आवश्यकतानुसार घटती-बढ़ती रहेगी परन्तु साधारणतः इन केन्द्रों में निम्नलिखित विभाग होने चाहिए। निम्न रूप-रेखा 'प्रशिक्षण केन्द्र' प्रयाग के लिए हैं।

(क) भाषा और साहित्य विभाग—

आचार्य—एक (हिन्दी)।
उपाचार्य—सात (दो हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, बङ्गाली, उर्दू-फारसी और अरबी)।

(ख) समाज शास्त्र-विभाग

आचार्य—एक (इतिहास या भूगोल या राजनीति या अर्थशास्त्र)
उपाचार्य—चार (इतिहास, भूगोल, राजनीति और अर्थशास्त्र)

(ग) विज्ञान-विभाग

आचार्य—एक (विज्ञान, या गणित या मनोविज्ञान)
उपाचार्य—तीन (विज्ञान, गणित, मनोविज्ञान)

(च) विविध-विभाग

आचार्योपाध्यक्ष—वही प्रथम उपाध्यक्ष

उपाचार्य—पाँच (दो व्यायाम-एक पुरुष और एक महिला, गृह-विज्ञान, कृषि, सङ्गीत)

प्राध्यापक—तीन (कला, काष्ठ कला और एक उपाध्यक्ष की सहायता के लिए)

इसके अतिरिक्त परीक्षा वाले उपाध्यक्ष की सहायता के लि कुछ उपाचार्य और प्राध्यापक रहेंगे। प्रशिक्षण संस्थाओं में उपाचार्यों, प्राध्यापकों आदि की अवस्था साधारणतः पैंतीस वर्ष (महिलाओं की तीस वर्ष) से कम न हो।

(३) क्षेत्रीय प्रशिक्षण महाविद्यालय—ये संस्थाएँ आवश्यकतानुसार प्रत्येक प्रान्त में तीन-चार होंगी। उत्तर माध्यामिक (वर्त्तमान इंटर मीडियट कक्षाओं) की शासन-व्यवस्था (क्योंकि इनके प्रध्यापकों का प्रशिक्षण, इनके पाठ्यक्रम, इनकी परीक्षा, आदि की व्यवस्था प्रान्तीय प्रशिक्षण केन्द्र द्वारा होगी) और पूर्व माध्यमिक तथा प्राथमिक शिक्षा का सभी कुछ अपने-अपने क्षेत्र में प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से इन्हीं के नियंत्रण में सम्पादित होंगे। उत्तर प्रदेश में ये संस्थाएँ यथासम्भव बरेली, लखनऊ, इटावा और वाराणसी में स्थापित होनी चाहिए। प्रत्येक क्षेत्रीय प्रशिक्षण महाविद्यालय में एक अध्यक्ष और तीन उपाध्यक्ष होंगे। प्रथम उपाध्यक्ष संस्था की आन्तरिक व्यवस्था के लिए होंगे। द्वितीय उपाध्यक्ष पूर्व माध्यमिक कक्षाओं (वर्त्तमान हाईस्कूल कक्षाओं) के पाठ्य-क्रम, उनकी पुस्तकें, परीक्षा, आदि की व्यवस्था करेंगे और तृतीय उपाध्यक्ष 'क्षेत्रीय शिक्षा-परिषद्' (जनता (विद्यालयों के निमित्त) के मंत्री होंगे। इस प्रकार क्षेत्रीय प्रशिक्षण महाविद्यालय के निम्नलिखित कार्य हैं—

(क) माध्यमिक तथा प्रशिक्षण विद्यालयों के लिए शिक्षक प्रशिक्षित करना।

(ख) इनके पैंतालिस वर्ष से कम अवस्था के शिक्षकों को समय-समय पर पुनर्प्रेरित करना।

(ग) माध्यमिक और प्रशिक्षण विद्यालयों में आदर्श पाठों की व्यवस्था करना।

(च) पूर्व माध्यमिक विद्यालयों के लिए पाठ्यक्रम, पुस्तकें, परीक्षा आदि की व्यवस्था करना।

(छ) आर्थिक प्रसङ्गों के अतिरिक्त लगभग अन्य सभी के लिए जनता विद्यालयों के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय देना।

(ज) शिक्षा शास्त्रीय अन्वेषणों में प्रान्तीय प्रशिक्षण केन्द्र का यथा सम्भव यथोचित हाथ बँटाना।

क्षेत्रीय प्रशिक्षण महाविद्यालयों में आचार्यों और उपाचार्यों की संख्या उनकी आवश्यकताओं के अनुसार होगी। परन्तु विभाग लगभग उतने ही होंगे जितने कि प्रान्तीय प्रशिक्षण केन्द्र के लिए निर्धारित किये गये हैं। क्षेत्रीय विशेषताओं के अनुरूप कृषि, उद्योग, कला, आदि के लिए कुछ अधिक व्यवस्था की जा सकती है। उर्दू-फारसी, अरबी, बङ्गाली आदि के पद इन सभी संस्थाओं में आवश्यक नहीं। इनके छात्राध्यापक ग्रैजुएट और टर मिडियट दोनों ही होंगे। इस प्रकार इनमें माध्यमिक विद्यालयों के लिए अध्यापक और अध्यापिकाएँ और गोपाल और कन्या विद्यालयों के लिए पाठक और पाठिकाएँ प्रशिक्षित होंगी। दूसरे शब्दों में वर्त्तमान एल० टी० और सी० टी० दोनों के प्रशिक्षण होंगे। लगभग ६० प्रतिशत छात्राध्यापक और ४० प्रतिशत छात्राध्यापिकाएँ रहेंगी। आवश्यकतानुसार यह अनुपात घटता-बढ़ता रहेगा।

(४) प्रशिक्षण-विद्यालय—यह संस्था प्रत्येक जिले में होगी। इसमें सह-शिक्षा की परम्परा न रहेगी। महिलाओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था राजकीय किशोरी विद्यालयों में होगी। जिस जिले में राजकीय किशोरी विद्यालय न होगा उसमें इसकी व्यवस्था किसी अन्य सुव्यवस्थित जनता किशोरी विद्यालय में होगी। इस प्रशिक्षण के निमित्त राजकीय अथवा जनता किशोरी विद्यालय में अतिरिक्त अध्यापिकाएँ नियुक्त होंगी। इसके छात्राध्यापक हाई स्कूल पास होंगे और बाल तथा बालिका विद्यालय में प्रशिक्षण के उपरान्त पालक या पालिका का कार्य करेंगे। प्रशिक्षण विद्यालयों के यथासम्भव निम्नलिखित कार्य होंगे:—

(क) बाल अथवा बालिका विद्यालयों के लिए पालक प्रशिक्षित करना।

(ख) पैंतालिस वर्ष से कम अवस्था के शिक्षकों को समय-समय पर पुनर्प्रेरित करना।

(ग) गोपाल और कन्या विद्यालयों के अध्यापन, पाठ्यक्रम (स्थानीय सामञ्जस्य), परीक्षा आदि की व्यवस्था करना ।

(च) जिले की सम्पूर्ण प्राथमिक शिक्षा के शासन की व्यवस्था करना ।

(छ) सम्पूर्ण प्राथमिक संस्थाओं में समय-समय पर आदर्श पाठों की व्यवस्था करना ।

छात्राध्यापकों की संख्या आवश्यकतानुसार प्रतिवर्ष घटती बढ़ती रहेगी । प्राथमिक विद्यालयों में आदर्श पाठों की अधिकाधिक आवश्यकता पड़ेगी । फलतः इन प्रशिक्षण विद्यालयों में अध्यापकों की संख्या पर्याप्त रखनी पड़ेगी । इनमें भी विभिन्न विभाग होंगे और उनके अन्तर्गत सम्बन्धित विषय सुसंगठित रहेंगे ।

छात्राध्यापकों के चुनाव—राष्ट्रीय प्रशिक्षण केन्द्र में साधारणतः प्रथय श्रेणी के पोस्ट-ग्रैजुएट लिये जायँगे । इनकी संख्या देश के विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों की आवश्यकतानुसार घटती-बढ़ती रहेगी । प्रान्तीय प्रशिक्षण केन्द्र के प्रशिक्षित पोस्ट ग्रैजुएट भी विश्वविद्यालयों और महा-विद्यालयों में नियुक्त हो सकेंगे । चुनाव अध्यक्षों द्वारा दक्षता के आधार पर किये जायँगे । क्षेत्रीय प्रशिक्षण महाविद्यालयों के अध्यक्ष अपने-अपने क्षेत्र से योग्य पोस्टग्रैजुएटों की तालिका भेजेंगे और उन्हीं में से प्रान्तीय प्रशिक्षण केन्द्र के अध्यक्ष अपने यहाँ के लिए छात्राध्यापक चुनेंगे । क्षेत्रीय प्रशिक्षण महाविद्या-लय के ग्रैजुएट छात्राध्यापक जिला शिक्षाधिकारियों द्वारा भेजी गई तालिकाओं से अध्यक्ष द्वारा चुने जायँगे परन्तु इण्टरमीडिएट छात्राध्यापकों का चुनाव अपने-अपने जिले के प्रशिक्षण विद्यालय के प्रधानाध्यापक की सहायता से से जिला शिक्षाधिकारी द्वारा किया जायगा । चुनाव करके निश्चित नाम केवल प्रशिक्षण के लिए क्षेत्रीय प्रशिक्षण महाविद्यालय में भेज दिये जायँगे । प्रशिक्षण विद्यालयों के छात्राध्यापकों का चुनाव प्रधानाध्यापक द्वारा सम्पा-दित होगा । महिलाओं का भी चुनाव यही करेंगे परन्तु उनका प्रशिक्षण किशोरी विद्यालय में होगा । वर्त्तमान नियमों को भी आवश्यकतानुसार काम में लाया जायागा ।

ऊपर स्पष्ट है कि वर्त्तमान एल० टी और सी० टी० दोनों के प्रशिक्षण क्षेत्रीय प्रशिक्षण महाविद्यालयों में होंगे । इनके छात्राध्यापकों की अवस्था साधारणतः क्रम से बाईस तथा बीस वर्ष से कम और छब्बीस तथा चौबीस वर्ष से अधिक न होगी । इनकी परीक्षाएँ भी शिक्षा-सञ्चालक की देख-रेख में लगभग उसी प्रकार होंगी जैसे कि वर्त्तमान काल में हो रही हैं । परन्तु

विभिन्न प्रशिक्षण महाविद्यालयों के तथा उनके अन्तर्गत स्थित प्रशिक्षण विद्यालयों के परीक्षा-फल अध्यक्षों की स्वीकृति के उपरान्त ही प्रकाशित होंगे। राष्ट्रीय तथा प्रान्तीय प्रशिक्षण केन्द्रों की परीक्षाओं के लिए कोई नवीन व्यवस्था करनी पड़ेगी।

<u>प्रशिक्षण संस्थाओं का तार-तम्य</u>—किसी पूर्व-निर्धारित और निश्चित योजना के अनुसार अध्यक्ष से लेकर अध्यापक तक—सभी लोग अध्यापन में सक्रिय रूप से लगेंगे। दूसरे शब्दों में इन लोगों का दायित्व कुछ पाठ पढ़ा देने तथा कुछ समालोचना कर लेने तक ही सीमित नहीं रहेगा प्रत्युत देश, प्रान्त, क्षेत्र तथा जिले में भ्रमण करके आदर्श-पाठ भी देना पड़ेगा। आदर्श-पाठों की व्यवस्था बालविद्यालयों से लेकर विश्वविद्यालयों तक—सभी स्तर पर नियमित रूप से होगी। अध्यक्ष को दो, उपाध्यक्ष को तीन, आचार्य को तीन, उपाचार्य को पाँच पाठ (लेक्चर) प्रति सप्ताह यथा-सम्भव पढ़ाने पड़ेंगे। यदि प्रशिक्षण संस्थाओं में पढ़ाने के लिए इन्हें इतने घण्टे न मिलेंगे तो ये लोग किशोर या किशोरी विद्यालयों में पढ़ायेंगे। अध्यक्ष को चार, उपाध्यक्ष और आचार्य को छः तथा उपाचार्य को बारह पाठ प्रति सप्ताह (छात्राध्यापकों के) पोषित करने पड़ेंगे अध्यक्ष को तीस दिन, उपाध्यक्ष को बीस दिन, आचार्य को चालीस दिन और उपाचार्य को साठ दिन वर्ष में भ्रमण करके सम्बन्धित शिक्षा-संस्थाओं में अपने-अपने विषयों के आदर्श पाठ देने पड़ेंगे। परीक्षा और शासन वाले उपाध्यक्ष भी यथासम्भव इन दायित्वों को पूरा करेंगे।

अध्यापन तथा पोषण का तात्पर्य यह नहीं है कि समय-विभाग में नाम किसी का रहे और काम कोई करे। ऐसा होने पर शिक्षा की रूप-रेखा भक्ति-मूलक कदापि नहीं रह सकती। इस प्रकार की दुर्व्यवस्था से आचार्यगण छात्रों की आँखों में गिर जायँगे। परीक्षावाले उपाध्यक्ष को कभी-कभी परमावश्यक कार्यवश समय-विभाग के अनुसार चलने में कठिनाई हो सकती है। साथ ही, भ्रमण के कारण अन्य लोगों को भी कठिनाई हो सकती है इन अवसरों पर हेर-फेर अवश्य करने पड़ेंगे। परन्तु इन सबकी सूचना छात्राध्यापकों को पहले से ही रहेगी। साथ ही अध्यापन अथवा पोषण के पाठों में कमी नहीं हो सकती। आचार्य, उपाचार्य, आचार्या, उपाचार्या, आदि सभी भ्रमण करेंगी। इसी प्रकार प्रशिक्षण विद्यालयों के प्रधानाध्यापक, प्राध्यापक, अध्यापक, आदि भी गोपाल और बालविद्यालयों में आदर्श पाठ देंगे। आदर्श पाठ देना प्रशिक्षण संस्थाओं के आचार्यों, अध्यापकों,

आदि का ही विशेषाधिकार न होगा। किशोर (किशोरी) विद्यालयों के अध्यापक (अध्यापिकाएँ) भी इस कार्य में लगाई जा सकती हैं। साथ ही प्राथमिक विद्यालयों के अध्यापक किशोर विद्यालयों अथवा प्रशिक्षण महाविद्यालयों तक में आदर्श पाठ दे सकते हैं। प्रशिक्षण केन्द्र अथवा महाविद्यालयों के अध्यक्ष बाल विद्यालयों में आदर्श पाठ देने में अपने को गौरवान्वित समझेंगे। यही भारतीय भावी शिक्षा की विशेषता होगी।

यदि किसी जिले में आचार्या अथवा उपाचार्या आयेंगी तो उनके आदर्शपाठ की व्यवस्था राजकीय अथवा जनता किशोरी विद्यालय में होगी। सभी विद्यालयों (किशोर-किशोरी) के उस विषय के अध्यापक-अध्यापिकाएँ पाठ विशेष का अध्यापन देखेंगी तथा सुनेंगी। पाठ समाप्त हो जाने पर छात्राएँ वहाँ से चली जायँगी और उस सम्बन्ध में पर्याप्त विचार-विनिमय होगा। वहीं पर किसी भी किशोरी अथवा कन्या पाठशाला की अध्यापिका अथवा पाठिका घोषित कर सकती हैं कि वे एक आदर्शपाठ पढ़ाना चाहती हैं जिसमें केवल उपाचार्या बैठेंगी अथवा उपाचार्या के साथ अन्य अध्यापिकाएँ भी बैठ सकती हैं अथवा उपाचार्या के साथ अध्यापिकाएँ और अध्यापक सभी बैठ सकते हैं। पुरुष-शिक्षकों को यह अवसर तब मिलेगा जब कि आचार्य, उपाचार्य, आदि आयेंगे और उनके आदर्श-पाठ की व्यवस्था किसी किशोर अथवा प्रशिक्षण विद्यालय में होगी। इस प्रकार प्रशिक्षण महाविद्यालयों के अध्यक्ष, आचार्य, उपाचार्य, आदि भावी उपाचार्यों तथा प्रशिक्षण विद्यालयों के प्राध्यापकों और अध्यापकों की नियुक्ति के लिए धारणा बना सकते हैं। यही क्रम प्रशिक्षण विद्यालयों के प्रधानाध्यापकों और अध्यापकों का प्राथमिक विद्यालयों के सम्बन्ध में होगा।

प्रशिक्षण विद्यालयों के प्रशिक्षित छात्राध्यापक पढ़ायेंगे तो बाल विद्यालयों में ही परन्तु शासन सम्बन्धी उनका पूर्ण नियंत्रण समस्त प्राथमिक शिक्षा पर अर्थात् बाल और गोपाल दोनों ही प्रकार के विद्यालयों पर होगा। उसी प्रकार उत्तर माध्यमिक के प्राध्यापकों का प्रशिक्षण तो होगा प्रान्तीय प्रशिक्षण केन्द्र में परन्तु क्षेत्रीय प्रशिक्षण महाविद्यालयों के अध्यक्षों का सम्पूर्ण माध्यमिक विद्यालयों की शासन-व्यवस्था पर अधिकार होगा। उत्तर माध्यमिक अर्थात् वर्त्तमान इंटरमीडियट परीक्षाओं की व्यवस्था पूरे प्रान्त में प्रान्तीय प्रशिक्षण केन्द्र से होगी। परन्तु पूर्व माध्यमिक अर्थात् हाई स्कूल परीक्षा की व्यवस्था क्षेत्रीय प्रशिक्षण महाविद्यालयों द्वारा अपने-अपने क्षेत्र में होगी। पूर्व माध्यमिक कक्षाओं के पाठ्यक्रम की रूप-रेखा पूरे प्रान्त क्या यथा

सम्भव समस्त देश में समान होगी। पुस्तकों की सामग्री भिन्न-भिन्न रूप में हो सकती है परन्तु स्तर और उद्देश्य समान होंगे। वर्तमान जूनियर हाई स्कूलों (गोपाल और कन्या विद्यालयों की अन्तिम कक्षा) की परीक्षाएँ प्रत्येक जिले में अलग-अलग होंगी। इनके भी पाठ्यक्रम में समानता होगी। बाल विद्यालयों की अन्तिम कक्षा की परीक्षाएँ गोपाल विद्यालयों के प्रधान पाठकों द्वारा व्यवस्थित होंगी।

शंका-समाधान—लोगों के मन में यह दुविधा हो सकती है कि शासन सम्बन्धी अनेक गुत्थियाँ, जिनके सुलझाने में इतने इंसपेक्टर साहबान लगे हुए हैं, इन थोड़े से प्रशिक्षण महाविद्यालयों द्वारा किस प्रकार सुलझेंगी? प्रथम तो सभी नियमों, उपनियमों, आदि के कार्यान्वित हो जाने पर शासन सम्बन्धी गुत्थियाँ उलझेंगी ही नहीं। प्रायः छात्रों के सम्बन्ध में संस्था से बाहर और शिक्षकों के सम्बन्ध में जिला अथवा क्षेत्र के बाहर कोई प्रसङ्ग जायगा ही नहीं। शिक्षकों को जब विधिवत् विदित हो जायगा कि अब उनके सबसे बड़े अधिकारी तथा निरीक्षक उनके अध्यक्ष अथवा प्रधान ही हैं तो वे सावधानी और तत्परता से अपने कार्य में दत्त-चित्त होंगे। उन्हें यह आशा अथवा गर्व करने के लिए कोई आधार ही नहीं रहेगा कि अध्यक्ष अथवा प्रधान के रुष्ट हो जाने पर इंसपेक्टर महोदय उन्हें बचा लेंगे। धीरे-धीरे अध्यापक और छात्रों को अध्यापन और अध्ययन के अतिरिक्त कोई अन्य चारा रही न जायगा। वास्तव में 'तर्क' के लिए, जिसके कारण विभिन्न समस्याएँ पग-पग पर खड़ी होती रहती हैं, इस भावी योजना में स्थान नहीं है। इस शिक्षा का उद्देश्य तो 'आत्म-नियंत्रण' और 'आज्ञापालन' होगा। साथ ही, आचार्यों; उपाचार्यों, प्राध्यापकों, अध्यापकों आदि की संख्या पर्याप्त रहेगी।

भावीशिक्षा-योजनाके विधिवत् कार्यान्वित हो जानेपर वर्त्तमान इन्सपेक्टरों के अध्यापन सम्बन्धी तथा मुख्य शासन सम्बन्धी दायित्व जिला-शिक्षा-अधिकारी और क्षेत्रीय प्रशिक्षण महाविद्यालयों के अध्यक्षों द्वारा सम्पादित होंगे और शेष शासन सम्बन्धी निर्णय विद्यालयों के अध्यक्ष अथवा प्रधान स्वयं करेंगे। शिक्षा के सभी कार्य शिक्षकों द्वारा सम्पादित होंगे। छात्र चारों ओर किसी न किसी रूप में अपने शिक्षकों को ही पायेगा। स्वयं पढ़ाते रहने से तथा लगातार भ्रमण करके आदर्श पाठ देते रहने से प्रशिक्षण संस्थाओं के शिक्षक वास्तविकता के अधिकाधिक निकट होते जायँगे। आदर्श-पाठों का आनन्द लेने की उत्सुकता से सभी शिक्षक और शिक्षिकाएँ विभिन्न अध्यक्षों, आचार्यों, आचार्याओं आदि, का हृदय से स्वागत करेंगी न कि उस रूप में भार

से दब जायँगी जिस प्रकार कि वर्त्तमान निरीक्षण (इंसपेक्शन) का समाचार पाते ही सारी संस्था दब जाती है।

नियुक्ति, स्थानान्तर, पदोन्नति, अवकाश, आदि :—

(१) नियुक्ति—प्रशिक्षण संस्थाओं के परीक्षाफल सम्बन्धी दक्षता के ठीक क्रम से नियुक्तियाँ होंगी। राजकीय विद्यालयों में शिक्षा सञ्चालक द्वारा और जनता विद्यालयों में विभिन्न परिषदों द्वारा। परीक्षाफलों के ठीक क्रम से प्रथम, द्वितीय, तृतीय, आदि राजकीय संस्थाओं में नियुक्त होंगे। हाँ, विषयों की आवश्यकतानुसार व्यतिक्रम हो सकते हैं। फिर ठीक क्रम से लोग जनता संस्थाओं में नियुक्त होंगे। सरकारी तथा जनता सभी संस्थाओं में प्रथम रिक्त स्थान प्रथम व्यक्ति को दिया जायगा।

(२) स्थानान्तर—वर्तमान प्राइवेट कही जाने वाली संस्थाओं के शिक्षकों के स्थानान्तर की इस समय कोई व्यवस्था नहीं है परन्तु अच्छा काम न करने वाले राजकीय संस्थाओं के शिक्षकों के स्थानान्तर प्रान्त में कहीं भी कर दिये जाते हैं। उत्तर-प्रदेश में सीमाओं, पहाड़ों, तराई, आदि की राजकीय शिक्षा संस्थाओं में प्रायः तीन प्रकार के शिक्षक होते हैं—(अ) नव-नियुक्त (ब) पदोन्नति-प्राप्त और (स) दण्डित। ऐसे शिक्षकों का उन संस्थाओं में अभाव होता है जिनका वहाँ मन लगता हो और जो यह सोचते हों कि वहाँ पर दत्त-चित्त होकर काम करने में ही उनका कल्याण है। कठिनाई यह है कि वर्तमान वैज्ञानिक सुविधाओं के अभाव से उन स्थानों के स्थानीय शिक्षक भी वहाँ कम टिकना चाहते हैं। आज से पाँच-सात वर्ष पूर्व तक कर्णप्रयाग (गढ़वाल) के नाम-मात्र पर शिक्षक काँप उठते थे। अब तो कई संस्थाएँ ऐसे बीहड़ स्थानों में खुल गई हैं कि वहाँ का पहुँचना ही दुष्कर है और स्थिर चित्त से टिक कर पढ़ाना तो दूर रहा।

ये स्थानान्तर 'स्थाई राजकीय नियमों' के अनुसार सभी सरकारी विभाग के कर्मचारियों के होते हैं। ध्यान से देखा जाय तो शिक्षा-विभाग में दण्ड शिक्षक-विशेष को तो कम और संस्थाओं तथा छात्रों को अधिक मिलता है। कारण स्पष्ट हैं। अन्य विभागों के कार्य इस दृष्टि से कुछ मूर्त्त होते हैं—अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए दण्डित तथा असन्तुष्ट कर्मचारी को भी कुछ न कुछ कार्य विवश होकर करना पड़ता है। दण्डित पुलिस कर्मचारी को कुछ न कुछ चोरों के पीछे-पीछे दौड़ना ही पड़ता है, कुछ घण्टे तक स्थान विशेष की रक्षा के लिए खड़ा ही रहना पड़ता है; दण्डित इञ्जीनियर को कुछ न

कुछ भवन, सड़कें, आदि बनवा कर दिखाना ही पड़ता है। उन पदों पर दायित्व सुगमता से निर्धारित किया जा सकता है। परन्तु शिक्षकों का कार्य इस दृष्टि से अमूर्त है। यदि किसी संस्था अथवा कक्षा के छात्रों को एक पंक्ति में खड़ा किया जाय तो उनकी आकृति तथा उनके अंग-संचालन, वार्त्तालाप, आदि से यही पता लगाना प्रायः कठिन होता है कि उनमें सबसे प्रखर बुद्धि का कौन हैं और छात्र विशेष की प्रखरता में शिक्षक विशेष के योग का अनुमान लगाना तो असम्भव ही है। संस्था तथा कक्षाओं में ठीक समय से उपस्थित होकर भी शिक्षक अगर चाहें तो सुगमता से यही नहीं कि वे कुछ काम न करें प्रत्युत छात्रों को जो कुछ आता हो उसे भी अस्त-व्यस्त कर दे सकते हैं। फलतः शिक्षा-विभाग में ऐसे स्थानान्तर तनिक भी उपयोगी नहीं।

सन्तोषजनक अध्यापन न होने पर लगातार बीहड़ स्थानों को स्थानान्तरित करते रहने से शिक्षकों को कष्ट भले ही पहुँच जाय परन्तु संस्थाओं और अध्यापन को इससे कोई लाभ नहीं होता। भावी शिक्षा-योजना में ऐसे शिक्षकों को केवल दो बार स्थानान्तरित किया जायगा। परन्तु ये स्थानान्तर अधिकाधिक सहानुभूति और सहृदयता के साथ बीहड़ स्थानों को नहीं किये जायँगे। शिक्षा-सञ्चालक महोदय के पास प्रान्त भर की (राजकीय विद्यालयों के निमित्त) और प्रशिक्षण महाविद्यालयों के अध्यक्षों के पास क्षेत्रों की (जनता विद्यालयों के निमित्त) अच्छी संस्थाओं तथा अच्छे अध्यक्षों और प्रधानों की सूची रहेगी। उन्हें यह भी विदित रहेगा कि अध्यक्ष अथवा प्रधान विशेष में शिक्षकों की किन-किन त्रुटियों को सुधारने की क्षमता है। शिक्षक विशेष में जो त्रुटि अथवा त्रुटियाँ हों उन्हीं के अनुसार उन्हें चार-पाँच स्थान दिये जायँ और जहाँ वे पसन्द करें वहीं उनका स्थानान्तर कर दिया जाय। ऐसे ही योग्य अध्यक्षों और प्रधानों के पास वे शिक्षक भी भेजे जायँगे जिन्हें 'परम दक्ष' (एक्सेलेंट) घोषित करना होगा। ये दोनों ही प्रकार के स्थानान्तर ऐसी गोपनीय विधि से होंगे कि नवीन अध्यक्षों को इस बात का पता न चल सके कि शिक्षक विशेष उनकी मातहती में 'त्रुटि-सुधार' के लिए भेजा गया है अथवा 'दक्षता-मापन' के लिए। यह सुझाव इसलिए दिया जा रहा है कि अध्यक्ष लोग ऐसे शिक्षकों का पथ-प्रदर्शन स्वतंत्रता से कर सकें।

किसी भी शिक्षक के ऐसे स्थानान्तर केवल दो बार होंगे। तीसरी बार यदि ऐसी समस्या फिर खड़ी होगी तो देखा जायगा कि उत्तरोत्तर अकर्मण्यता या उद्दण्डता के आधार कोई स्वास्थ्य सम्बन्धी दोष, पारिवारिक गुत्थियाँ, आदि हैं अथवा तिरस्कार, अवहेलना, आदि। यदि कारण प्रथम कोटि के

हों तो सहानुभूति के साथ उन्हें किसी अन्य विभाग में भेज दिया जाय अथवा पैंतालीस वर्ष से अधिक अवस्था होने पर पेंशिन दे दी जाय। यदि कारण द्वितीय कोटि के होंगे तो ऐसे व्यक्तियों को शिक्षा विभाग से तो निकाल ही दिया जायगा। परन्तु पदच्युत् करने के पूर्व इस समस्या पर बार-बार विचार करना पड़ेगा। ऐसे शिक्षकों के सम्बन्ध में 'तीसा' या 'बीसा' या 'सती' की सम्मति प्रति वर्ष लेते रहना चाहिए। अध्यक्षों और प्रधानों की यह प्रत्यक्ष पराजय मानी जायगी कि वे अपने मातहत विशेष को ठीक न कर सके। उचित व्यवहार करने से बुरे से बुरे व्यक्ति भी यदि भले नहीं तो साधारण तो हो ही जाते हैं। एक कहावत भी प्रचलित है कि 'कहते-कहते मनुष्य बुरा हो जाता है और कहते ही कहते भला भी'। मनोमालिन्य अथवा मनमोटाव के लिए अध्यापन में स्थान नहीं है। प्रत्येक संस्कृति में, भारतीय में तो विशेष रूप से, गुरुजनों को अधिकार होता है कि वे अपने लोगों को डाँटते-फटकारते रहें। यह निश्चित रूप से मान लेना चाहिए कि डाँट-फटकार, चेतावनी, आदि से मनमोटाव नहीं होता। परन्तु इसका सारा सौन्दर्य 'अपने' शब्द में निहित है। समस्त कार्य अपने सहायकों को 'अपने' समझकर होने चाहिए।

मनोमालिन्य के अवसर प्रायः तब आते हैं जब कि व्यवहार में मक्कारी तथा दाँव-पेंच की मात्रा बहुत बढ़ जाती है। वास्तव में जब शिक्षकों को यह स्पष्ट हो जायगा कि अध्यक्ष अथवा प्रधान के अतिरिक्त वे किसी और के उत्तरदायी नहीं हैं तो सम्भवतः बहुत सी गुत्थियाँ स्वभावतः लुप्त हो जायँगी। किसी विद्यालय की उपयोगिता और श्रेष्ठता की सच्ची कसौटी यही होगी कि किसी छात्र की शिकायत किसी शिक्षक द्वारा अध्यक्ष अथवा प्रधान तक न पहुँचे और किसी शिक्षक की शिकायत किसी अध्यक्ष अथवा प्रधान द्वारा जिला-परिषद् अथवा क्षेत्रीय प्रशिक्षण महाविद्यालय के अध्यक्ष तक न पहुँचे। त्रुटियाँ अवश्य होंगी और मनुष्य होने के नाते बहुत अधिक होंगी परन्तु उनका सुधार शिक्षकों (छात्र सम्बन्धी) और अध्यक्षों (शिक्षक सम्बन्धी) तक ही हो जाना चाहिए। यह परिस्थिति तभी उत्पन्न हो पायेगी जब अपने छात्रों की शिकायत प्रधान तक पहुँचने में शिक्षक और शिक्षकों की शिकायत अपने ऊपर पहुँचाने में अध्यक्ष अपने को ही अयोग्य और अपमानित मानने लगेंगे।

शिक्षकों के व्यक्तिगत चरित्र से भी कभी-कभी शासन में कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। चरित्र-हीन शिक्षक केवल कक्षा तथा संस्था के ही लिए नहीं प्रत्युत समस्त समाज अथवा यों कहा जाय कि पृथ्वी के लिए भी भार-स्वरूप

हो जाता है। अन्य वर्गों के चरित्र-हीन होने से समाज को यदि दस प्रतिशत धक्का पहुँचता है तो चरित्र-हीन शिक्षक से साठ-सत्तर प्रतिशत। परन्तु वर्तमान परिस्थितियों में चरित्र-हीन शिक्षक कहा किसे जाय? मछुआ जब किसी बड़े तालाब अथवा नदी से जाल समेटता है तो छोटे-मोटे अनेक जल-जीव तथा मछलियाँ फँसती हैं। आरम्भ में तो दो-एक बार वे फड़फड़ाते हैं परन्तु फिर हताश होकर भविष्य की बिना चिन्ता किये ही आपस में एक दूसरे को खाने लगते हैं। भारतवर्ष की वर्तमान शिक्षा, संस्कृति और समाज की लगभग यही दशा है। हर ओर से तिरस्कृत शिक्षक अपनी प्रतिभा, बुद्धि और विद्वत्ता का प्रयोग कुत्सित से कुत्सित कार्यों में करने लगे हैं। किसी बुरे कार्य में लगने से मनुष्य प्रथम बार डरता है—फिर तो उसका आदी हो जाता है। अभाग्य-वश कुछ शिक्षकों में ऐसे-ऐसे दोष आ गये हैं कि उनका प्रसङ्ग छिड़ते ही हमारी आँखें नीची हो जाती हैं। शिक्षकों में ये दोष सम्भवतः उनके स्तर के अत्यन्त नीचे हो जाने से आ गये हैं और उन्हें समुचित रूप में ऊपर उठाते ही वे दोष नीचे छूट जायँगे।

निम्न स्तर पर गिर जाने पर मनुष्य कुत्सित से कुत्सित कार्य सुविधा-पूर्वक कर सकता है। परन्तु किसी दायित्व का पद पाते ही वह हेय कार्यों में लगही नहीं पाता। समाज से समुचित आदर पाते ही भारतीय शिक्षक सँभल जायँगे। साथ ही, 'चरित्रता' की परिभाषा पर भी हमें विचार करना होगा। बहुत से विद्वानों तथा समाजशास्त्रियों का दावा है कि 'चरित्रता' की परिभाषा में परिवर्तन आवश्यक तथा सम्भव नहीं। उनका कहना है कि यह कैसे हो सकता है कि जिस काम को हम कल बुरा समझते थे उसे आज अच्छा मान लें। परन्तु स्मरण रहना चाहिए कि देश, काल, और पात्र के अनुसार सभी नियमों, उपनियमों, आदि में परिवर्तन स्वाभाविक तथा अनिवार्य हैं। साथ ही, संसार का कोई भी ऐसा काम नहीं है जो कि किसी न किसी भाग अथवा समाज में उचित न माना जाता हो। विज्ञान ने समस्त संसार का सम्पर्क दैनिक व्यवहारों में भी स्थापित कर दिया है। इस प्रकार वर्तमान शिक्षक को अधिकाधिक उदार, सहृदय तथा सामञ्जस्य-प्रिय होने की आव-श्यकता है। फलतः चरित्रता की उपयोगी तथा नवीन परिभाषा हमें वर्तमान परिस्थितियों की दृष्टि से करनी है।

भारतवर्ष की समस्या इस दृष्टि से बहुत ही विकट है। जाति-पाँति, ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, आदि ऐसे वर्गों में हम विभक्त हैं कि शिक्षकों के बिना अधिकाधिक सहृदय हुए मौलिक भारतीय प्रवृत्तियों तथा वर्त्तमान शिक्षा

पद्धतियों में सामञ्जस्य स्थापित हो ही न पायेगा। सहृदय व्यक्ति अथवा शिक्षक प्रायः हम उसी को मानते हैं जो दूसरों के सुख से सुखी और दूसरों के दुःख से दुखी हो सके। ऐसे व्यक्ति के लिए यह स्वाभाविक है कि अपनी वस्तुओं को दूसरों की भी और दूसरों की वस्तुओं को अपनी भी मानेगा। किसी भारतवासी में, उसे सच्चरित्र स्वीकार और घोषित करने के लिए, जिन जिन गुणों की आवश्यकता होती है उनमें सबसे मुख्य हैं, दाम्पत्य आदर्शों का पूर्ण रूप से पालन करने की क्षमता। इस प्रकार वर्तमान परिस्थितियों में भारतीय दाम्पत्य आदर्शों का अक्षरक्षः पालन किसी भी सहृदय व्यक्ति के लिए यदि असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य ही है। स्मरण रहना चाहिए कि महाराणा की टेक, अकबर की उदारता, औरङ्गजेब की कट्टरता तथा नासिरुद्दीन की सादगी किसी एक ही व्यक्ति में निहित कदापि नहीं हो सकतीं। फलतः शिक्षाधिकारियों का यह परम पुनीत कर्त्तव्य होगा कि अपने साथियों और सहायकों को चरित्र-हीन घोषित करने के पूर्व सभी परिस्थितियों को विधिवत् तौल लें। क्योंकि एक बार कुख्यात हो जाने पर किसी व्यक्ति का सँभलना अत्यन्त कठिन और शिक्षकों का तो असम्भव ही हो जाता है।

(३) पदोन्नति—व्यक्ति अथवा व्यक्तित्व की दृष्टि से कर्म-प्रधान संस्कृति में पदोन्नति का महत्त्व नहीं के बराबर है। परन्तु वर्तमान परिस्थितियों का विचार करते हुए हम लोगों को इस ओर से भी सावधान होना है। कार्य-कालाधिक्य का महत्त्व अन्य विभागों में हो या न हो, परन्तु शिक्षा में, विशेषतया भारतीय शिक्षा में, अत्यधिक है। भारतीय संस्कृति में वयोवृद्ध के विशेष अधिकार तथा दायित्व हैं। इसमें व्यतिक्रम होने से हमारी शिक्षा के सिद्धान्त ही समाप्त से हो जाते हैं। 'गुप्त वार्षिक-विवरण' की अन्य विभागों में चाहे जो उपयोगिता हो परन्तु भारतीय शिक्षकों के सम्बन्ध में अनावश्यक सी प्रतीत होती है। भक्ति-मूलक शिक्षा में इस प्रकार की गुप्त धारणाओं का कोई स्थान ही नहीं दीखता। यदि किसी शिक्षक की दक्षता, तत्परता, उपयोगिता आदि में अध्यक्ष अथवा प्रधान को सन्देह होने लगे तो उसका गोपनीय समाधान मौखिक अथवा लिखित रूप में तुरन्त हो जाना चाहिए। हो सकता है कि इस प्रयत्न में कुछ व्यावहारिक गुत्थियाँ उलझ जायँ। परन्तु असावधान होने पर तो गुत्थियाँ कहीं भी निर्मित हो जा सकती हैं। सब कुछ उद्देश्य पर निर्भर होता है।

भावी शिक्षा-योजना के कार्यान्वित होने पर भी कुछ समय तक स्थिति विधिवत् व्यवस्थित न हो सकेगी ज्ञान-मूलक परम्परा को हटने में पर्याप्त समय

लगेगा। असम्भव नहीं कि अध्यक्षों और प्रधानों को इस प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़े। ऐसी परिस्थितियों का सामना साहस और अधिकाधिक सहानुभूति से होना चाहिए। साहस का तात्पर्य यहाँ यही है कि अधिकारियों को इस प्रकार की गुत्थियों की छान-बीन अपने आप अत्यन्त गोपनीय विधि से स्वयं करनी चाहिए। ऐसे प्रसङ्गों की बाबुओं और कार्यालय को झलक भी न मिलनी चाहिए। वर्त्तमान काल में इस प्रकार की कार्यवाही कहने के लिए तो गोपनीय होती है परन्तु न जाने किस प्रकार इसका विधिवत् भण्डफोड़ हो जाता है और कभी कभी स्पष्ट रूप से खिल्लियाँ उड़ाई जाती हैं। निर्णय निश्चित तथा स्पष्ट होने चाहिए। यदि किसी की पदोन्नति रोकनी हो तो उसे स्पष्ट लिखकर दे दिया जाय कि अमुक समय तक उसकी पदोन्नति पर विचार न किया जायगा। ऐसा होने पर लोग दुविधा के शिकार न हो सकेंगे। यह निश्चय है कि दुविधा में पड़ा हुआ व्यक्ति काम-चोर, उदासीन और कालान्तर में अकर्मण्य तथा निकम्मा हो जाता है।

वर्त्तमान पदोन्नति-प्रणाली यह है कि समय-समय पर साक्षात्कार (इन्टरव्यू) होते हैं। इसी प्रकार के साक्षात्कारों में लोगों को धड़ल्ले से नीचे-ऊपर किया जाता है। कभी-कभी तो ऐसा आभास होता है कि निर्णय पहले से ही हुआ रहता है और उसे वैधानिक पुष्टि देने के लिए 'साक्षात्कार' का स्वाङ्ग रचा जाता है। इस प्रकार अनावश्यक रूप में तन, मन, और धन, का अपव्यय होता है। 'साक्षात्कार' वास्तव में कुछ देने के लिए नहीं प्रत्युत कुछ लेने के लिए होने चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि कुछ देना है अर्थात् पदोन्नति करनी है तो 'कार्यकालाधिक्य' (सीनियारिटी) के आधार पर क्रमानुसार लोगों को ऊपर उठाते रहना चाहिए। यदि किसी का कार्य सन्तोष-जनक प्रमाणित न हो सका हो और उसकी पदोन्नति रोकनी हो तो ऐसी दशा में उच्च अधिकारियों का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे साक्षात्कार द्वारा स्वयं भी जाँच कर लें कि शिक्षक अथवा अधिकारी विशेष की पदोन्नति रोक देना कहाँ तक उचित है। कार्यकालाधिक्य को सर्वाधिक महत्त्व देने में एक कठिनाई यह अवश्य उत्पन्न होगी कि असाधारण कर्मठ तथा 'परम दक्ष' लोगों की योग्यता, कुशलता और दक्षता को कार्यकाल-न्यूनता के कारण उचित प्रोत्साहन नहीं मिल पायेगा। ऐसे अधिकारियों के निमित्त प्रत्येक स्तर पर कुछ प्रतिशत स्थान सुरक्षित होने चाहिए।

किसी शिक्षक को परम दक्ष' घोषित करना सरल न होगा। प्रथम नियुक्ति से तीन वर्ष तक के कार्य के आधार पर किसी शिक्षक को अध्यक्ष

अथवा प्रधान के अनुरोध पर 'परम दक्षता' का अभ्यर्थी माना जा सकेगा। तीसा या बीसा या सती की भी सम्मति ली जायगी। इसके उपरान्त स्थान विशेष से उसका स्थानान्तर हो जायगा। यदि दूसरे अध्यक्ष अथवा प्रधान भी अनुकूल सम्मति देते हैं तो दो वर्ष के उपरान्त उसे किसी तीसरे विद्यालय में भेजा जायगा। प्रथम अथवा द्वितीय स्थानान्तर किसी यथाकथित बीहड़ स्थान के विद्यालय में होगी। यदि तृतीय अध्यक्ष या प्रधान भी वैसी ही सम्मति देते हैं तो शिक्षक विशेष को सात वर्ष तक अध्यापन करने के उपरान्त 'परम दक्ष' घोषित किया जायगा। ऐसे व्यक्तियों की पदोन्नति सुरक्षित पदों के प्रति असाधारण रूप में होती जायंगी। यथासम्भव जिले के शिक्षा-अधिकारी प्रायः इन्हीं लोगों में से नियुक्त होंगे। जनता विद्यालयों के सम्बन्ध में भी क्षेत्र के अन्तर्गत इसी सिद्धान्त पर कार्य किया जायगा। 'त्रुटि-शोधन' और 'दक्षता मापन' ये दोनों ही स्थानान्तर समान रूप में अत्यन्त गोपनीय विधि से सम्पादित होंगे। इन दोनों में अन्तर केवल यह है कि प्रथम में संस्था-निर्णय शिक्षक विशेष की रुचि के अनुकूल होगा परन्तु द्वितीय में उच्च शिक्षा-अधिकारी अपने आप करेंगे।

(४) अवकाश, आदि—अवकाश प्रणाली भी व्यक्ति-मूलक परम्परा को ही लक्ष्य करके निर्मित हुई है। इन नियमों को भी कालान्तर में सुधारना पड़ेगा। शिक्षा में 'अवकाश' आवश्यकतानुसार तथा वर्ष भर के अध्यापन की उपयोगिता के अनुसार मिलना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि इस सम्बन्ध में कोई अधिकार सुरक्षित नहीं होने चाहिए। शिक्षक अथवा अधिकारी विशेष को जब कोई परमावश्यक कार्य हो अथवा अभाग्यवश वे अस्वस्थ हों तो अध्यक्ष अथवा प्रधान जितना भी अवकाश उचित समझें, दिलायें। वर्त्तमान काल में अस्वस्थता प्रमाण-पत्र का दुरुपयोग सा हो रहा है। अन्य राजकीय विभागों में चाहे जो कुछ भी हो परन्तु शिक्षा-विभाग में जब तक अध्यक्ष अथवा प्रधान प्रार्थी की परिस्थितियों से सन्तुष्ट न हो जायँ तब तक अवकाश की सीमा, रूप-रेखा, आदि कदापि न निश्चित की जाय। यह सुझाव लोगों को खटक सकता है; वे कहेंगे कि शिक्षकों को अध्यक्षों और प्रधानों का मुखापेक्षी होना पड़ेगा। परन्तु वातावरण के कर्म-प्रधान हो जाने पर इस प्रकार की गुत्थियाँ उलझेंगी ही नहीं।

वार्षिक वेतन-वृद्धि भी अधिकार रूप में न रहे तो अच्छा हो। प्रति वर्ष अध्यक्ष अथवा प्रधान को प्रत्येक शिक्षक के सम्बन्ध में एक प्रमाण-पत्र देना पड़ेगा कि वेतन-वृद्धि उचित है। परन्तु जिस शिक्षक की वेतन-वृद्धि रोकवानी

हो उसे जनवरी तक बता देना चाहिए कि यदि वे अधिक सावधानी से अध्यापन न करेंगे तो वार्षिक वेतन-वृद्धि रोक दी जायगी। यह कार्य भी बड़े दायित्व का होगा। इस सम्बन्ध में अध्यक्षों और प्रधानों को अधिकाधिक उदारता से काम करना पड़ेगा। किसी शिक्षक के अध्यापन को असन्तोष-जनक इस लिए नहीं कहा जायगा कि उससे अधिक और सुन्दर कार्य करने वाले कई दक्ष अध्यापक उस संस्था में हैं, प्रत्युत इस लिए और तब कहा जायगा जब कि यह सन्देह होगा कि वे अपनी स्वाभाविक क्षमता के उपयोग से जी चुराते हैं। यह वेतन-वृद्धि-रोक राजकीय संस्थाओं में प्रशिक्षण महा-विद्यालय के अध्यक्ष की और जनता विद्यालयों में जिला शिक्षा-अधिकारी की स्वीकृति से हो सकेगा।

भावी शिक्षा-योजना में शिक्षकों का वेतन—शिक्षकों के वेतन पर भी कुछ विचार करना सम्भवतः अप्रासङ्गिक न होगा। वर्तमान समाज का दृष्टिकोण जब पूर्णतया आर्थिक तथा इह लोक को ही सुखी बनाना हो गया है और उधर शिक्षा को भक्ति-मूलक रूप देने के लिए शिक्षकों का सर्वोच्च तथा सम्मानित होना परमावश्यक है तो यह निश्चित करना अत्यन्त कठिन है कि उनका वेतन-क्रम क्या होना चाहिए। साथ ही यदि हम अपनी भारतीय संस्कृति का, जिनकी विशेषताओं के आधार परित्याग, परोपकार, वलिदान, आदि हैं, समुचित पुनरुद्धार करना चाहते हैं तो शिक्षकों को परित्याग आदि के लिए भी आगे ही रहना पड़ेगा। परन्तु यह न भूलना चाहिए कि वर्तमान काल में भारतीय शिक्षकों को, विशेषतया प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षकों को, सांस्कृतिक संघर्षों के फलस्वरूप इतना दवा दिया गया है कि त्याग और परोपकार के अभ्यास के लिए उनके पास कुछ हई नहीं। जहाँ तक वेतन अर्थात् नकद रुपयों का सम्बन्ध है शिक्षकों को लगभग निम्न रूप में मिलने चाहिए :—

(१) बाल या वालिका विद्यालयों के पालक या पालिका।	७५-३-१०५ द० रो० -४-१२५ रु०।	वर्तमान हाईस्कूल और प्रशिक्षित।
(२) प्रधान पालक या पालिका और गोपाल या कन्या विद्यालयों के पालक या पालिका।	१००-५-१३० द० रो० -७-२०० रु०।	इंटर सी० टी०। (गोपाल या कन्या विद्यालय के चालक या चालिका को २५ रु० और।)

(३) प्रधान पाठक या पाठिका और दसवीं कक्षा तक के किशोर या किशोरी विद्यालयों के अध्यापक या अध्यापिका।	१५०-१०-२५० द० रो० -१२½-३०० रु०।	एल० टी, बी० टी, आदि।
(४) प्राध्यापक या प्राध्यापिका।	२००-१५-३५० द०रो० -२०-४५० रु०।	प्रशिक्षित पोस्ट ग्रेजुएट (उत्तर माध्यमिक अर्थात् ११ वीं, १२ वीं कक्षाओं को पढ़ाने वाले)।
(५) दसवीं कक्षा तक के प्रधानाध्यापक तथा १२ वीं तक के जनता विद्यालयों के उपाध्यक्ष।	२५०-२५-३७५ द० रो० -२५-५०० रु०।	
(६) राजकीय किशोर विद्यालयों (१२ वीं तक) के उपाध्यक्ष तथा जनता विद्यालयों (१२ वीं तक) के अध्यक्ष तथा विश्वविद्यालयों और प्रशिक्षण संस्थाओं के उपाचार्य।	३००-३०-४५० द० रो० -३०-६०० रु०।	
(७) राजकीय किशोर विद्यालय (१२ वीं तक) के अध्यक्ष (जिला शिक्षा अधिकारी) तथा विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों और प्रशिक्षण केन्द्रों तथा प्रशिक्षण महाविद्यालयों के आचार्य तथा उपाध्यक्ष।	४००-३५-५७५ द० रो० -३५-७५० रु०।	यदि किसी जिले में एक से अधिक राजकीय किशोर विद्यालय (१२ वीं तक के) होंगे तो एक के अध्यक्ष का यह वेतन क्रम होगा जोकि जिला-शिक्षा-अधिकारी भी होंगे। अन्य का वही ३००-३०-६०० रु० रहेगा।

(८) प्रशिक्षण महाविद्यालयों तथा अन्य महाविद्यालयों के अध्यक्ष और उप-शिक्षा-सञ्चालक।	६००-४०-८००रु० ।
(९) केन्द्रीय शिक्षा-मंत्री (प्रधान-मंत्री), प्रान्तीय शिक्षा-मंत्री, केन्द्रीय शिक्षा-सचिव (मुख्य सचिव), प्रांतीय शिक्षा सचिव (मुख्य सचिव), विश्वविद्यालयों के कुलपति, केन्द्रीय शिक्षा-सञ्चालक, प्रान्तीय शिक्षा-सञ्चालक, आदि।	१००० रु० मासिक निश्चित वेतन ।

लेखक का दृढ़ विश्वास है कि भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार के निमित्त राष्ट्र के प्रधान मंत्री, प्रधान सचिव तथा मुख्य मंत्री, मुख्य सचिव, आदि कम वेतन स्वीकार करने में अपमान न मानेंगे। उन लोगों को हर प्रकार की उचित तथा आवश्यक सुविधाएँ अन्य रूपों में दी जायँगी। १००० रु० वाले जितने महान शिक्षा अधिकारी हैं उन लोगों को उच्च कोटि के निवास स्थान, कार, आदि की समुचित व्यवस्था रहेगी। बाल और बालिका विद्यालयों में प्रधान का पद वहीं रहेगा जहाँ कम से कम चार सहायक होंगे। यदि दो विद्यालय पास-पास होंगे और दोनों में मिलाकर चार से अधिक सहायक रहेंगे तो दोनों के लिए एक प्रधान पालक या पालिका की नियुक्ति हो जायगी। एक या दो पालकों वाले बाल विद्यालयों को, यदि मील-डेढ़ मील के अन्दर कोई अन्य सुव्यवस्थित बाल विद्यालय हो तो तोड़ देना चाहिए। केवल एक पालिका वाले बालिका-विद्यालय साधारणतः नहीं होने चाहिए। जहाँ पर परमावश्यक हो वहाँ की पालिका की अवस्था २५ वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए।

शिक्षकों को अन्य सुविधाएँ:—

(१) प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षकों के लिए—

(अ) सामाजिक— गाँव या मुहल्ले में जितने भी सार्वजनिक समारोह

जनता अथवा सरकार की ओर से होंगे, उनके सभापति प्रधान पाठक या पालक होंगे। यदि उत्सव महिलाओं तक ही सीमित रहेगा तो उसका सञ्चालन प्रधान पाठिका या पालिका करेंगी। इन सभाओं में चाहे राष्ट्रपति, प्रधान मंत्री, आदि भी क्यों न वैठे हों परन्तु उनका सञ्चालन इसी प्रकार होगा। गाँव-पञ्चायतों के वार्षिक समारोह का सभापतित्व प्रधान पाठक या पालक ही करेंगे चाहे उसमें बड़े से बड़े जिला अधिकारी क्यों न वैठे हों। चाहे जिस किसी विभाग का सार्वजनिक समारोह क्यों न हो परन्तु उसके सभापति ये ही लोग होंगे।

समाज में जहाँ कहीं भी प्रीति-भोज, आदि होंगे वहाँ पर शिक्षकों तथा शिक्षकाओं का सर्वाधिक आदर तथा शिष्टता के साथ स्वागत होगा। सर्वप्रथम शिक्षक लोग भोजन करेंगे। जाति-पाँति के भेद-भाव से इस प्रसङ्ग में कुछ समय तक कठिनाई हो सकती है। आरम्भ में प्रीति-भोज आदि के अवसर पर शिक्षकों को सामूहिक रूप से सम्मानित करने में संघर्ष हो सकता है। परन्तु स्मरण रहना चाहिए कि स्वार्थ-सिद्धि के निमित्त अत्यन्त कट्टर परिवारों में भी ईसाई और मुसलमान अधिकारियों को पर्याप्त सम्मान तथा आदर के साथ भोजन करते हुए देखा जाता है। फलतः धीरे-धीरे यहाँ भी परम्परा चल पड़ेगी और किसी को भी कोई आपत्ति न होगी।

प्रत्येक पाणि-ग्रहण के अवसर पर किसी पालक अथवा पाठक की उपस्थिति अनिवार्य होगी। मण्डप के समीप एक पूर्व-निर्मित आसन पर शिक्षक-विशेष उपस्थित होंगे और वर-वधू को सरस्वती का आशीर्वाद देंगे।

जब कोई 'शव' गाँव या मुहल्ले से निकले तो कोई न कोई पालक या पाठक लगभग दो सौ गज तक नंगे पैर साथ जायँगे और 'शव' को रोक कर अत्यन्त श्रद्धा और सम्मान से उस आत्मा की शान्ति के लिए एक मिनट तक ध्यान करेंगे और फिर लौट आयेंगे। संक्रामक रोगों से मरे हुए 'शवों' की बिदाई सावधानी से कुछ दूरी से होगी। ऐसे अवसरों पर वे शिक्षक जायँगे जो निर्भीक तथा दृढ़ विचार के होंगे परन्तु जायँगे अवश्य।

(ब) <u>राजनीतिक तथा वैधानिक</u>—अदालत पञ्चायतों के प्रत्येक निर्णय पर वहाँ के प्रधान पालक या पाठक का हस्ताक्षर आवश्यक होगा। उनके हस्ताक्षर के उपरान्त ही निर्णय वैध माना जायगा और सुनाया जा सकेगा। यदि किसी निर्णय से प्रधान पालक सहमत न होंगे तो वे पञ्चों को बुलाकर अपना दृष्टिकोण समझायेंगे। यदि पञ्च लोग फिर भी अपने निर्णय पर तुले

रहें तो उस निर्णय को अपनी सम्मति के सहित अधिक से अधिक तीन दिन के भीतर जिला के उस अधिकारी के पास, प्रधान पालक जी भेज देंगे, जिनके यहाँ कि पञ्चायतों के निर्णयों की निगरानी की जाती है। वहाँ से लौटने पर वह निर्णय सुनाया जायगा और उसकी निगरानी केवल हाई-कोर्ट में हो सकेगी।

किसी भी परिस्थिति में शिक्षकों को हथकड़ी न डाली जायगी और जिला-शिक्षा-अधिकारी की आज्ञा के बिना उनके निवास स्थान की तलाशी भी न ली जा सकेगी। पुलीस तथा अन्य किसी विभाग के छोटे-बड़े अधिकारी गाँवों में जब किसी जाँच-परताल के लिए जायँगे तो सब कुछ कर चुकने के उपरान्त प्रधान पालक अथवा पाठक के पास सावधानी से जायँगे और प्रसङ्ग-विशेष के सम्बन्ध में उनकी सम्मति लेंगे। प्रधान शिक्षक को प्रत्येक प्रसङ्ग के सम्बन्ध में अपनी लिखित सम्मति देनी पड़ेगी चाहे वे किसी प्रसङ्ग के सम्बन्ध में यही लिख दें—'मैं कुछ भी नहीं जानता'। विभिन्न अधिकारियों को इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि विद्यालय में वे ऐसे समय से जायँ कि पढ़ाई में कोई बाधा न पहुँचे। पालक या पाठक महोदय पहले से ही विवरण (विदित प्रसङ्गों के) तैयार रखेंगे और जाते ही दे देंगे। शिक्षकों को अपने इस दायित्व की पूर्त्ति सावधानी, सच्चाई, पवित्रता और तत्परता से करनी पड़ेगी।

(स) आर्थिक—खेतों की सरकारी लगान और मकानों के (नगर पालिका के) कर के अतिरिक्त इन शिक्षकों को अन्य कोई कर न देना पड़ेगा। शिक्षकों को अधिकार होगा कि वे अपने खेत शिकमी या बँटाई पर दें। परन्तु अच्छा यही माना जायगा कि श्रमिकों की सहायता से वे खेती करायें और छुट्टियों में जाकर स्वयं भी देख-रेख करें।

विशेष कठिनाइयों के उपस्थित होने पर (कन्या का व्याह, विकट बीमारी, दुर्घटनाएँ, आदि) अध्यक्ष या प्रधान की संस्तुति के अनुसार उनकी आर्थिक सहायता की जाय। आवश्यकता पड़ने पर एक वर्ष तक का अग्रिम वेतन बहुत कम व्याज अथवा बिना व्याज का ऋण रूप में दिया जाय और पाँच वर्षों में धीरे-धीरे उनके वेतन से काटा जाय। यदि ऋण चुकाने के पूर्व ही उस शिक्षक की अभाग्य-वश मृत्यु हो जाय तो उसके बाल-बच्चों के साथ शेष रुपये के सम्बन्ध में सहानुभूति के साथ व्यवहार किया जाय और यदि आवश्यक हो तो शेष ऋण क्षमा कर दिया जाय। कहने का तात्पर्य यह है कि दृष्टिकोण अधिकाधिक उदार होना चाहिए।

इन शिक्षकों के बच्चों की शिक्षा पूर्व-माध्यमिक (हाई स्कूल) तक निःशुल्क होनी चाहिए। इसके उपरान्त जो पढ़ने में अच्छे हों उनकी उत्तरमाध्यमिक (इंटरमीडियट) तक और जो बहुत अच्छे हों उनकी विश्वविद्यालय अथवा विदेशों तक निःशुल्क होनी चाहिए। ऊँची कक्षाओं में निःशुल्क का तात्पर्य केवल शुल्क से मुक्त कर देना न होगा प्रत्युत अन्य प्रकार के उचित व्ययों की भी व्यवस्था करनी होगी। उन्हें ऐसी छात्र-वृत्ति देनी पड़ेगी कि वे निश्चिन्त पढ़ सकें।

(२) माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षकों के लिए—

(अ) सामाजिक—नगरों तथा उपनगरों में जितने भी महत्वपूर्ण समारोह जनता या सरकार की ओर से होंगे उनका सभापतित्व, चाहे वहाँ पर बड़े से बड़े अधिकारी, प्रधान मंत्री, राष्ट्रपति उच्च न्यायाधीश, आदि क्यों न बैठे हों, जिले के शिक्षा अधिकारी अर्थात् राजकीय किशोर विद्यालय के अध्यक्ष करेंगे। दलीय तथा प्रचार सम्बन्धी समारोहों से शिक्षकों का कोई सम्बन्ध न रहेगा। इस परम्परा में शिक्षा सञ्चालक, कुलपति, आदि किसी की भी उपस्थिति से व्यतिक्रम न हो सकेगा। १५ अगस्त तथा २६ जनवरी की भी सार्वजनिक सभाओं का सभापतित्व इसी प्रकार होगा। उच्चकोटि के व्यक्तियों के स्वर्गारोहण की संवेदना-सूचक सभाओं के सभापति भी वेही होंगे।

जिले में जब कलक्टर, डिप्टी कलक्टर, पुलीस-सुपरिन्टेन्डेण्ट, जज, इंजीनियर, डाक्टर, आदि अन्य विभागों के अधिकारी नियुक्त होकर आयेंगे तो कार्य-भार ग्रहण करने के पूर्व जिला-शिक्षा अधिकारी का दर्शन अवश्य कर लेंगे।

विभिन्न प्रीति-भोजों में इन शिक्षकों का भी समुचित सम्मान होगा। जो बातें प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षकों के सम्बन्ध में कही गई हैं वे सब इनके सम्बन्ध में भी उचित स्तर के प्रीति-भोजों में चरितार्थ होंगी। इस स्तर पर जाति-पाँति सम्बन्धी गुत्थियाँ सम्भवतः नहीं के बराबर होंगी।

(ब) राजनीतिक तथा वैधानिक—पञ्चायती अदालतों के निर्णयों के प्रति जो निगरानी होती है उसमें निर्णय देना। ग्रामीण वातावरण से विधिवत् अवगत, दो अध्यापक किसी मामिले की छान-बीन करके निर्णय देंगे। यह कार्य गोपनीय होगा। वादी, प्रतिवादी तथा पञ्चायतों को इन अध्यापकों के सम्बन्ध में कुछ भी विदित नहीं रहेगा। अध्यापक यदि आवश्यक समझेंगे तो छिपकर उस गाँव विशेष में हो भी आयेंगे। न्यायालयों के द्वारा ग्राम पञ्चायतों को निर्णय पहुँच जायगा।

प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षकों के लिए जो-जो सुविधाएँ माँगी गई हैं वे सभी इन्हें भी मिलेंगी। माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षकों को किसी अभियोग के सम्बन्ध में यदि कोई गवाही करनी पड़ेगी तो साधारणतः वे स्पष्ट और संक्षेप में लिखकर भेज देंगे। यदि न्यायालय में उन्हें जाना ही पड़ेगा तो उनकी जिरह न होगी।

व्यवस्थापिका सभा में जब कोई विधेयक चल रहा हो और किसी शिक्षक को उसके सम्बन्ध में अपने विचार देने हों तो उन्हें अधिकार होगा कि वे अपने जिले के शिक्षा-अधिकारी की स्वीकृति से जाकर अधिक से अधिक दस मिनट में अपने विचारों को सूत्र रूप में कह दें।

शिक्षा सम्बन्धी विधेयकों को व्यवस्थापिका सभाओं में रखने से पूर्व जिला शिक्षा-अधिकारियों की सम्मति उनके सम्बन्ध में ले ली जाय। जिस विधेयक *को अथवा उसके किसी अंश को यदि अस्सी प्रतिशत जिला-शिक्षा अधिकारी* अस्वीकृत कर दें उसे शिक्षा पर नहीं लादा जायगा।

(स) आर्थिक—ये शिक्षक गाँवों के स्थायी निवासी हों अथवा नगरों के और कहीं भी अध्यापन में लगे हों परन्तु भूमि-कर तथा मकान-कर के अतिरिक्त उन्हें और कोई कर न देना पड़ेगा। प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षकों को जो कृषि सम्बन्धी सुविधाएँ प्रस्तावित हैं वे इन्हें भी रहेंगी।

इनके बच्चों की शिक्षा उत्तर माध्यमिक कक्षाओं से और कठिन परिस्थितियों में पूर्व माध्यमिक से ही निःशुल्क हो जायगी। होनहार बच्चों को विदेश तक शिक्षित करने में आवश्यक सुविधाएँ दी जायँगी। परन्तु इनके बच्चों की ऊँची शिक्षा का दायित्व सरकार पर पूर्ण रूप से नहीं रहेगा। विभिन्न शिक्षकों की परिस्थिति का सिंहावलोकन करके सरकार उनके बच्चों की ऊँची शिक्षा में यथोचित सहायता करती रहेगी। कठिनाई उपस्थित होने पर सहायता तथा ऋण की व्यवस्था इन लोगों के लिए भी लगभग उन्हीं सिद्धांतों पर की जायगी जो प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षकों के लिए निर्धारित हैं।

सभी शिक्षकों के लिए विद्यालयों के ही मैदान में अथवा उसके चारों ओर मकानों की व्यवस्था की जायगी। उनके क्वार्टर विशेष प्रकार के बने होंगे। उनमें किसी साधारण परिवार का उचित रूप से निर्वाह हो सके और शिक्षक विशेष के लिए दो कमरे हों—एक अध्ययन-कक्ष तथा दूसरा बैठक।

जिस माध्यमिक विद्यालय में पाँच सौ के आस-पास छात्र रहेंगे उनमें

एक कार, दो स्टेशन वैगन तथा चार बसें रहेंगी। ये किराये पर भी चल सकती हैं और संस्था के काम में भी आयेंगी।

पैसा लेकर प्राइवेट-ट्यूशन की परम्परा कदापि न रहेगी परन्तु प्रत्येक शिक्षक प्रतिदिन कम से कम एक घण्टा विद्या-दान सहर्ष और श्रद्धापूर्वक करेंगे। हाँ, नवीन पुस्तकों की रचना के लिए जो-जो सुविधाएँ जनता विद्यालयों के शिक्षकों के लिए इस समय हैं वेही राजकीय विद्यालयों के शिक्षकों को भी उपलब्ध होंगी। वेतन के अतिरिक्त शिक्षकों को जो कुछ आय होगी उसका दस प्रतिशत 'शिक्षक कोष' और दस प्रतिशत 'विद्यार्थी' कोष में दान करना पड़ेगा। इन्हीं कोषों से शिक्षकों के लिए कठिनाई पड़ने पर सहायता, ऋण, आदि की व्यवस्था और छात्रों के अध्ययन की व्यवस्था की जायगी। इन कोषों का प्रबन्ध उप शिक्षा सञ्चालकों द्वारा होगा। इन कोषों में जो कमी होगी उसे सरकार पूरी करेगी।

(३) आचार्यों-उपाचार्यों, आदि के लिए—

(अ) सामाजिक—नगरों, उपनगरों, गाँवों, आदि में जितने भी सार्वजनिक उत्सव होंगे, उनमें शिक्षकों का स्थान सबसे आगे होगा। शिक्षकों के सुरक्षित भाग में आगे आचार्य, उपाचार्य, आदि, उनके पीछे माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षक और उनके पीछे प्राथमिक विद्यालयों के पाठक, पालक, आदि बैठेंगे। परन्तु इन उत्सवों का सभापतित्व अपने अपने क्षेत्र में तथा स्तर पर जिला-शिक्षा-अधिकारी अथवा प्राथमिक विद्यालयों के प्रधान ही करेंगे। यह निर्णय कई सिद्धान्तों के सामञ्जस्य के विचार से निर्धारित किया गया है। इससे विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों, प्रशिक्षण संस्थाओं आदि के अध्यक्षों आचार्यों, आदि को तनिक भी क्षुब्ध नहीं होना चाहिए। इन लोगों के छात्र चतुर तथा वयस्क होते हैं, वे उनका आदर पाण्डित्य के ही बल पर करेंगे। माध्यमिक और प्रथमिक के छात्र किशोर तथा अबोध होते हैं; अपने अध्यक्षों और प्रधानों को इतना सम्मानित होते देख कर फूले नहीं समायेंगे।

प्रीतिभोज, संवेदना-प्रदर्शन, आदि के अवसर पर ये लोग भी वैसा ही व्यवहार करेंगे जैसा कि माध्यमिक और प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षकों के लिए निर्धारित किया गया है।

(ब) राजनीतिक तथा वैधानिक—प्राथमिक तथा माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षकों के लिए जो जो सुविधाएँ प्रस्तावित हैं उनमें से वे सब इनको भी मिलेंगी जो इन्हें सम्भव तथा आवश्यक होंगी।

माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षकों को जो सुविधाएँ व्यवस्थापिका सभा के सम्बन्ध में दी गई हैं वे इन्हें इसके अतिरिक्त लोक-सभा में भी उपलब्ध होंगी उच्च शिक्षा के आचार्य, उपाचार्य, आदि प्रान्तीय प्रशिक्षण केन्द्र के अध्यक्ष की अनुमति से व्यवस्थापिका तथा लोक-सभा के किसी भी विधेयक के सम्बन्ध में दस मिनट तक अपने विचार प्रकट कर सकेंगे।

चुनाव सम्बन्धी झगड़ों को निपटाने के लिए जो त्रिमूर्ति (ट्रिब्यूनल) बनाई जाती है उसके संयोजक येही शिक्षक होंगे।

अब तक सम्भवतः परम्परा यह है कि यदि किसी व्यक्ति को सर्वोच्च न्यायालय से वैधानिक विवशता के कारण प्राण-दण्ड मिला रहता है तो विशेष परिस्थितियों में राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल के नाम से प्राण-दण्ड आजन्म कारावास अथवा अन्य रूप में परिवर्तित हो जाता है। अब इस परम्परा का सम्पादन राष्ट्रीय अथवा प्रान्तीय प्रशिक्षण केन्द्र के अध्यक्ष के नाम में होगा।

न्यायाधीशों, प्रधान मंत्रियों, राज्यपालों पथा राष्ट्रपति के कार्यभार-ग्रहण सम्बन्धी शपथ-परम्परा का सम्पादन तथा लोकसभा और व्यवस्थापिका सभाओं के प्रतिवर्ष के प्रथम अधिवेशन का श्रीगणेश इन्हीं आचार्यों द्वारा होंगे।

(स) आर्थिक—इनके बच्चों की शिक्षा यदि विदेशों में होगी तो उसकी व्यवस्था में सरकार समुचित आर्थिक सहायता करेगी। यदि किसी शिक्षक की आर्थिक परिस्थिति ठीक न हो तो देश में भी उनके बच्चों की उच्च शिक्षा में समुचित सहायता देना ठीक ही होगा।

आवश्यकता पड़ने पर ऋण आदि की व्यवस्था इनके लिए भी की जायगी।

सभी आचार्यों और उपाचार्यों के लिए निवास-स्थान की व्यवस्था संस्था के ही आस-पास की जायगी।

विश्वविद्यालय के प्रत्येक विभाग में एक कार, एक स्टेशन वैगन तथा दो बसें रहेंगी। महाविद्यालयों और प्रशिक्षण केन्द्रों तथा महा घिवालयों में भी यही क्रम रहेगा। ये गाड़ियाँ किराये पर भी चलेंगी और संस्था के काम में भी आयेंगी।

उच्च शिक्षा के शिक्षकों को वर्ष में एक वार सपरिवार और एक वार सहकर्मियों के साथ देश में भ्रमण करने का उचित व्यय मिलेगा। इस यात्रा में पन्द्रह दिन से अधिक समय न व्यतीत किया जायगा।

इन्हें भी प्रति दिन एक घण्टा श्रद्धा पूर्वक विद्या-दान करना पड़ेगा। मकान और भूमि-करों के अतिरिक्त इन्हें भी कोई कर न देना पड़ेगा। वेतन के अतिरिक्त अन्य किसी भी आय का दस प्रतिशत 'शिक्षक-कोष' में और दस प्रतिशत 'विद्यार्थी-कोष' में दान करना पड़ेगा। पुस्तक लिखने की सभी सुविधाएँ इन्हें भी रहेंगी।

कुछ विविध-नियम—

(१) शिक्षा-विभाग के प्रत्येक अधिकारी, शिक्षक, आदि की 'स्थायी अवकाश प्राप्ति' (रिटायरमेन्ट) की तिथि ३० जून होगी। यदि किसी के ५५ या ५८ वर्ष (वर्त्तमान नियमों के आधार पर) ३१ दिसम्बर या उससे पहले पूरे हो रहे हैं तो उसे उससे पहली वाली ३० जून को 'स्थायी अवकाश' मिल जायगा। साथ ही १ जुलाई से वास्तविक तिथि तक का पूरा वेतन भी मिलेगा। जिस किसी के ५५ या ५८ वर्ष १ जनवरी और ३० जून के बीच में पूरे होंगे वह ३० जून को स्थायी अवकाश पायेगा। इस प्रकार सभी स्थान १ जुलाई से रिक्त होंगे और तभी उनके सम्बन्ध में पदोन्नतियाँ, नियुक्तियाँ, आदि होंगी। वर्ष के बीच में शिक्षकों के आने-जाने से शिक्षण में बाधाएँ उपस्थित न होंगी।

अब केवल स्वास्थ्य, अनुशासन, मृत्यु आदि से सम्बन्धित गुत्थियाँ वर्ष के बीच में उलझ सकती हैं। स्वास्थ्य और अनुशासन सम्बन्धी स्थान की पूर्ति यथासम्भव स्थानीय अस्थायी नियुक्तियों से की जा सकती है। अभाग्यवश यदि किसी की मृत्यु हो जाय तो उसके कार्य को यथा सम्भव सब लोग मिलकर बाँट लें और उसके ३० जून या ३१ दिसम्बर तक का पूरा वेतन उसके परिवार वालों को दे दिया जाय। भावी योजना में अनुशासन सम्बन्धी गुत्थियों की न्यूनतम सम्भावना है। इस प्रकार सभी प्रबन्ध ग्रीष्मावकाश में सुविधा पूर्वक व्यवस्थित करके १ जुलाई से कार्यान्वित किये जायँगे।

(२) उच्च-कोटि का शिक्षण होने पर चालीस वर्ष की अवस्था तक जनता विद्यालयों के शिक्षक राजकीय में और लगातार असन्तोषजनक शिक्षण होने पर और दो स्थानान्तर कर चुकने पर राजकीय विद्यालयों के शिक्षक जनता में भी भेजे जा सकेंगे।

(३) राजकीय विद्यालयों और जनता विद्यालयों में केवल दो अन्तर रहेंगे—(अ) राजकीय विद्यालयों के शिक्षकों को पेंशन भी मिलेगी। (ब) राजकीय विद्यालयों के शिक्षकों की नियुक्तियाँ और उनके स्थानान्तर प्रान्त

में कहीं भी हो सकते हैं परन्तु जनता विद्यालयों के शिक्षकों की नियुक्तियाँ और उनके स्थानान्तर क्षेत्र के भीतर कहीं भी हो सकेंगे।

(४) प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा की आर्थिक व्यवस्था का दायित्व पूर्ण रूप से सरकार पर रहेगा। क्षेत्रीय उपशिक्षा-सञ्चालकों को मुख्यतः इन्हीं दायित्वों को पूरा करना है।

(५) छात्रों के संस्थान्तर केवल अभिभावकों की ही इच्छा पर न हो सकेंगे। प्रधान अथवा अध्यक्ष की अनुमति के बिना किसी छात्र का संस्थान्तर न हो पायेगा। अभिभावक के स्थानान्तरित हो जाने पर छात्रों का संस्थान्तर स्वतः हो जायगा—अन्यथा नहीं। संस्था विशेष की अन्तिम कक्षा पास कर लेने पर अथवा अभिभावक के स्थानान्तरित होने पर अथवा अन्य किसी कारण से जब किसी छात्र का संस्थान्तर होगा तो इसका तात्पर्य यह कदापि न होगा कि उस छात्र का पूर्व-संस्था से अब कोई सम्बन्ध नहीं रह गया। पूर्व संस्था अथवा संस्थाओं को पूर्ण अधिकार होगा कि छात्र विशेष की 'कर्म-कुण्डली' में, उसके उन सत्कर्मों या कुकर्मों को, जिनकी यदि पूर्ण जानकारी समय-समय पर उन्हें होती रहेगी और जिन्हें टँकवाना वे न्याय-सङ्गत समझती हैं, वर्त्तमान संस्था द्वारा टँकवा सकेंगी।

विद्यालयों या महाविद्यालयों या विश्वविद्यालयों से शिक्षा समाप्त करके जब छात्र किसी कार्य के लिए आवेदन पत्र देंगे तो चाल-चलन की प्रमाणिता केवल अन्तिम संस्था ही द्वारा नहीं प्रत्युत उन सभी संस्थाओं द्वारा देनी होगी जिनमें कि छात्र विशेष बचपन से पढ़े होंगे।

(६) भारतवर्ष की भावी शिक्षा में सभी शिक्षक (चाहे किसी भी संस्था तथा स्तर के हों) सभी छात्रों के (चाहे किसी भी संस्था या स्तर के हों) गुरु होंगे। इस दृष्टिकोण से समस्त शिक्षकवर्ग केवल दो श्रेणियों में विभक्त होंगे। माध्यमिक स्तर तक के शिक्षक 'गुरु' और इससे ऊपर के 'आचार्य' कहलायें। 'गुरुओं' और 'आचार्यों' के लिए विशेष प्रकार की वेश-भूषा निर्धारित रहेगी और उन्हीं को धारण करके वे अध्यापन करेंगे तथा सार्व-जनिक स्थानों में जायँगे। इस प्रकार सभी लोग उन्हें सुविधा पूर्वक पहचान सकेंगे। खेल-कूद तथा शारीरिक श्रम (छात्रों के साथ) करते समय पहनावा भिन्न एवं साधारण रहेगा।

(७) जिले के भीतर किसी भी 'सिनेमा' का प्रदर्शन जिला शिक्षा-अधिकारी की स्वीकृति के बिना न हो सकेगा। नगरों अथवा स्थान विशेष

में कुछ 'चित्रपट' ऐसे होंगे जिनके प्रदर्शन केवल प्रौढ़ों के निमित्त होंगे और उनमें बीस वर्ष से कम अवस्था के लोग न जा पायेंगे, चाहे वे छात्र हों या न हों। परन्तु इन खेलों का दृष्टिकोण भी भारतीय रहेगा। बड़े-बड़े नगरों में अन्य देशों के नागरिक भी हो सकते हैं। उनके निमित्त अभारतीय प्रवृत्तियों के कुछ खेलों का प्रदर्शन हो सकता है। परन्तु यह सब कुछ जिला शिक्षा-अधिकारी की ही पूर्व-प्राप्त स्वीकृति से हो सकेगा।

(८) शिक्षा संस्थाओं के आस-पास पान, बीड़ी, सिगरेट, ताड़ी, शराब, गाँजा, भाँग, आदि की दुकानें कदापि न होंगी। माध्यमिक संस्थाओं के सम्बन्ध में हमें विशेष सावधान रहना है। शिक्षा संस्थाओं में, उनके मैदानों में, तथा उनसे सम्बन्धित किसी भी इमारतों में किसी प्रकार के भी मादक पदार्थों का सेवन न हो सकेगा। इस नियम का पालन अधिकाधिक कड़ाई से होगा। प्रधानाध्यापक और अध्यक्ष इस नियम का उल्लंघन किसी दशा में भी न करेंगे। जिन शिक्षकों की अवस्था चालीस वर्ष से अधिक हो और पान, बीड़ी या सिगरेट के बिना ५-६ घण्टे रहने में वे असमर्थ हों तो शिक्षक-कक्ष के आस-पास या कहीं और वे ऐसे गुप्त रूप से सेवन करके हाथ-मुँह साफ कर लें कि सिवा परमात्मा के और कोई न जान पाये। परन्तु सर्वोत्तम यही है कि पाँच-छः घण्टे तक इन पदार्थों को न छूने का ही अभ्यास हो जाय।

(९) विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों की कार्य-कारिणी के निर्णय तब तक अन्तिम रहेंगे जब तक कि कुलपति महोदय को कोई आपत्ति न हो। छात्रों से सम्बन्धित प्रसङ्गों पर अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग वे स्वयं कर सकेंगे परन्तु शिक्षकों से सम्बन्धित प्रसङ्गों पर तब कर सकेंगे जब या तो (अ) प्रान्तीय प्रशिक्षण केन्द्र के अध्यक्ष उनसे सहमत हों अथवा (ब) प्रांत के मुख्य न्यायाधीश सहमत हों। कोई प्रसङ्ग छात्रों से सम्बन्धित है या शिक्षकों से—इसका निर्णय सभा की बैठक के पूर्व ही विभिन्न नियमों और उपनियमों के आधार पर निर्धारित रहेगा।

भावी शिक्षा-योजना में प्रान्तीय प्रशिक्षण केन्द्र के अध्यक्ष प्रत्येक विश्वविद्यालय की कार्य-कारिणी के सदस्य होंगे। कार्य अधिक होने पर क्षेत्रीय प्रशिक्षण महाविद्यालयों के अध्यक्षों अथवा उपशिक्षा-सञ्चालकों को भी अपने स्थान पर भेज सकेंगे।

(१०) प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षक (नगरों में परिस्थिति भिन्न हैं) अपने स्थायी निवास स्थान से पाँच मील की ही दूरी पर नियुक्त हो सकेंगे। इसका

उद्देश्य यही है कि यथासम्भव लोग प्रति दिन घर न आयें-जायें। रविवार तथा अन्य छुट्टियों में भी कम से कम एक शिक्षक विद्यालय में अवश्य रहें।

(११) भावी शिक्षा-योजना के अनुसार शिक्षकों को संस्थाओं में ही अथवा उनके अत्यन्त निकट निवास-स्थान मिलेंगे। अध्यापन के समय अर्थात् दस बजे से चार बजे तक वे अपने निवास-स्थान पर कदापि नहीं जायेंगे। यदि बहुत आवश्यक हो तो अध्यक्ष अथवा प्रधान की आज्ञा से रिक्त घण्टों में कुछ समय के लिए जा सकेंगे। इस दृष्टि से विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों के आचार्यों, उपाचार्यों, आदि को विशेष रूप से सँभलना है। वहाँ अंगरेजों की चलाई हुई परम्परा है कि अपने पढ़ाने वाले घण्टे से कुछ पूर्व लोग आते हैं और पढ़ाने के कुछ ही उपरान्त चले भी जाते हैं।

निर्धारित समय अर्थात् दस बजे दिन से ठीक पन्द्रह मिनट पूर्व कुलपति, अध्यक्ष, प्रधान, आदि आ जायँ और दस मिनट पूर्व आचार्य, उपाचार्य, प्राध्यापक, अध्यापक, पाठक, पालक, आदि उपस्थित हो जायँ। लोगों को अध्यापन चाहे एक ही-दो घण्टे करने हों अथवा किसी दिन बिलकुल न करने हों परन्तु लोग आयेंगे और जायेंगे ठीक समय से।

ब्रिटेन, अमेरिका, आदि में चाहे जो कुछ होता हो परन्तु भारतवर्ष के लिए यही ठीक है। विदेशी लोग तो इह लोक में ही अपने को सुखी तथा सम्पन्न देखना चाहते हैं अस्तु एक-दो घण्टे ही काम करके चले जाने में अपने को औरों से स्वतंत्र तथा बड़ा दिखाने का प्रयत्न करते होंगे। उनकी संस्कृति व्यक्तित्व-प्रधान है। अस्तु अपने व्यक्तित्व को प्रत्येक प्रसङ्ग में कर्म के ऊपर उठाते रहते हैं। परन्तु हमारी संस्कृति कर्म-प्रधान है; हमारा कल्याण लगातार कर्म में लगे रहने ही में है।

(१२) जिन छात्रालयों में शिक्षकों के लड़के-लड़कियाँ रहें, उसका वातावरण बहुत ही सादा, ऊँचा तथा पवित्र होना चाहिए।

(१३) उन राजकीय किशोर या किशोरी विद्यालयों की समस्या पर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है जो यथा कथित बीहड़ स्थानों में—सीमाओं और पहाड़ों पर स्थित हैं। दो-दो वर्ष के लिए 'परम दक्षता' के अभ्यर्थी भी इनमें नियुक्त हो सकते हैं परन्तु इससे उन संस्थाओं की समस्याएँ स्थायी रूप से सिद्धान्तः हल न हो पायेंगी। उन संस्थाओं में यथासम्भव स्थानीय शिक्षक नियुक्त हों। वहाँ के सभी कर्मचारियों को वेतन का बीस प्रतिशत और दिया जाय। तीन वर्ष तक सन्तोष-जनक कार्य कर चुकने पर उनका वांछित संस्थाओं में स्थानान्तर अवश्य कर दिया जाय।

भावी शिक्षा में अध्यापन और विद्यालय-शासन के सभी दायित्व अध्यक्षों अथवा प्रधानों में केन्द्रित किये गये हैं। इनकी नियुक्ति के सम्बन्ध में भी पर्याप्त सावधान रहने का अनुरोध किया गया है। फलतः यह जानते हुए कि अध्यक्षों या प्रधानों के ही हाथ में सब कुछ है, बहुत कम ऐसे शिक्षक होंगे जो फिर भी कार्य में मन न लगायें। वर्तमान दुर्व्यवस्था का मुख्य कारण यही है कि अध्यक्षों या प्रधानों के सन्तुष्ट न रहने पर भी लोग किसी न किसी प्रकार अपनी रक्षा कर ही लेते हैं। परन्तु भावी शिक्षा-योजना में इस दुर्बलता के शिकार होने की सम्भावना ही नहीं है।

[निष्कर्ष]

सिंहावलोकन—प्राचीन भारतीय विशेषताओं और विज्ञान, जनतंत्र, आदि, वर्तमान प्रवृत्तियों में सामञ्जस्य-स्थापन परमावश्यक; सिविल और सेना के अधिकारी शिक्षा को सर्वोच्च स्थान देने में चौंक सकते हैं।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से प्रतिभा सम्पन्न लोगों का सरकारी नौकरियों में चले जाना; देशके वैधानिक जीवन के लिए घातक; अन्य देशों में भी उच्च कोटि के विद्वान प्रायः सरकारी नौकरियों में नहीं; शिक्षा को सर्वोच्च करते समय इन लोगों का क्षुब्ध होना स्वाभाविक; परन्तु देश और राष्ट्र के कल्याण के निमित्त यह परिवर्तन आवश्यक।

निरीक्षण, ज्ञान-मूलक शिक्षा के लिए उपयोगी परन्तु भक्ति-मूलक शिक्षा के लिए घातक; निरीक्षण का अस्तित्व वाह्य—फलतः भक्ति-मूलक शिक्षा में इससे ध्यान-भंग; कितनाहूँ सुधारने पर भी निरीक्षण का भक्ति-मूलक शिक्षा में खपना असम्भव; शिक्षक और शिक्षार्थी के भेद-भाव में उत्तरोत्तर वृद्धि; निरीक्षण का उपयोगी अंश अर्थात् आदर्श-पाठों की व्यवस्था ग्राह्य, निरीक्षण के स्थान पर प्रशिक्षण; देश में प्रशिक्षण संस्थाओं को अधिकाधिक संख्या में स्थापित करना।

वर्तमान संस्थाओं तथा पदों का हिन्दी में नवीन नामकरण; सती, वीसा और तीसा; इन समितियों का निर्माण और इनका क्षेत्र; विद्यालयों की शासन व्यवस्था से इनकी तटस्थता; इनके निर्णय केवल परामर्शात्मक।

शासन-व्यवस्था—प्रत्येक जिले में राजकीय किशोर विद्यालय और उसके अध्यक्ष; जनता किशोर अथवा किशोरी विद्यालय; (क) जिला

प्राथमिक शिक्षा परिषद्; इसका निर्माण और इसके दायित्व (ख) जिला माध्यमिक शिक्षा-परिषद्; इसका निर्माण और इसके दायित्व; (ग) क्षेत्रीय शिक्षा परिषद्; इसका निर्माण और इसके दायित्व; (च) प्रान्तीय शिक्षा परिषद्: इसका निर्माण और इसके दायित्व; (छ) राष्ट्रीय शिक्षा परिषद्; इसका निर्माण और इसके दायित्व ।

अधिकारियों की रूप-रेखा—केन्द्र तथा प्रान्तों के प्रधान मंत्री तथा मुख्य मंत्री गण अपने-अपने क्षेत्र में शिक्षा मंत्री; मुख्य सचिव ही शिक्षा सचिव भी; राष्ट्रीय शिक्षा संचालक तथा उप शिक्षा-संचालकों के नवीन पदों का निर्माण ।

प्रशिक्षण संस्थाएँ—(१) राष्ट्रीय प्रशिक्षण केन्द्र; उपयुक्त स्थान सारनाथ; शिक्षा सम्बन्धी अन्वेषण एवं अनुसन्धान तथा उच्च शिक्षा के लिए शिक्षक प्रशिक्षित करना । (२) प्रान्तीय प्रशिक्षण केन्द्र; प्रत्येक प्रान्त में; उत्तर प्रदेश में प्रयाग (इलाहाबाद); शिक्षा सम्बन्धी अनुसन्धान; उत्तर माध्यमिक शिक्षा के लिए प्राध्यापक प्रशिक्षित करना और उसकी परीक्षा, आदि की व्यवस्था करना । (३) क्षेत्रीय प्रशिक्षण महाविद्यालय; अनुसन्धानों में प्रान्तीय प्रशिक्षण केन्द्रों का यथा सम्भव हाथ बँटाना; वर्तमान एल० टी० और सी० टी० दोनों के निमित्त प्रशिक्षण की व्यवस्था करना; पूर्व माध्यमिक परीक्षा की व्यवस्था; क्षेत्र की प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा की पूर्ण व्यवस्था करना । (४) प्रशिक्षण विद्यालय—प्रत्येक जिले में एक केवल पुरुषों के लिए; महिलाओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था राजकीय किशोरी विद्यालयों में; पालकों का प्रशिक्षण तथा प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था का पूरा दायित्व ।

प्रशिक्षण संस्थाओं का तारतम्य—अध्यक्षों, प्रधानों, आचार्यों, उपाचार्यों, अध्यापकों, प्राध्यापकों, आदि, सभी द्वारा अपने-अपने क्षेत्र में सक्रिय अध्यापन, पोषण, भ्रमण एवं आदर्श पाठ नियमित रूप से; पूर्व निर्धारित कार्य-क्रम के अनुसार सभी कार्य; विशेष परिस्थितियों में हेर-फेर सम्भव परन्तु कार्य की मात्रा एवं रूप-रेखा संक्षिप्त कदापि नहीं हो सकती; साथ ही, हेर-फेर की पूर्व तथा सामयिक सूचना सभी सम्बन्धित व्यक्तियों तथा संस्थाओं को अनिवार्य । वर्तमान इंस्पेक्टरों का सारा भार एक तो मात्रा में कम हो जायगा और दूसरे, प्रशिक्षण संस्थाओं तथा अध्यक्षों में बँट जायगा; शिक्षकों और शिक्षार्थियों को क्रम से अध्यापन और अध्ययन के अतिरिक्त और कोई सहारा शेष न रहेगा ।

नियुक्ति, स्थानान्तर, पदोन्नति, अवकाश, आदि—(१) नियुक्ति—राजकीय विद्यालयों में शिक्षा सञ्चालक द्वारा और जनता विद्यालयों में विभिन्न परिषदों द्वारा; प्रशिक्षण-फल के ठीक क्रमानुसार। (२) स्थानान्तर—शिक्षा में विशेष उपयोगी नहीं; केवल दो बार अधिकाधिक उदारता तथा सहानुभूति के साथ। (३) पदोन्नति—कर्म प्रधान रूप-रेखा में इसका अधिक महत्त्व नहीं; कार्य-कालाधिक्य के अनुसार परमावश्यक; परम दक्ष अधिकारियों के लिए भी कुछ स्थान सुरक्षित। (४) अवकाश, आदि—शिक्षक की योग्यता और आवश्यकता के अनुसार; इस सम्बन्ध में कुछ अधिकार का सुरक्षित एवं एकत्र होते रहना आवश्यक नहीं; अध्यक्ष या प्रधान की स्वीकृति और सम्मति के आधार पर; वार्षिक वेतन-वृद्धि का भी अधिकार रूप में होना उपयोगी नहीं।

शिक्षकों के वेतन—सुझाव रूप में तालिका संलग्न; उच्च शिक्षाधिकारियों के वेतन में कटौती; इन लोगों को अन्य सुविधाएँ प्रचुर मात्रा में।

शिक्षकों को अन्य सुविधाएँ—(१) प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षकों के लिए—(अ) सामाजिक—गाँव या मुहल्ले के किसी भी सार्वजनिक समारोह का सभापतित्व प्रधान पाठक या पालक द्वारा; प्रीति-भोज, पाणिग्रहण, आदि में शिक्षकों का सादर स्वागत। (ब) राजनीतिक तथा वैधानिक—अदालत पञ्चायत के सभी निर्णयों की स्वीकृति प्रधान पालक या पाठक द्वारा; शिक्षकों को न हथकड़ी डाली जाय न उनके घरों की तलाशी हो। (स) आर्थिक—आवश्यकतानुसार शिक्षकों को ऋण मिलें; उनके बच्चों की शिक्षाकी निःशुल्क व्यवस्था हो (२) माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षकों के लिए—(अ) सामाजिक—नगरों तथा उप नगरों के महत्त्वपूर्ण समारोहों और उत्सवों का सभापतित्व जिला-अधिकारी द्वारा; जिले के अन्य अधिकारी समय-समय पर शिक्षा अधिकारी से भेंट करें; प्राथमिक शिक्षकों की अन्य आवश्यक सुविधाएँ इन्हें भी' (ब) राजनीतिक तथा वैधानिक—अदालती पञ्चायतों के निर्णयों की निगरानी सुनना; समय-समय पर आवश्यकतानुसार व्यवस्थापिका सभाओं में किसी विधेयक के बारे में कुछ कह सकना; प्राथमिक शिक्षकों की अन्य आवश्यक सुविधाएँ इन्हें भी। (स) आर्थिक—भूमिकर तथा मकान-कर के अतिरिक्त अन्य सभी करों से मुक्त; बच्चों की शिक्षा में सहायता; आवश्यकता पड़ने पर ऋण; प्राइवेट ट्यूशन की वर्तमान सुविधा न मिलेगी

परन्तु बिना किसी अर्थ-लाभ के पिछड़े हुए छात्रों को पढ़ाना अनिवार्य; पुस्तकें लिखने की समुचित सुविधाएँ। (३) आचार्यों, उपाचार्यों, आदि के लिए— (अ) सामाजिक—सभी उत्सवों और समारोहों में शिक्षकों का सुरक्षित स्थान सबसे आगे; प्रीति भोज, संवेदना प्रदर्शन, आदि के अवसर पर प्राथमिक और माध्ययिक शिक्षकोंके अनुरूप इनके भी सम्मान और दायित्व। (ब) राजनीतिक तथा वैधानिक—लोक सभा में अपने विचार-प्रदर्शन की सुविधा; चुनाव सम्बन्धी झगड़ों का निपटाना; राष्ट्रपति तथा राज्यपाल की ओर से विशेष परिस्थितियों में प्राण-दण्ड की सजा में हेर-फेर करना; उच्च अधिकारियों को कार्य-भर की शपथ ग्रहण करवाना। (स) आर्थिक—बच्चों की शिक्षा में आवश्यक सहायता; सवारियों और भ्रमण की सुविधा; पुस्तक, आदि नियमानुसार लिखने की पर्याप्त सुविधा।

कुछ विविध नियम—(१) शिक्षा विभाग के प्रत्येक अधिकारी के रिटायरमेंट की तिथि किसी न किसी वर्ष की ३० जून होगी (२) चालीस वर्ष की अवस्था तक जनता विद्यालयों के शिक्षक राजकीय में जा सकते हैं (३) जनता और राजकीय विद्यालयों में केवल दो अन्तर (अ) पेन्शन सम्बन्धी और (ब) नियुक्ति, स्थानान्तर, आदि सम्बन्धी। (४) सभी स्तर की शिक्षा संस्थाओं का आर्थिक दायित्व पूर्ण रूप से सरकार पर (५) छात्रों और छात्राओं के संस्थान्तर केवल अभिभावकों की ही इच्छा से न हो सकेंगे (६) सम्पूर्ण शिक्षक समाज केवल दो वर्गों में विभक्त 'गुरुगण' और आचार्यगण; निर्धारित वेश-भूषा अलग-अलग। (७) जिले के किसी भी सिनेमा-खेल का प्रदर्शन जिला-शिक्षा अधिकारी की स्वीकृति के बिना न हो सकेगा। (८) शिक्षा संस्थाओं में मादक पदार्थों का सेवन न हो सकेगा। (९) विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों की कार्य-कारिणी समिति के निर्णय तब तक अन्तिम रहेंगे जब तक कि कुलपति को कोई आपत्ति न हो। (१०) प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षक अपने स्थायी निवास स्थान से पाँच मील के भीतर नियुक्त न हो सकेंगे। (११) विद्यालयों के अध्यापन के घण्टों में कोई शिक्षक अपने निवास स्थान पर न जा सकेंगे। (१२) जिन छात्रालयों में शिक्षकों के लड़के-लड़कियाँ रहें उनका वातावरण बहुत सादा और शुद्ध होना चाहिए। (१३) बीहड़ स्थानों के किशोर और किशोरी विद्यालयों की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

अध्याय ९

भावी-शिक्षा-योजना में शिक्षक

सिंहावलोकन—निस्सन्देह कहा जा सकता है कि इस प्रस्तावित शिक्षा-योजना में शिक्षकों को आवश्यकता से बहुत अधिक अधिकार दे दिये गये हैं। परन्तु अधिक, बहुत अधिक, कम, बहुत कम, आदि तुलनात्मक स्पष्टीकरण हैं। यदि एक पलड़े पर बीस सेर अन्न और दूसरे पर पाँच सेर है तो यही कहा जायगा कि प्रथम पलड़े पर दूसरे से बहुत अधिक अन्न है। परन्तु दूसरे पलड़े पर यदि हम तीस-पैंतीस सेर अन्न कर दें तब यही कहना पड़ेगा कि प्रथम पलड़े पर दूसरे से बहुत कम अन्न है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'बहुत अधिक' को प्रयत्न करके 'बहुत कम' कर देना असम्भव नहीं। फलतः यदि शिक्षक अपने 'कर्त्तव्यों' के परिमाण और स्तर को क्रम से अधिक तथा ऊँचा कर दें तो लोग अचिरात् यह भी कहने लगेंगे कि उनके ये 'अधिकार' बहुत कम हैं। शिक्षकों के अधिकारों की व्याख्या तथा रूप-रेखा तैयार कर लेने पर यह अप्रासङ्गिक न होगा कि उनके कर्त्तव्यों की भी एक समुचित रूप-रेखा तैयार की जाय। भारतीय संस्कृति के अनुसार तो कर्त्तव्यों की ही व्याख्या विविध प्रकार से होनी चाहिए थी; अधिकार तो अपने आप विकसित तथा सुरक्षित होते जाते हैं। परन्तु वर्तमान परिस्थितियों में यदि अधिकारों की ही व्याख्या पहले हो गई है तो बहुत अनुचित नहीं हुआ है।

शिक्षकों के कर्त्तव्य-निर्धारण के पूर्व हमें भारतीय संस्कृति की मूल विशेषताओं का सिंहावलोकन करना पड़ेगा। यह पहले ही कहा जा चुका है तथा सर्वमान्य है कि हमारी संस्कृति 'कर्म-प्रधान' है। साधारणतः 'कर्म' और 'कर्त्तव्य' को हम पर्याय मानते हैं। प्राचीन 'कर्म' की रूप-रेखा कुछ ऐसी है कि उसे व्यक्ति अपने-आप बहुत कुछ कर सकता था और उसका फल भी अपने से ही सम्बन्धित था। पर वर्तमान 'कर्त्तव्य' को व्यक्ति अपने आप न तो सुविधा पूर्वक सुसम्पादित कर सकता है और न तो उसका फल

या प्रभाव उसी करने वाले तक ही सीमित रह सकता है। 'कर्म' का रूपान्तर 'कर्त्तव्य' में सम्भवतः मुसलमानों के शुभागमन से ही क्रमशः आरम्भ हो गया था और यूरोपीय सम्पर्क स्थापित हो जाने पर पूरा हो गया। इसकी पूर्ति गोस्वामी तुलसी दास जी की रचनाओं से स्पष्ट रूप में हो जाती है। 'रामचरित-मानस, में ही एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—

'प्रभुता पाइ काह मद नाहीं।'

सम्भवतः यहाँ वे 'कर्त्तव्य' की भावना से प्रेरित थे। दूसरे स्थान पर उन्होंने फिर लिखा है:—

'भरतहिं होइ न राजमदु, विधि हरि हर पद पाइ।'

यह विचार-भिन्नता केवल प्रसङ्गान्तर के ही फल-स्वरूप नहीं है। प्रथम रचना में तो वे तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित दीख पड़ते हैं और द्वितीय में मूल-भारतीय आदर्शों से। 'भरत' जी के रूप में उन्होंने एक आदर्श भारतीय की व्याख्या की है। इस शिक्षा-योजना में शिक्षकों को केवल अध्यापन तक ही सीमित न करके अनेक अन्य कामों में भी लगाने का सुझाव दिया गया है। फलतः हम शिक्षकों को गोस्वामी जी के उपर्युक्त दूसरे प्रसङ्ग की रक्षा करनी है।

अधिकांश शिक्षक यही कहेंगे कि वर्तमान परिस्थितियों में 'भरत' बनना कठिन ही नहीं, प्रत्युत असम्भव सा है। पर भरत जी भी तो 'भरत' अत्यन्त विषम और कठिन परिस्थितियों में ही हुए थे। यह अकाट्य सत्य है कि संसार के सभी महान व्यक्ति, महान तभी हुए हैं जब कि वे कठिनाइयों की कसौटी पर कसे गये हैं और खरे उतरे हैं। सांस्कृतिक संघर्षों के फल-स्वरूप इस समय समस्त भारतवर्ष में हाहाकार मचा है। धन-धरती की सतत चाह में यह सारी धरती धधक रही है। यदि वैभव-लोलुपता का इस पवित्र भूमि से लोप शिक्षकगण न कर सके तो कोई अन्य वर्ग कदापि न कर पायेगा। प्रत्युत यह कहा जा सकता है कि यह कार्य भारतीय शिक्षकों के ही लिए सम्भव तथा उचित है। भावी शिक्षकों के लिए अनेक सुविधाएँ माँगी गई हैं पर हमें यह चाहिए कि हम उनका न्यूनतम् उपभोग करें। भरत जी ने भी तो यही किया था; उन्होंने भी तो अयोध्या के विशाल भव्य-भवनों को त्याग कर नन्दिग्राम में एक कुटिया बनाई थी। यह कहा जा सकता है कि भरत जी ने वनवासी श्री रामचन्द्र जी के अनुरूप जीवन बनाये थे। यदि यही सच हो तो यहाँ परिस्थिति तो और भी विकट तथा शोचनीय है। वहाँ तो केवल एक

राम और वे भी पिता-आज्ञा-पालन में वैसा कठोर जीवन व्यतीत कर रहे थे, पर यहाँ तो अधिकांश भारतवासी अकारण भूखे तथा नग्न है।

उपर्युक्त बातों का संक्षेप में तात्पर्य यही है कि भारतीय शिक्षकों का व्यक्तिगत जीवन बहुत ही सीधा, सादा, तथा त्यागपूर्ण होगा। प्रत्येक स्तर के शिक्षकों को अध्यापन के अतिरिक्त कुछ ऐसे आवश्यक कार्य भी करने हैं जिन्हें अब तक अन्य अधिकारी गण अपने ढंग से करते आ रहे हैं। यह ढङ्ग लगभग वही अथवा उससे भी बिगड़ गया है जो कि विदेशी सरकार ने निर्धारित तथा प्रचलित किया था। इसमें एक ओर तो शासन की अत्यधिक दृढ़ता निहित है और दूसरी ओर विभिन्न प्रकार के भ्रष्टाचार मिश्रित हैं। इसे हम इस रूप में भी ले सकते हैं कि अपने शासन को स्थायी तथा दृढ़ रखने के लिए विदेशी सरकार अपने कर्मचारियों के भ्रष्टाचार को यथासम्भव छिपाने का प्रयत्न करती थी। सन् १९४७ ई० में सत्तान्तर इतनी शीघ्रता में हुआ और युद्ध-जर्जरित देश की विभिन्न समस्याएँ इस विचित्रता से उलझ गई थीं कि हमारी स्वतंत्र सरकार की बागडोर सँभालने वाले नेतागण भी उन्हीं कर्मचारियों की पीठ थपथपाने और उसी ढङ्ग को अपनाने के लिए विवश रहे। निस्सन्देह व्यावहारिकता के दृष्टिकोण से भी उन्हें ऐसा ही करना चाहिए था।

इस समय समस्त संसार की सरकारें तथा शासन-व्यवस्था लगभग 'व्यक्ति प्रधान' आदर्शों पर अवलम्बित हैं। विभिन्न सरकारों तथा राष्ट्रों के साथ उचित सम्पर्क भी उन्हीं कर्मचारियों के सक्रिय सहयोग से स्थापित हो सकता था। हाँ, देश की आन्तरिक व्यवस्था में कुछ ठोस तथा उपयोगी परिवर्तन किये जा सकते थे। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे नेताओं ने इस ओर अनेक प्रयत्न किये पर उन प्रयत्नों को सिद्धान्ताधारित न होने से सुविधाओं की अपेक्षा असुविधाएँ ही अधिक बढ़ती गईं। इसके अनेक कारण हैं परन्तु उनमें सबसे मुख्य यह है कि 'व्यक्ति-प्रधान' व्यवस्था से 'कर्म-प्रधान' आदर्शों की पूर्ति यदि असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। यही कारण है कि भावी शिक्षा-योजना को सफल तथा उपयोगी बनाने के लिए सर्वप्रथम शिक्षकों को 'भरत' बनना है अर्थात् 'कर्म' के सम्मुख अपने व्यक्तित्व को न्यूनतम महत्त्व देना है। इस देश का पूरा कल्याण तो उस समय होगा जब यहाँ के सभी लोग 'भरत' हो जायँगे और यह समुचित शिक्षा के अधिकाधिक प्रचार तथा प्रसार से सम्भव होगा। फलतः हम शिक्षकों को ही इसे व्रत रूप में लेकर अपने को शोधना है।

हमारा 'भरत' बनना निस्सन्देह अत्यन्त कठिन है। हमने भी वही शिक्षा पाई है जो औरों को मिली है; हमारे मस्तिष्क में भी ऐहिक सुखों का वैसा ही चित्र बना हुआ है जैसा कि औरों के मन में है; हमारे परिवार वालों के भी दृष्टिकोण लगभग वे ही हैं जो कि औरों के हैं; हममें से अधिकांश इसी रंग में रँगे हैं। फिर इस प्रकार का परिवर्तन कैसे सम्भव होगा? स्मरण रहना चाहिए कि सभी लोग एक साथ 'भरत' नहीं हो पायेंगे; साथ ही, सभी लोग समान रूप से 'भरत' नहीं हो जायँगे। इतिहास साक्षी है कि युगान्तर करने वाले महात्माओं का साथ परिस्थितियों ने नहीं के बराबर दिया है। उनके तो अन्तस्तल से प्रेरणा हुई और उसी के फलस्वरूप उन्होंने अनुष्ठान ठान लिये। महात्मा भरत, महात्मा बुद्ध, भक्त प्रह्लाद, वीर प्रताप, वीर शिवाजी, महात्मा गान्धी, आदि महापुरुषों का साथ उनके विभिन्न व्रतों और अनुष्ठानों में परिस्थितियों ने कहाँ दिया? भरत जी का एक स्वर से सभी लोग राज्य-तिलक करना चाहते थे; गौतम बुद्ध के लिए हर प्रकार के ऐहिक सुख उपलब्ध कर दिये गये थे; प्रह्लाद के पिता जी किसी प्रकार भी उन्हें राम नाम न जपने देना चाहते थे; वीर प्रताप के सम्मुख अकबर महान की गुण-ग्राहकता और उदारता की ऐसी स्निग्ध अमृत-धाराएँ बह रही थीं कि उनमें वे डूबते-डूबते बच सके थे (पृथ्वीराज का पत्र); वीर शिवाजी के गुरुजन स्वप्न में भी नहीं चाहते थे कि वे बीजापुर के नवाब के प्रतिकूल जायँ; महात्मा गान्धी जी ने एक ऐसे सुसम्पन्न परिवार में जन्म लिया था कि विलायत तक की अत्यन्त मँहगी शिक्षा उन्हें प्राप्त हो सकी थी और अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में यदि उन्होंने अपना व्रत छोड़ दिया होता तो अंगरेजी सरकार उन्हें ऊँचा से ऊँचा पद सम्भवतः देने में संकोच न कर सकती थी।

उपर्युक्त उदाहरण प्रत्येक युग से लिये गये हैं, फिर भी बहुत से लोग इसे आदर्श-चर्चा के रूप में ले सकते हैं। भावी शिक्षा-योजना में शिक्षकों के लिए जो अधिकार प्रस्तावित हैं उनमें से कुछ ऐसे हैं जो किसी लखपती-करोड़पती को भी केवल धन के बल पर उपलब्ध न हो सकेंगे। कई दृष्टिकोणों से शिक्षकगण समाज में सर्वोच्च हो जायँगे। फलतः व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी 'भरत' होने से उनका तथा उनके परिवार वालों का कोई ऐहिक अहित न हो पायेगा। 'सादे जीवन' को लोग प्रायः 'साधारण-जीवन' के रूप में ले लेते हैं और भ्रम में पड़ जाते हैं। महात्मा गाँधी का जीवन सादा था परन्तु साधारण नहीं। उनका जीवन अत्यन्त ऊँचा था। सादी वेश-भूषा में ही वे लन्दन के सम्राट से और गोल-मेज-परिषदों में भाग लिये थे। इतना ही नहीं, मरण-

पर्यन्त भारत ऐसे बिशाल देश तथा राष्ट्र के वे भाग्य-विधाता थे। यदि ध्यान से देखा जाय तो ऊँचे जीवन के लिए ऊँचा रहन-सहन आवश्यक नहीं। ऊँचे जीवन और ऊँचे रहन-सहन का अटूट सम्बन्ध पाश्चात्य संस्कृति में है। यह कई स्थानों पर कहा जा चुका है कि वे लोग इसी जीवन में अपने समस्त कार्यों के फलों को भोग लेना चाहते हैं और इसी लिए अपने ऊँचे जीवन के अनुरूप रहन-सहन भी ऊँचा करते जाते हैं। पर हमारी भारतीय संस्कृति में तो पुनर्जन्म, परलोक, स्वर्ग, आदि अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। यदि उपयोगिता के दृष्टिकोण से भी देखा जाय तो ऊँचे रहन-सहन से हम लगातार समान रूप से सुखी नहीं होते। जब-जब स्तर ऊँचा होता है केवल तब-तब हम कुछ-कुछ अधिक सुविधाओं का अनुभव करते हैं। सायकिल पर चलने वाला व्यक्ति जब कार पर चलने लगता है तो आरम्भ में उसे कुछ सुख अवश्य मिलता होगा पर कुछ दिनों में वह अपने को फिर वैसा ही व्यग्र तथा चिन्तित पाता है जैसा कि पहले था।

खेद का विषय है कि वर्तमान शिक्षा से शिक्षित भारतीय लोग परलोक, स्वर्ग, आदि के अस्तित्व तथा महत्त्व में सन्देह करने लगे हैं। शिक्षित होने के कारण देश के ऊँचे-ऊँचे कामों में ये ही लोग लगे हैं अर्थात् देश का पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। इन लोगों के इस सन्देह से अशिक्षित लोग भी दुविधा में पड़ गये हैं। यों तो संसार का कोई भी धर्म तथा उसके आदर्श तर्क की कसौटी पर खरे नहीं उतरते पर यदि ध्यान से देखा जाय तथा विचार किया जाय तो हमारे ये आदर्श उपयोगिता के दृष्टिकोण से भी अत्यन्त महत्त्व पूर्ण प्रतीत होते हैं। अपने भावी स्वर्ग की रक्षा के लिए यदि हम सब लोग अपने कर्त्तव्य के अनुपात से कम सुखों का उपभोग करने का अभ्यास करें तो हमारा बचा हुआ सुख औरों के ही काम तो आयेगा। प्रातःकाल उठते ही हमें स्वस्थ, सुखी तथा प्रसन्न व्यक्तियों से साक्षात्कार होगा। अन्यथा हमारे पास अतुल सम्पत्ति क्यों न हो, हम विशाल से विशाल भव्य भवनों में क्यों न सोते हों परन्तु प्रातःकाल निकलते ही जीर्ण-शीर्ण तथा व्यथित व्यक्तियों को देखना पड़ेगा। इस प्रकार परित्याग द्वारा हम इस मृत्यु-लोक को ही स्वर्ग बना सकते हैं।

दूसरे, यदि हममें से प्रत्येक व्यक्ति परोपकार का व्रत ठान ले तो अपना काम अथवा उपकार स्वभावतः हो जायेगा। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि हम दूसरे के कामों को पूरा करने में लग जायँगे तो अन्य लोग हमारे ही कामों में तो लगेंगे। पाश्चात्य आदर्शों के अनुसार चलने से संघर्ष अवश्य-

संभावी हो जाता है और हो रहा है। निस्सन्देह पाश्चात्य संस्कृति में भी परोपकार का महत्त्व है परन्तु उनके परोपकार का आधार 'अनुराग' है और हमारे परोपकार का 'परित्याग'। दूसरे शब्दों में वे परोपकार में अपना भी ध्यान रखते हुए लगते हैं और हमें परोपकार के समय अपना लेश-मात्र भी ध्यान नहीं रहता। ऐसा हम तभी कर पाते हैं जब कि हमें इस बात का विश्वास रहता है कि अपने परित्याग का फल हम इस जीवन में किसी कारण-वश नहीं पा रहे हैं तो पुनर्जन्म में अवश्य पा जायँगे। इस प्राप्ति को हम अधिक उत्तम तथा उपयोगी मानते आये हैं।

यहाँ पर लोगों को एक भ्रम और हो सकता है कि प्राचीन भारतवर्ष में भी तो अनेक प्रकार के भयानक तथा हृदय-विदारक युद्ध होते थे। निस्सन्देह हुए तथा होते थे। परन्तु वर्तमान संघर्षों तथा प्राचीन या मध्यकालीन भारतीय संघर्षों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि उन संघर्षों के आधार सिद्धान्त, कर्म, व्रत, आदि होते थे और इस वर्तमान संघर्षों के आधार ऐहिक सुख, स्वार्थ-परता, व्यक्तित्व-प्रचार, आदि हैं। दूसरे शब्दों में, प्राचीन भारतवर्ष के सुसंस्कृत लोग मनसा, वाचा तथा कर्मणा केवल आत्म-रक्षा के निमित्त संघर्षों के कुचक्र में पड़ते थे। आत्म-विस्तार एवं वैभव के लिए संघर्ष करने वाले राक्षस, आतताई, आदि के नाम से कुख्यात थे। 'पूर्वजन्म और पुनर्जन्म' में विश्वास होने से किसी व्यक्ति के दुःख-सुख का निवारण-भोग प्रस्तुत जीवन में ही आवश्यक नहीं समझा जाता था—फलतः संघर्षों के अधिक अवसर नहीं आ पाते थे और होने पर बहुत सँभाल कर चलना पड़ता था। हमारे भारतीय संघर्षों की विशेषता यह थी कि जब किसी सिद्धान्त के ऊपर दल-बन्दी हो जाती थी तो व्यक्तियों का, चाहे वे कितना हूँ पूज्य, आदरणीय, प्रिय तथा निकट या निकटतम सम्बन्धी क्यों न हो, कोई महत्त्व नहीं रह जाता था। चाहे सीता ऐसी जगत-माता का हरण क्यों न करना पड़ा हो; चाहे द्रौपदी ऐसी सती-साध्वी का भरी सभा में चीर-हरण क्यों न हुआ हो; चाहे प्रतिकूल पक्ष में स्वयं भगवान राम और कृष्ण क्यों न खड़े रहे हों पर हमारे संघर्ष के तार-तम्य में कोई भी अन्तर न पड़ता था। साथ ही, आतताइयों का सर्वनाश हमारे यहाँ अवश्य हुआ है।

उपर्युक्त उदाहरण अपनी संस्कृति के निम्नतम प्रसङ्गों से लिये गये हैं पर उनमें भी हमारे मूल सिद्धान्त सर्वथा सुरक्षित हैं। सीता-हरण तथा द्रौपदी चीर-हरण उन रमणियों के व्यक्तित्व या नारीत्व को अपमानित करने के विचार से नहीं किये गये थे। रावण ने सीताजी को ले जाकर एक अशोक वृक्ष

के नीचे डाल दिया था; द्रौपदी के प्रति किसी प्रकार की दुर्भावना यदि दुर्योधन के मन में होती तो उन्हें तो वे जीत ही चुके थे। उनका भरी सभा में वे चीर-हरण क्यों करते? भला ऐसा कौन मूर्ख होगा जो अपनी किसी प्रेयसी को भरी सभा में इस प्रकार अपमानित करता? यह तो वर्तमान युग का प्रसाद है कि 'व्यक्ति-प्रधान' संस्कृति तथा 'ज्ञान-मूलक' शिक्षा के सम्पर्क में आने से हमलोग विदेशियों की 'हाँ' में 'हाँ' मिलाकर इस बात का अनुमान लगाते हैं कि वास्तव में वे कार्य बड़े जघन्य थे। यदि ध्यान से विचार किया जाय तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ये कार्य विपक्षियों को अपमानित तथा उत्तेजित करने के विचार से किये गये थे न कि सीता, द्रौपदी, आदि के नारीत्व को अप-मानित करने के लिए। संक्षेप में, भारतीय संघर्षों की मौलिक तथा अलौकिक विशेषताओं को प्रमाणित करने के लिए कुरुक्षेत्र की अमरबेलि 'गीता' और कलिंग के 'अशोक' पर्याप्त हैं। संसार के किसी भी अन्य देश के इतिहास में ऐसे उदाहरण सम्भवतः उपलब्ध नहीं है कि कोई 'युद्धवीर' सम्राट पूर्णरूप से 'धर्मवीर' ही नहीं प्रत्युत 'अहिंसा' का पोषक, प्रचारक, प्रवर्तक एवं स्थायी अनुयायी ही हो जाय।

वर्तमान काल में हम भारतवासियों के मन में अपनी संस्कृति के प्रति जो सन्देह तथा दुविधा हैं उन्हें अचिरात् दूर करना है। यहाँ पर शिक्षकों को 'भरत' बनने की जो प्रेरणा दी जा रही है, इसका मुख्य उद्देश्य यही है कि हम 'कर्त्तव्य' को अपने 'व्यक्तित्व' से बहुत ऊपर उठायें। सादगी का जीवन व्यतीत करने से हमारी व्यक्तिगत आवश्यकताएँ, उलझनें, गुत्थियाँ, आदि बहुत कम हो जायँगी और अपने कर्त्तव्यों में लगने के लिए हमें अधिकाधिक शक्ति तथा समय उपलब्ध होंगे। और कुछ कहने के पूर्व यह अप्रासङ्गिक न होगा कि 'कर्त्तव्य' की भी व्याख्या हम यथासम्भव कुछ कर लें। कोई भी व्याख्या पूर्ण नहीं होती; देश-काल और पात्र के सिद्धान्त पर उसमें परिवर्तन होते रहते हैं। भरत जी के व्रत से हमारा व्रत बहुत अधिक कठिन होगा। भरत जी को केवल मन पक्का करना था—अन्य सभी उपकरण उनके अनुकूल थे। वे अत्यन्त सम्मानित राजकुमार थे, तत्कालीन समाज में कोई घोर संघर्ष नहीं था, और परित्याग का स्थान सर्वत्र सर्वोच्च था। पर आज-कल वातावरण दूषित है। एक ओर तो हमें अपना मन पक्का करना है और दूसरी ओर अपने अनु-कूल वातावरण भी निर्मित करना है। यदि ऐसा हम नहीं कर लेते तो यह असम्भव नहीं कि आवेश में कुछ ही दूर आगे बढ़कर हमें 'किं कर्त्तव्य-विमूढ़' होना पड़े। आजकल लगभग सभी क्षेत्रों में हमारे यहाँ यही हो रहा है। बिना

दूर तक सोचे-समझे उच्चाधिकारियों की हाँ में हाँ मिलाकर महँगी से महँगी योजनाएँ कार्यान्वित कर दी जाती हैं और कुछ ही समय के उपरान्त उनकी वास्तविक उपयोगिता में लोगों को सन्देह होने लगता है।

कर्त्तव्य-निर्धारण साधारणतः सरल तथा सुगम नहीं हुआ करता। परन्तु किसी कार्य को व्रत, अनुष्ठान, संकल्प, आदि का रूप दे देने पर हम भारतवासियों के मार्ग प्रायः सुगम हो जाया करते हैं। ऐसे अवसरों पर 'तर्क' को अपने कोष से हम निकाल देते हैं। आज कल यह क्रम धार्मिक प्रसङ्गों में कभी-कभी रहता है। तर्कवादियों को हमारे व्रत, आदि चाहे कितनाहू विचित्र, कठिन, विनोद-हीन, आदि क्यों न प्रतीत होते हों पर इसकी हम लेश मात्र भी चिन्ता नहीं करते। 'भरत' बनने में अर्थात् सादगी का जीवन व्यतीत करने में या यों कहा जाय कि कर्त्तव्य को व्यक्तित्व के ऊपर उठाने में हमें अनेक वाह्य आडम्बरों का त्याग करना पड़ेगा। हो सकता है कि कुछ समय तक लोग हमें देखकर हँसें। हमारे ही कुटुम्बी, पत्नी, पुत्र, पुत्री, आदि पड़ोस के सुसज्जित परिवारों को देखकर क्षुब्ध तथा कातर मुद्रा में हमारे सम्मुख आयें और हमें अपने मार्ग से विचलित होने की मूक या मुखरित प्रेरणा दें। सन्तानों को संतप्त देखकर बड़े-बड़े महान् व्यक्ति भी डिग गये हैं। अभिमन्यु के अमानुषिक निधन पर अच्युत् (महाराज युधिष्ठिर) भी च्युत् हो गये थे; हाथ से घास की रोटी छिन जाने से बिलखती हुई सन्तान (पुत्री) के साक्षात्कार से महाराणाप्रताप भी इतना अधिक प्रभावित हो गये थे कि अपने महान व्रत का तनिक भी ध्यान न करके अकबर महान के पास सन्धि-पत्र भेज देने के लिए अपने को उन्होंने विवश पाया।

अपने मार्ग से विचलित होने के लिए कुछ शिक्षकों के सम्बन्ध में एक विचित्र समस्या और है। कुछ ऐसे शिक्षक होंगे जिनके धर्म इस्लाम, ईसाई, सिक्ख, आदि हो सकते हैं। सिक्खों के सम्बन्ध में विशेष कठिनाई इस लिए नहीं होगी कि इस धर्म का निर्माण तथा संगठन इसी देश में हुआ है। पर ईसाई तथा मुसलमान शिक्षकों के सम्बन्ध में हमें कुछ विचार करना है। उनके धर्मों में भी प्रत्येक बात की कुछ न कुछ व्याख्या हुई है; सहृदय शिक्षक तथा उपयोगी नागरिक होने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी (अपने ही) मार्ग अर्थात् धर्म का सच्चा अनुयायी होना चाहिए। धर्म और संस्कृति में अटूट सम्बन्ध होता है। यह प्रस्तावित शिक्षा-योजना भारतीय संस्कृति के रंग में रँगी हुई है। ऐसी दशा में इन शिक्षकों के मन में किसी प्रकार का संघर्ष होना असम्भव नहीं। संविधान, यथा-कथित राष्ट्रीयता, आदि के नाम पर वे

लोग मौखिक या लिखित रूप से अवश्य प्रमाणित करेंगे कि वे इस नवीन योजना में सहर्ष सहयोग देंगे। पर उनके अन्तरतल में किसी प्रकार के क्षोभ या ग्लानि का होना असम्भव नहीं। ऐसा होने से उनके अध्यापन की उपयोगिता तथा स्वाभाविकता को धक्का पहुँच सकता है। इस सम्बन्ध में कुछ सोचना, विचारना तथा समझना सम्भवतः अप्रासङ्गिक तथा असामयिक कदापि नहीं माना जायगा।

धर्म और संस्कृति का सम्बन्ध अटूट अवश्य है परन्तु साथ ही संस्कृति और वातावरण का सम्बन्ध भी अत्यधिक अविच्छिन्न होता है। यदि ध्यान से देखा जाय तो 'धर्म' का विशेष सम्बन्ध व्यक्तित्व से होता है परन्तु संस्कृति का पूरे समाज से। जन-तंत्र में समाज का महत्त्व और भी बढ़ गया है। विदेशी शासन काल में हम भारतवासी अपने विभिन्न धर्मों का अनुयायी होते हुए भी उनकी पाश्चात्य संस्कृति के अनेक अङ्गों से ऐसे हिल-मिल गये कि उन्हें छोड़ने को अब जी भी नहीं चाहता। हममें से अधिकांश लोगों के साथ यही बात है—चाहे हम स्वीकार करें या नहीं। हमारी सत्यासत्य की परिभाषा, हमारी आत्मोत्कर्ष सम्बन्धी अभिलाषा, हमारी पारिवारिक मनोवृत्तियाँ, हमारी वेश-भूषा, आदि वर्तमानकाल में पाश्चात्य संस्कृति के ही आदर्शों पर निर्मित हैं। यह परिस्थिति केवल अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों के ही सम्बन्ध में नहीं है, प्रत्युत अपार अशिक्षित जनता भी प्रत्यक्ष या परोक्ष में पूर्णरूप से प्रभावित है।

वर्तमान न्यायालयों में असंख्य भारतवासी प्रतिदिन एकत्र होते हैं; वे बहुत वर्षों से पाश्चात्य संस्कृति की विशेषताओं को भारत के कोने-कोने में परोक्ष रूप से पहुँचाते आ रहे हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जब ऐसी विदेशी संस्कृति, जिसका इस वातावरण से कोई सम्बन्ध नहीं था, यदि कुछ बाह्य सुविधाओं तथा प्रलोभनों के फल-स्वरूप पनप सकती थी, तो कोई कारण नहीं है कि वह संस्कृति जो इसी वातावरण के अनुकूल विकसित हुई है यहाँ फिर से प्रफुल्लित न होवे। साथ ही जीवन की सादगी का महत्व प्रत्येक धर्म में है। कई ऐसे मुसलमान सम्राट हुए हैं जिन्होंने अपना जीवन अत्यन्त सादा रखा था। सम्राट नासिरुद्दीन अपने व्यक्तिगत व्यय के लिए टोपियाँ बनाते थे। टोपियों की आय से उनका जीवन कैसा रहा होगा इसे लिखने की आवश्यकता नहीं। सम्राट 'आलमगीर' भी अत्यन्त सादा जीवन व्यतीत करते थे। फलतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रत्येक धर्म का भारतीय शिक्षक बिना किसी संघर्ष के सुविधा पूर्वक सादा जीवन व्यतीत कर सकता है।

सादे जीवन का तात्पर्य केवल साधारण वेश-भूषा से ही नहीं है। यदि ध्यान से देखा जाय तो साधारण वेश-भूषा तथा साधारण रहन-सहन इसके केवल वाह्य उपकरण हैं। दूसरे शब्दों में यदि कोई व्यक्ति साधारण वेश-भूषा में हमारे सम्मुख उपस्थित होता है तो हमें निश्चय रूप से यह नहीं मान लेना चाहिए कि उसका जीवन सादा तथा ऊँचा है। बहुत से कृपिण लोग अत्यन्त साधारण रूप में हमें दिखाई देते हैं परन्तु उनके जीवन को हम सादा कदापि नहीं कह सकते; वे तो पैसा-पैसा जोड़ने के लिए अनेक कुत्सित योजनाएँ बनाते रहते हैं। वास्तविक सादा तथा ऊँचा जीवन मन की स्वतंत्रता पर निर्भर होता है। किसी व्यक्ति के मन की स्वतंत्रता एक ओर उसकी आवश्यकताओं की न्यूनता या अधिकता पर निर्भर है और दूसरी ओर उसकी कर्मण्यता या अकर्मण्यता पर। जिस व्यक्ति की आवश्यकताएँ जितनी ही कम और कर्मण्यता उसमें जितनी ही अधिक होती हैं उसका मन, उतना ही अधिक और वास्तविक रूप में, स्वतंत्र होता है। यदि किसी व्यक्ति ने कर्मण्यता के अभाव में अपनी आवश्यकताओं को विवश होकर कम कर दिया है तो वह भी उच्चकोटि का व्यक्ति कदापि नहीं माना जायगा। वर्तमान परिस्थितियों में विरला ही कोई भारतवासी होगा जिसका मन पूर्ण रूप से स्वतंत्र हो—शिक्षकों में तो सम्भवतः कोई होगा ही नहीं। सांस्कृतिक संघर्षों का कुप्रभाव अन्य लोगों पर परोक्ष रूप में है पर हमारी शिक्षा, हमारे शिक्षकों तथा शिक्षार्थियों पर प्रत्यक्ष रूप में है। हम शिक्षकों को ऐसा अनुष्ठान करना है कि हमारा जीवन सम्यक् रूप से सादा तथा ऊँचा हो जाय।

<u>भारतीय शिक्षकों की दिन-चर्या</u>—हमें अपने दैनिक जीवन को विधिवत् नियमित तथा व्यवस्थित करना है। चाहे किसी स्तर के शिक्षक क्यों न हों पर अप्रैल से अक्तूबर तक प्रातःकाल ४ बजे और नवम्बर से मार्च तक ४½ बजे बिस्तर अवश्य छोड़ दें। यदि कोई शिक्षक किसी छात्रालय के संरक्षक होंगे तो उन्हें १५ मिनट और पहले उठना चहिए क्योंकि वे छात्रों को उठाने की जो व्यवस्था होगी उसकी प्रति दिन देख-रेख करेंगे। इसी समय घर के समस्त विद्यार्थी भी अपना बिस्तर छोड़ देंगे। अच्छा हो कि शिशुओं और वृद्धों को सुविधानुसार अलग सुलाया जाय और उनके अतिरिक्त घर के सभी वयस्क इसी समय उठ जायँ। जो वृद्ध गण उठना चाहें वेभी उठ सकते हैं। प्रत्येक शिक्षक महोदय तुरन्त, अपने हाथ से—चाहे जिस स्तर के हों—बिस्तर को सँभालेंगे, अपने शरीर के वस्त्र ठीक करेंगे और यदि आवश्यक हो तो लघु-शंका- समाधान करलेंगे और फिर बिस्तर के निकट अपने धर्म के अनुसार

समुचित रूप में खड़े होकर स्थिर चित्त से भगवान का ध्यान करेंगे और उस परम पिता परमेश्वर से प्रार्थना करेंगे कि:—

'हे भगवन् ! मेरा आज का कार्य-क्रम उचित, व्यवस्थित, सत्याधारित तथा परोपकार-प्रधान रहे ।'

इसके उपरान्त शौच, स्नान, आदि उचित रूप में करेंगे और शरीर को विधिवत् शुद्ध करके अपने-अपने धर्मानुसार १५ मिनट तक परमात्मा की पूजा करेंगे । नियमित जीवन व्यतीत करने से स्वास्थ्य साधारणतः ठीक रहेगा पर यदि कोई कठिनाई हो तो स्नान और पूजा लगभग ६ बजे दिन में होंगे । यह व्यतिक्रम केवल कड़ाके के जाड़े में क्षम्य होगा और अध्यक्ष या प्रधानाध्यापक की पूर्वप्राप्त आज्ञा से हो सकेगा । साधारणतः इन कार्यों के लिए एक घण्टा समय पर्याप्त है इससे अधिक समय लोग बिना आज्ञा के न लगा सकेंगे । पूजा के उपरान्त प्रति दिन प्रत्येक शिक्षक उचित रूप में अपने गुरुजनों को प्रणाम करेंगे अर्थात् चरण स्पर्श करेंगे ।

गुरुजन-अभिवादन के उपरान्त प्रत्येक शिक्षक २५ मिनट तक व्यायाम करेंगे और उनकी अवस्था यदि चालीस वर्ष से अधिक है तो आधा घण्टा तक किसी शुद्ध वाता-वरण में नियमित रूप से टहलेंगे । प्रायः प्रत्येक शिक्षक महोदय को पौने दस बजे तक विद्यालय पहुँचना पड़ेगा । इस प्रकार वहाँ पहुँचने से पूर्व उन्हें कम से कम एक घण्टा अध्ययन अवश्य करना पड़ेगा । जिन शिक्षकों को भोजन अपने हाथ से बनाना पड़े वे तो १५ मिनट तक और जिनको न बनाना पड़े वे एक घण्टे तक खेतों में अथवा अन्य किसी ऐसे कार्य में जिसमें कि शरीरिक श्रम अपेक्षित हो, लगेंगे, अथवा उन आवश्यक कार्यों में लगेंगे जिन्हें कि उन्हें अध्यापन के अतिरिक्त करने पड़ेंगे—प्राथमिक स्तर के शिक्षकों को पञ्चायत तथा ग्रामीण समस्याओं सम्बन्धी कार्य; माध्यमिक तथा उच्चस्तर के शिक्षकों को शासन सम्बन्धी तथा व्यवस्थापिका-सभाओं सम्बन्धी कार्य । प्रति सप्ताह जितना समय वे अतिरिक्त कार्यों में लगायेंगे कम से कम उतने समय तक शारीरिक श्रम अवश्य करेंगे । इस शिक्षा-योजना में प्रत्येक शिक्षक का निवास-स्थान विद्यालय के मैदान में ही अथवा अत्यन्त निकट होगा । फलतः प्रत्येक कार्य विद्यालय की ही घड़ी द्वारा नियंत्रित होगा । प्रातः काल के ये समस्त कार्य इसी रूप में होंगे । हाँ, प्रधानाध्यापक या अध्यक्ष को यह अधिकार होगा कि वे अपले समस्त परिवार-संघ के कार्य-क्रम में जिला-शिक्षा-अधिकारी को सूचित करके कुछ हेर-फेर कर सकते हैं पर किसी कार्य को काट नहीं सकते ।

पौने दस बजे अर्थात् निर्धारित समय से पंद्रह मिनट पूर्व शिक्षक संस्थाओंमें नियामित रूप से उपस्थित हो जायँगे। विद्यालय का कार्य-क्रम भी यथा स्थान अर्थात् पाठ्यक्रम के अध्याय में संक्षिप्त रूप में दिया जा सकता है। पर इतना संकेत यहाँ कर दिया जाता है कि समय, क्रम, व्यवस्था आदि सम्बन्धी नियम अक्षरशः माने जायँगे। लगभग चार बजेतक शिक्षक विद्यालय से घर लौटेंगे। आधा घंटा तक घर पर नाश्ता करेंगे तथा अपने बच्चों के साथ सुसंस्कृत विनोद आदि में लगे रहेंगे। अप्रैल से अक्तूबर तक तो ५½ बजे और नवम्बर मे मार्च तक ४½ बजे सप्ताह में ३ दिन खेलोपयोगी वेश-भूषा में छात्रों के खेल-कूद का पोषण करेंगे और तीन दिन अपनी निजी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तथा स्थानीय वातावरण (ग्राम, उपनगर, नगर) का सिंहावलोकन करने के लिए हाट-बाजार जायँगे। निजी आवश्यकताओं से तात्पर्य यहाँ घर-गृहस्थी से है। ऋतुओं के अनुसार ५½ या ६½ बजे सायंकाल तक इन कार्यों से निवृत्त हो जायँगे। हाथ-मुँह धोकर १५ मिनट तक फिर 'संध्या' करेंगे अर्थात् भगवान का नाम लेंगे। पौने दस बजे तक भोजन आदि के अतिरिक्त कम से कम १½ घण्टे तक अध्ययन करेंगे। अपनी सन्तानों की शिक्षा की उन्हें विशेष चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी। साधारणतः यह दायित्व विद्यालय के शिक्षकों तथा शिक्षिकाओं का होगा। इस प्रकार प्रत्येक स्तर के शिक्षक को कम से कम २½ घण्टे अध्ययन प्रति दिन अवश्य करना पड़ेगा। रात्रि में ठीक पौने दस बजे गुरुजन-अभिवादन फिर विधिवत् होगा और इसके उपरान्त अपने-अयने विस्तर के निकट खड़ा होकर प्रत्येक शिक्षाक स्थिर चित्त से कहेंगे।

"हे भगवन्! यदि मैंने परोक्ष रूप से किसी का अपकार कर दिया है तो उसके लिए क्षमा-प्रार्थी हूँ।"

फिर अत्यन्त सावधानी से विस्तर पर सो जायँगे।

चाहे किसी भी स्तर के शिक्षक क्यों न हों पर अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नौकरों, अनुचरों, आदि की सहायता न्यूनतम लेंगे। अपने स्नान करने के लिए जल कुएँ से स्वयं निकालें, अपनी धोती स्वयं कचारें-पछारें। यदि उनकी सन्तानें तथा शिष्य गण उनकी सेवा करनी चाहें तो उन्हें भी सुअवसर अवश्य देना पड़ेगा। ऐसीदशा में, सप्ताह में तीन दिन वे अपना कार्य स्वयं करेंगे और शेष तीन या चार दिन सन्तानों तथा शिष्यों को अवसर देंगे। साथ ही, अपने गुरुजनों की भी सेवा करने का सुअवसर प्रत्येक शिक्षक स्वयं प्राप्त करते रहेंगे। जिन शिक्षकों के शरीर दुर्बल हैं—क्योंकि

अभी कुछ समय तक अस्वस्थ तथा दुर्बल ही शिक्षक अधिकांश मिलेंगे—वे नौकरों की सहायता ले सकते हैं। इस नई शिक्षा-प्रणाली से कुछ समय के उपरान्त दुर्बल शिक्षक देखने के लिए भी नहीं मिलेंगे। साथ ही, इस बात का भी ध्यान रखना है कि शिक्षक गण आवश्यकता से अधिक शारीरिक श्रम किसी भी परिस्थिति में नहीं करेंगे। ये काम मोटे होते हैं और इन्हें करने के लिए मोटे-मोटे औजारों को हाथों से सँभालना पड़ता है—यदि इनके प्रयोग में हाथ अधिक अभ्यस्त हो जायँगे तो लेखनी को स्वाभाविक रूप से, सुविधा पूर्वक सँभाल नहीं पायेंगे। परन्तु उचित मात्रा में इन कामों को लगातार करते रहना है।

शिक्षकों का भोजन—हम शिक्षकों को अपना भोजन नियंत्रित तथा नियमित करना है। दिन भर में चार बार से अधिक भोजन करना किसी प्रकार भी सम्भव न होगा—दो बार नाश्ता तथा दो बार भोजन। पेट में भोजन को किसी भी परिस्थिति में हम ठूँसेंगे नहीं। अच्छा हो कि बीस प्रतिशत पेट प्रत्येक समय खाली रहे। नाश्ता या भोजन के पूर्व हाथ-पैर ठीक से स्वच्छ कर लेना आवश्यक है और प्रथम ग्रास उठाने के पूर्व नियमित रूप से श्रद्धा पूर्वक परमात्मा का ध्यान कर लेना चाहिए। कुछ लोग भोजन-छाजन के सम्बन्ध में कोई नियम-उपनियम, आदि नहीं मानते और अत्यन्त गन्दे ढङ्ग से भोजन करते हैं। हो सकता है कि उनके धर्म में किसी कारणवश भोजन, आदि उचित ढङ्ग से करने के सुझाव न दिये गये हों। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि किसी धर्म में इस प्रसङ्ग पर यदि कुछ सुन्दर तथा उपयोगी बातें दी गई हों तो उन्हें वे न सुनें और न मानें। गन्दे ढङ्ग से भोजन करने से विचार गन्दे होते हैं और सन्तानें गन्दी उत्पन्न होती हैं।

हम शिक्षक-गण इसी भारतीय विधि से भोजन करेंगे। सामूहिक भोजों में भी उन नियमों का पालन हो सकता है और किया जायगा। मेजों पर लगी हुई तश्तरियों में भी हम एक साथ स्वच्छता से भोजन कर सकेंगे। यदि पैरों को स्वच्छ करने में कठिनाई होगी तो हाथों को अवश्य विधिवत् स्वच्छ करेंगे; मुँह पानी से साफ कर लेंगे। व्यवस्थित रूप में मेजों के पास खड़े होंगे। सब लोग एक साथ हाथ उचित रूप में करके क्षण भर के लिए परमात्मा को याद करेंगे। इसके उपरान्त वहाँ का सर्वोच्च गुरुजन भोजन करना आरम्भ कर देंगे। वहाँ पर बात-चीत नहीं की जायगी; कोई भाषण नहीं दिया जायगा। हाँ, यदि प्रसङ्ग अच्छा हो तो रेडियो खोला जा सकता है; ग्रामोफोन में अच्छे रेकर्ड लगाये जा सकते हैं। भोजन चबा-चबा कर धीरे-धीरे खाया

जायगा। यदि संयोगवश कभी शीघ्रता करनी पड़े तो कुछ कम खाकर उठ जाना चाहिए न कि भोज्य पदार्थों को लील लिया जाय।

पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से आजकल हमारे देश में भी 'भोजन' को आवश्कयता से अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि शिक्षक भोजन करें ही नहीं परन्तु यह अवश्य कहा जायगा कि भारतीय शिक्षक भक्ष्याभक्ष्य का विचार अवश्य करेंगे। ऐसे भोज्य पदार्थों का उपभोग हम न्यूनतम करें जिनसे हममें तामस की वृद्धि हो—इससे हममें क्रोध, आलस्य, तन्द्रा आदि प्रज्वलित तथा विकसित होती हैं। अच्छा हो यदि तीस वर्ष की आयुतक सभी भारतवासी शाकाहारी रहें। वैज्ञानिकों तथा डाक्टरों की सम्मति में मांसाहार से शरीर के विकास में कतिपय लाभ होते हैं—यह कथन अकाट्य सत्य नहीं है। प्रथम तो यह कि उनके ये विचार पाश्चात्य धारणाओं से प्रभावित हैं। दूसरे, कुछ लोगों के शरीरों की आवश्यकताएँ ऐसी हो सकती हैं कि उन्हें मांसाहार से सम्भवत: कुछ लाभ हो। साथ ही, पहाड़ी प्रदेशों में, बंगाल और पञ्जाब में भी सम्भवत: इसकी आवश्यकता पड़ सकती है। इन अपवादों का ध्यान में रखते हुए छात्रों के लिए तथा तीस वर्ष तक के शिक्षकों के लिए इसका निषेध सम्भवतः अन्यायपूर्ण तथा अव्यावहारिक न होगा। दुकानों पर, होटलों में, सड़कों के किनारे शिक्षकों को किसी भी परिस्थिति में भोजन न करना चाहिए। जिस किसी स्थान पर उन्हें जाना पड़े वहाँ के प्राथमिक या माध्यमिक विद्यालय या उच्च संस्थाओं के छात्रालय में जो कुछ रूखा-सूखा भोजन उपलब्ध हो उसी से सन्तुष्ट होना चाहिए। यदि कभी किसी विषम परिस्थिति का सामना करना हो पड़े तो उस दिन सहर्ष उपवास कर जायँ।

प्रत्येक शिक्षक को महीने में तीन दिन व्रत अवश्य रहना होगा। व्रत के दिन जो रह सकें वे तो निराजल रहें अन्यथा दिन में केवल एक बार भगवान का ध्यान करके कुछ जल तथा फल, आदि अल्प मात्रा में खालें। जो शिक्षक किसी कारण वश मांसाहारी होंगे उनका यह परम कर्तव्य होगा कि महीने में जितने बार वे मांसाहार करेंगे उन्हें उतने ही दिन, इन तीन दिनों के अतिरिक्त, और व्रत रहना होगा। प्रधानाध्यापक, अध्यक्ष, छात्रालय-संरक्षक आदि किसी भी परिस्थिति में मांसाहार न करेंगे। परन्तु अपने मांहामारी शिक्षकों के प्रति उन्हें उदार रहना पड़ेगा। साथ ही, यदि कोई शिक्षक हर प्रकार से प्रधानाध्यापक होने योग्य हों परन्तु किसी अनिवार्य कारण वश मांसाहरी भी हों तो उच्चाधिकारी उन्हें प्रधानाध्यापक तथा अध्यक्ष अवश्य

नियुक्त करेंगे। वे लोग भी उपर्युक्त व्रतों द्वारा अपने को शुद्ध करते रहेंगे। परन्तु सामूहिक तथा सामाजिक भोजों में प्रत्येक शिक्षक, प्रधानाध्यापक, अध्यक्ष, आदि को अनिवार्य रूप में शाकाहारी ही रहना पड़ेगा। इसी प्रकार किसी नशीली वस्तु बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, मदिरा, आदि का भी बिलकुल निषेध रहेगा। शारीरिक आवश्यकताओं के आधार पर औषधि के रूप में वे शिक्षक जिनकी अवस्था कि चालीस वर्ष से अधिक है प्रधानाध्यापक की आज्ञा से इनका न्यूनतम सेवन कर सकेंगे। पर उनकी सन्तानें या उनके शिष्य या मित्र, आदि कोई भी व्यक्ति उन्हें इनका सेवन करते हुए न देख सकें। उन्हें इतना सावधान रहना पड़ेगा कि उनकी पत्नियाँ को भी इसका आभास न होगा। केवल प्रधानाध्यापक या अध्यक्ष इसे परोक्ष रूप से जानते रहेंगे।

शिक्षकों का व्यक्तिगत चरित्र—हम शिक्षकों को अपने व्यक्तिगत चरित्र को भी उच्चतम बनाना है। 'व्यक्ति-प्रधान' पाश्चात्य संस्कृति में लोग व्यक्तिगत चरित्र को 'कर्त्तव्य' से अलग अथवा उसके ऊपर कर देते हैं। उनकी परम्परा तथा परिभाषा के अनुसार यदि हम शिक्षक गण १० बजे दिन से ४ बजे शाम तक अर्थात् ६ घण्टे तक अपने निर्धारित कार्य को ठीक से कर लेते हैं तो शेष १८ घण्टों में कतिपय वाह्य नियमों का पालन करते हुए कुछ भी कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में उनकी परम्परा के आधार पर प्रत्येक उच्चाधिकारी को अपने मातहतों के केवल 'कानडक्ट' की चिन्ता रहती है; उनके 'कैरेक्टर' से वे अपना कोई विशेष सम्बन्ध नहीं मानते। इसी आधार पर यदि किसी न्यायाधीश के निर्णय को उच्च न्यायाधीश रद्द कर देता है तो नवीन निर्णय से केवल वादी तथा प्रतिवादी प्रभावित होते हैं; वकील साहबान तथा पूर्व न्यायाधीश प्रायः अछूते रह जाते हैं। भारतीय संस्कृति कर्म-प्रधान है। हमारे यहाँ किसी व्यक्ति का अपने कर्मों से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। हम लोगों के व्यक्तिगत चरित्र इस लिए नहीं गिर गये हैं कि हम स्वभावतः निकम्मे हो गये हैं, प्रत्युत इस लिए कि सांस्कृतिक संघर्षों के फल स्वरूप न तो हमारे सामने इस समय कोई निर्धारित आदर्श हैं और न उनके निर्धारण के लिए हम प्रयत्नशील हैं। व्यक्तिगत चरित्र की भारतीय परिभाषा एवं रूप-रेखा अत्यन्त व्यापक यथा सर्वतोमुखी है। संक्षेप में उसे हम इस प्रकार समझ तथा समझा सकते हैं कि जिस मात्रा में हमारा व्यक्तिगत चरित्र ऊँचा होगा उसी मात्रा में हमें अपने कर्त्तव्यों में सफलता प्राप्त हो सकेगी।

इस प्रस्तावित शिक्षा-योजना में हम शिक्षकों को अध्यापन के अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण काम भी करने हैं। प्राथमिक स्तर के शिक्षकों को पञ्चायत के

निर्णयों की स्वीकृति देने में, पुलिस कर्मचारियों को सत्य सूचना देने में, पटवारी या लेखपाल, आदि के कार्यों को पोषित या सम्पादित करने में, अत्यन्त सावधानी तथा तत्परता से कार्य करना पड़ेगा। यदि शिक्षक लोग पर्याप्त ईमानदारी तथा निष्पक्षता से कार्य करेंगे तभी अपने व्रत में सफल हो सकेंगे। वर्तमान काल में ग्रामीण वातावरण बहुत अधिक क्षुब्ध हो गया है। वहाँ के लोग रुपयों के बल पर जो चाहते हैं वही करा रहें हैं। शिक्षक-गण विविध प्रलोभनों से कैसे अपने को बचायेंगे —इसमें लोगों को सन्देह हो सकता है। साथ ही, यदि शिक्षक प्रत्येक प्रसङ्ग में निष्पक्ष भाव से कार्य करना जब आरम्भ करेंगे तो गाँव के शक्ति-सम्पन्न लोग उनके मार्ग में पग-पग पर रोड़ा अँटका सकते हैं। यह समस्या प्रत्येक स्तर के शिक्षकों को अपने अतिरिक्त कामों को करने में उपस्थित हो सकती है। पर स्मरण रहना चाहिए कि मनुष्य अपने लिए समस्याएँ स्वयं तैयार करता है। जिस व्यक्ति का चरित्र ऊँचा होता है उसके सम्मुख समस्याएँ स्वयं ध्वस्त हो जाती हैं अथवा यों कहा जाय कि आती ही नहीं।

कुछ लोगों का कहना है कि महात्मा गान्धी की निर्मम हत्या सम्बन्धी षड़यंत्र की कुछ दुर्गन्ध स्वर्गीय पटेल जी तक कुछ दिन पहले ही पहुँच चुकी थी और वे गान्धी जी की प्रार्थना-सभा में पुलिस का प्रबन्ध करना चाहते थे। परन्तु महात्मा जी ने रोक दिया। यदि यह सत्य है और इस पर हम विचार करें तो हमें यह पता चलता है कि 'सरदार' जी के सम्मुख तो एक विकट समस्या उपस्थित हो गई थी पर महात्मा गान्धी के लिए, यद्यपि वे उसी के शिकार हुए, वह कुछ भी न थी। वे निश्चिन्त रूप से मरण-पर्यन्त अपने काम में लगे रहे। यदि शिक्षक का अध्यापन सन्तोष-जनक रहेगा, यदि उनका जीवन नियमित तथा नियंत्रित रहेगा, यदि वे प्रलोभनों के शिकार न होंगे, यदि उनके निर्णयों तथा व्यवहार में पक्षपात की गन्ध न रहेगी तो निश्चय है कि उनके समक्ष कोई भी समस्या उपस्थित न होगी; उनका बाल भी बाँका न होगा। महात्मा गान्धी की वह हत्या इस लिए नहीं हुई कि उन्हें अपने किसी कुकर्म का दण्ड मिला प्रत्युत इसलिए कि बिना इस प्रकार की मृत्यु पाये वे संसार के सर्वोच्च महात्माओं के वर्ग में आ ही न सकते थे।

इस प्रकार यह असम्भव नहीं कि कभी किसी शिक्षक महोदय को अपने निष्पक्ष तथा सत्याधारित निर्णयों तथा कार्यों का अभाग्यवश शिकार हो जाना पड़े। ऐसे अवसरों पर शिक्षक महोदयों को लेशमात्र भी चिन्तित तथा क्षुब्ध न होना पड़ेगा। १७ दिसम्बर सन् १९५४ ई० को एल० टी० छात्रालय के

पुस्तकालय का उद्घाटन करते समय हमारे इन्स्टिट्यूट के सञ्चालक श्रद्धेय काज़िमी साहब ने अर्द्धवार्षिक परीक्षा से अस्वस्थता-प्रमाण-पत्र के बल पर छुटकारा पाने के लिए प्रयत्नशील 'छात्राध्यापकों को लक्ष्य करके कहा था —

"अस्वस्थता के कारण इस परीक्षा से न भगो। यदि मरना ही पड़ा तो परीक्षा-भवन में मर जाना अत्यन्त श्रेयस्कर होगा।"

वास्तव में कर्म-प्रधान संस्कृति में यही क्रम सभी क्षेत्रों में होता है। यदि कोई शिक्षक महोदय इस प्रकार इस संसार से बिदा हो जाते हैं तो वास्तव में वे अमर हो जायँगे। पर स्वर्ग में उन्हें तभी आनन्द मिलेगा जब कि उनके शेष वन्धुगण (शिक्षकगण) इन कामों को उनसे भी अधिक ईमानदारी तथा तथा निष्पक्षता और तत्परता से करेंगे। किसी शिक्षक के वलिदान हो जाने से हमारे आदर्शों को धक्का न लगेगा; हमारे व्रत को धक्का तो तब पहुँचेगा जब उस 'वलि' से भयभीत तथा आतङ्कित होकर शेष शिक्षक अपने कार्य में ढिलाई कर देंगे अथवा कावा काटने लगेंगे।

भावी शिक्षकों में, चाहे किसी भी स्तर के क्यों न हों, तत्परता और अध्यवसाय की विशेष आवश्यकता पड़ेगी। प्रस्तुत 'तर्क' के लिए हमारे यहाँ स्थान न होगा। मूल भारतीय संस्कृति में गुरुजनों की आज्ञाओं में साधारणतः शंकाओं का प्रश्न ही नहीं था चाहे अपना दाहिना अँगूठा ही क्यों न कट रहा हो। पर यह जनतंत्र तथा विज्ञान का युग है। फलतः इनकी भी विशेषताओं को हमें स्वाभाविक रूप से ग्रहण करना है। अब अपनी शंकाओं को गुरुजनों के सम्मुख सादर भाव से हम अवश्य रखेंगे। परन्तु अपनी आशा के प्रतिकूल निर्णय होने पर तनिक भी विचलित न होंगे और उनकी आज्ञाओं का सहर्ष अक्षरशः पालन करेंगे। वर्तमान काल में परिस्थिति यह है कि एक ओर तो हमें विभिन्न अभारतीय संस्कृतियों के प्रति अत्यधिक उदार रहना है और दूसरी ओर अपनी मूल भारतीय संस्कृति का उच्चतम पुनरुद्धार करना है। इस तारतम्य में कभी-कभी हमें अपनी पदोन्नति आदि के सम्बन्ध में भी चिन्तित तथा खिन्न होने के कुअवसर आ सकते हैं। इस सम्बन्ध में कई स्थानों पर संकेत किया गया है कि 'कर्म-प्रधान' संस्कृति में 'व्यक्ति' के दृष्टिकोण से पदोन्नति का प्रश्न ही नहीं उठता। इस आधार पर व्यक्तियों को ही अपने अरमान दवाने न पड़ेंगे प्रत्युत गुरुजन तथा उच्चाधिकारी भी किसी व्यक्ति को लक्ष्य करके पदोन्नति का निर्णय न करेंगे; वे विधिवत् विचारेंगे कि किसी 'कार्य' या 'पद' के लिए योग्य व्यक्ति कौन है? इस प्रकार तत्परता और अध्यवसाय की रक्षा

स्वभावतः समुचित रूप से होने लगेगी। पर इस वातावरण को उत्पन्न करने के लिए आरम्भ में हम शिक्षकों को पर्याप्त प्रयत्न, परित्याग या यों कहा जाय कि बलिदान करने पड़ेंगे।

शिक्षकों का आर्थिक दृष्टिकोण—हम शिक्षकों को देश के आर्थिक दृष्टिकोण में पर्याप्त परिवर्तन लाना है। हमारे यहाँ 'धन' अर्थात् 'लक्ष्मी' की भी व्याख्या अत्यन्त सुन्दर है परन्तु उनके प्रति हमारी वह श्रद्धा न थी जो कि 'विद्या' अर्थात् 'सरस्वती' के प्रति रही है। धन हमारे यहाँ केवल साधन मात्र रहा है; इसे 'साध्य' होने का सौभाग्य इसी वर्तमान समय में प्राप्त हुआ है। मध्यकाल में सुदामा और कृष्ण के प्रसङ्ग में श्री नरोत्तम जी ने सुदामा से कहलाया है :—

'औरन को धन चाहिय बावरि,
ब्राह्मण को धन केवल भिक्षा।'

इसका तात्पर्य यही है कि ब्राह्मण अर्थात् विद्वान अपने पास उतनाहीं धन रखें जितने से कि उनके दैनिक भोजन का काम चल जाय। उस समय तक प्रायः ब्राह्मण, जो कि समाज में जन्म से ही ऊँचे थे, विद्वान और शिक्षक होते थे। आज कल जन्म से ब्राह्मण न होने वाले भीं अनेक अथवा अधिकांश विद्वान तथा शिक्षक हैं। इस प्रस्तावित शिक्षा-योजना में शिक्षकों को विना किसी भेद-भाव के अनेक अधिकार दिये गये हैं। इस प्रकार भारयीयता के नाम पर यहाँ के शिक्षक अब सुविधा पूर्वक अपने जीवन में धन के महत्त्व को आरम्भ में न्यून, फिर न्यूनतर और अन्त में न्यूनतम कर देने के लिए धर्मवद्ध हैं। यदि अब हम लोग धन के चक्कर में पड़ेंगे तो हमें वे सब अधिकार कदापि न मिल पायेंगे। विश्वास रहना चाहिए कि 'अधिकार' वास्तव में प्राप्त नहीं किये जाते प्रत्युत कर्त्तव्यों से अंकुरित तथा विकसित होते हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क में आने से आज कल हम भारत वासियों के भी पेट बहुत बढ़ गये हैं। हमारे सारे प्रयत्न इसी दृष्टिकोण से हो रहे हैं। इसकी पुष्टि के लिए प्राचीन साहित्यों से भी उदाहरण तथा उद्धरण प्रस्तुत किये जाते हैं। आजकल सभी लोग एक स्वर से कहने लगे हैं :—

'बुभुक्षितः किं न करोति पापं,
क्षीणाः जना निष्करुणा भवन्ति।'

उपर्युक्त श्लोक 'पञ्चतंत्र' से उद्धरित है। ये समस्त कहानियाँ एक राजा के अयोग्य राज कुमारों को शिक्षित करने के लिए रची गई थीं। उन्हीं में से एक कहानी में गङ्गदत्त नाम के मेढक ने प्रियदर्शन नाम के सर्प से मित्रता की थी और प्रति दिन वह उस सर्प को एक मेढक खाने के लिए देता था। सब मेढक जब समाप्त होगये तो प्रियदर्शन ने गङ्गदत्त के पुत्र को ही खा लिया। इस पर गङ्गदत्त बहुत संतप्त तथा दुखी हुआ और यह सोचकर कि किसी न किसी दिन वह स्वयं खा लिया जायगा, वहाँ से हट गया। सर्पने बहुत आश्वासन दिया पर गङ्गदत्त उपर्युक्त श्लोक कह कर फिर वहाँ नहीं गया। वास्तव में दो बातें यहाँ पर मुख्य हैं (अ) ये, विद्वान-विशेष के विचार गङ्गदत्त के माध्यम से प्रकट हैं (ब) उस विद्वान ने अयोग्य राजकुमारों के मनोविज्ञान के अनुकूल ये बातें सोची थीं। फलतः विकृत व्यक्तियों या विकृत परिस्थितियों से सम्बन्धित हृदयोद्गारों के आधार पर यह कह देना कि प्राचीन काल में भी हमारे यहाँ 'भोजन' को विशेष महत्त्व दिया जाता था—उचित नहीं। यह सब कुछ उसी राजा की अदूरदर्शितावश हुआ था। इसी से उसके समस्त राजकुमार, उचित पथ-प्रदर्शन तथा उपयुक्त वातावरण के अभाव में, अयोग्य हो गये थे और इसी लिए सम्भवतः उस विद्वान का भी दरबार में उचित आदर न हो सका और उसने गङ्गदत्त से अपने हृदय के उद्गार कहलाये। साथही, गङ्गदत्त नाम के मेढक की भाँति यदि कोई व्यक्ति अपने ही भाई-वन्धुओं का बध नियमित रूप से कराने पर तुल जायगा तो हर प्रकार के अनर्थ अवश्यम्भावी होंगे ही।

प्रत्येक स्तर के भावी शिक्षकों का यह कर्त्तव्य होगा कि धन-सञ्चय के दृष्टिकोण से वे कोई भी कार्य न करेंगे। अपने निर्धारित कार्यों को भी सुसम्पादित करने में स्वभावतः कुछ न कुछ धन वे प्राप्त करते जायँगे। उस धनका सदुपयोग वे ऐसे ढङ्ग से करेंगे कि उससे परोपकार अधिक हो। साधन-हीन व्यक्तियों की सहायता वे दान-रूप तथा ऋण-रूप—दोनों विधियों से करेंगे परन्तु सिद्धान्त; इन ऋणों पर व्याज न लेंगे। आवश्यकता पड़ने पर साधक-सम्पन्न व्यक्तियों को भी उनके कार-बार बढ़ाने के लिए न्यूनतम व्याज पर ऋण देंगे। तीर्थ-यात्रा के लिए जो ऋण दें उस पर व्याज न लें। यथासम्भव विपन्न भिक्षुकों की सहायता सर्वदा करें। पाश्चात्य अर्थ-शास्त्र के सिद्धान्त पर हम लोग भिक्षुकों, फकीरों, साधुओं, आदि को हेय दृष्टि से देखने लगे हैं। समाज से तिरस्कृत होने के ही कारण इन लोगों का जीवन-क्रम भी इतना कुत्सित होगया है। अन्यथा समाज में इनके अस्तित्व हमारे लिए उपयोगी थे। [illegible]

अभावाच्छादित आकृति से हमें चेतावनी मिलती रहती थी और मिल सकती है।

पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि भारतीय साहित्यों में दुखान्त रचनाओं के न होने से मानव-जीवन का पूर्ण चित्रण नहीं हो सका है! वे महानुभाव अपने नवोत्थान के चकाचौंध में भारतीय संस्कृति और साहित्य की विशेषताओं को भाँप ही नहीं पाये। 'कर्म-प्रधान' संस्कृति में व्यक्ति के दुखी होने का प्रश्नही नहीं उठता। हाँ, उत्साहित तथा आल्हादित होने पर विषम से विषम परिस्थितियों में भी, जिनमें कि पाश्चात्य लोग अपने को दुखी, असफल, तिरस्कृत, आदि मान कर कहीं लुप्त हो जाते हैं अथवा आत्महत्या कर डालते हैं, हम लोग अडिग रूप में कार्य करते जाते हैं चाहे हमें मरना ही क्यों न पड़े। इसी लिए हमारे साहित्य में दुखान्त रचनाओं की आवश्यकता ही नहीं थी। दूसरे. जो प्रेरणा या चेतावनी पाश्चात्य लोगों को उनके साहित्य की कल्पित तथा परोक्ष दुखान्त रचनाओं से मिलती हैं वे हम भारतवासियों को प्रत्यक्ष रूप से इन भिक्षुकों, त्यागियों, साधुओं, आदि से पग-पग पर मिलती थीं या मिल सकती हैं। फलतः हम शिक्षक गण इन्हें उपेक्षा की दृष्टि से न देखेंगे।

पाश्चात्य आर्थिक सिद्धान्तों के आधार पर हमारा पारिवारिक जीवन नष्ट-भ्रष्ट हो रहा है। वयस्क होते ही बेटे अपनी-अपनी पत्नियों को लेकर माता-पिता से अलग होते जा रहे हैं। भाई-भाई में विभिन्न प्रकार के झगड़े खड़े हो रहे हैं। 'वसुधैवकुटुम्बकं' के सिद्धान्त के प्रवर्त्तक और पोषक देश में पारिवारिक शान्ति को भी इस प्रकार छिन्न-भिन्न होते देख कर किस सहृदय भारतवासी का हृदय विदीर्ण नहीं हो रहा है। पर पैसे के चक्कर में हम सभी लोग इस प्रकार जकड़ गये हैं कि दूसरों को तो ऐसा करते हुए देख कर टोकते हैं और भला-बुरा कहते हैं पर अवसर आने पर स्वयं भी वैसा ही कर बैठते हैं। यों तो अनेक क्षेत्रों में हमें आर्थिक सुधार करने है या यों कहें कि आर्थिक दृष्टिकोण बदलने हैं परन्तु दो दिशाओं में हमें अचिरात् ध्यान देना है। प्रथम तो परिवार को कुटुम्ब रूप देना है अर्थात् इसकी संघात्मक या सामूहिक प्रवृत्ति को प्रोत्साहित एवं पुनर्जीजित करना है। दूसरे, शादी-व्याह में प्रचलित दहेज प्रथा को हटाना है।

प्रत्येक स्तर के शिक्षकों को यह दृढ़ संकल्प करना है कि हम अपने सहोदर या सहोदरों से किसी प्रकार भी अलग न होंगे। उच्चकोटि के शिक्षक

वे कहलाएँगे जो अपने चचेरे भाइयों को भी विधिवत् मिलाकर रक्खेंगे। यदि कोई शिक्षक तीन भाई हैं तो उनका कर्त्तव्य यह होगा कि तीनों के आय के योग के तृतीयांश को वे अपनी वास्तविक आय समझेंगे। यदि शेष दो भाइयों की आय शिक्षक महोदय की आय से कम है तो इस सिद्धान्तका पालन निश्चत रूप से होगा। यदि इन भाइयों की आय अधिक है. और वे उस शिक्षक महोदय से नहीं मिलना चाहते तो उन्हें मौन तथा सन्तुष्ट रह जाना होगा। परन्तु अन्य उपायों द्वारा पारिवारिक सङ्गठन को अविछिन्न रखने का प्रयत्न हम शिक्षकगण करेंगे। शिक्षकों को इस योजना में अनेक अधिकार प्रस्तावित हैं। किसी भी आय का व्यक्ति अपने शिक्षक भाई से सम्भवतः तटस्थ रहना न चाहेगा। फलतः शिक्षकों को अपने इस व्रत में भी सफलता अवश्य मिलेगी।

दहेज की प्रथा से भी हमारा समाज इस समय सन्तप्त सा है। जब हम बेटे का व्याह करते हैं तो प्रायः यह भूल जाते हैं कि हमें बेटी का भी व्याह करना है। इसी भूल-भुलैया में सभी लोग दुखी हैं; दहेज की प्रथा का वास्तविक इतिहास विदित नहीं है। हो सकता है कि यह प्राचीन काल से चली आ रही हो। पर उस समय धन हमारे यहाँ साधन मात्र रहा। दहेज की न्यूनता या अधिकता पर व्याह निर्भर नहीं होते थे। वर्तमान काल में तो लड़के का पिता प्रायः यह घोषित कर देता है कि अमुक धन-राशि देने वाले सज्जन की ही बेटी से उसके बेटे का सम्बन्ध होगा। साग-सब्जी या गाय बैल के क्रय-विक्रय में जिस प्रकार का मोल-तोल होता है और सौदे का पटना दलालों की दक्षता एवं क्षमता पर निर्भर रहता है ठीक उसी प्रकार आज-कल हमारे यहाँ व्याह-शादियों का निर्णय होता है। प्रत्येक बारात तथा व्याह में लेन-देन के सम्बन्ध में दाव-पेंच लगाये जाते हैं और अन्त में मनोमालिन्य अवश्यम्भावी हो जाता है। अन्य लोग तो अपने-अपने कामों में लग जाते हैं पर सुसंस्कृत वर-वधू के मन में इस समय जो निशान पड़ते हैं वे प्रायः अमिट हो जाते हैं। आश्चर्य नहीं कि प्रथम साक्षात्कार के समय उनकी बात-चीत का आरम्भ, चाहे कितने ही सरस तथा परोक्ष रूप में क्यों न हो, इसी प्रसङ्ग से होता हो। यह गाँठ यहीं तक समाप्त नहीं होती प्रत्युत उनसे उत्पन्न सन्तानें भी किसी न किसी रूप में प्रभावित अवश्य होती रहती हैं।

उपर्युक्त क्रम तो उन व्याहों या सम्बन्धों में होता है जहाँ लोग फिर भी अच्छे तथा समझदार हैं। अन्यथा विदाई से पूर्व ही बाराती लोग भग जाते हैं; वधुएँ बहुत समय तक मैके में ही छोड़ दी जाती हैं। तङ्ग आकर

माताएँ अपनी ऐसी बेटियों को तथा उनके भाग्य को कोसती रहती हैं और श्वसुरालय में भी दहेज न पाने वाली बहुओं की सास-ननदें खिल्लियाँ उड़ाती हैं। प्रत्येक स्तर के शिक्षकों को यह दृढ़ संकल्प करना है कि एक ओर अपने बेटों के ब्याह में मनसा, वाचा, कर्मणा दहेज का प्रश्न सामने न रखेंगे और दूसरी ओर अपनी बेटियों के व्याह में उचित मात्रा से अधिक दहेज न देंगे। नकद रुपयों का लेन-देन यथासम्भव बिल्कुल न होगा। वर-वधू की आवश्यकताओं के अनुसार सामान दिये जा सकते हैं। परन्तु किसी शिक्षक महोदय की कन्या को कौन-कौन से सामान दिये जायँगे — इसका उल्लेख प्रत्यक्ष या परोक्ष, किसी भी रूप में व्याह पटाने के लिए कदापि न होगा। यदि इन सिद्धान्तों के आधार पर हम वैवाहिक सम्बन्ध करना आरम्भ करें तो निश्चिय रूप से हमारे समाज का कल्याण होगा!

शिक्षकों के सांस्कृतिक दायित्व—

(क) गुरुजन-सत्कार—हम शिक्षकों को अपनी 'संस्कृति' पर विशेष ध्यान देना है। यों तो संस्कृति की ही दोहाई इस पुस्तक के प्रत्येक प्रसङ्ग में दी गई है परन्तु यहाँ संकेत उन अभ्यासों की ओर है जो हमारे दैनिक जीवन में उपयोगी होते हैं। आजकल हमलोग अपने माता-पिता तथा अन्य गुरुजनों का उतना आदर-सत्कार नहीं कर रहे हैं जितना कि करना चाहिए। जो माता-पिता सुरक्षित तथा उच्च पदों पर हैं उनका तो दबाव सन्तानों पर है अन्यथा वे पग-पग पर तिरस्कृत हो रहे हैं। यदि पुत्र भाग्यवश, या यों कहें कि पिता के ही प्रयत्नों से, पिता से ऊँचा पद प्राप्त कर लेता है तो प्रायः उन्हें उपदेश देने के लिए उत्सुक एवं आतुर रहता है। 'व्यक्ति-प्रधान' संस्कृति या समाज में यह बहुत अनुपयुक्त नहीं होता—क्योंकि व्यक्ति होने के नाते और प्रत्येक व्यक्ति का प्रत्यक्ष अस्तित्व होने के नाते व्यक्ति निस्सन्देह दूसरे व्यक्ति (पिता) से बढ़ने का दावा कर सकता है। पर कर्म-प्रधान संस्कृति में यह अनुचित है। यहाँ तो बुरे कर्मों का भी अच्छे कर्मों से अटूट तथा उपयोगी सम्बन्ध पग-पग पर होता है।

पिता-पुत्र के तो नहीं पर गुरु-शिष्य का एक सुन्दर उदाहरण हमारे सामने अब भी है। प्रयाग विश्वविद्यालय के गणितज्ञ डा० गोरख प्रसाद जी, स्वर्गीय डा० गणेश प्रसाद जी के प्रिय शिष्यों में से हैं। सुनते हैं कि डा० गोरखप्रसाद जी ने गणित के किसी गहन प्रसङ्ग के ऊपर कोई अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ तैयार किया था। उस प्रसङ्ग के ऊपर डा० गणेशप्रसाद जी की

पुस्तक प्रचलित थी। परन्तु जब तक गुरुका स्वर्गारोहण नहीं होगया तब तक शिष्य ने अपने उस उपयोगी ग्रन्थ को अप्रकाशित रखा। यदि यह सच है तो निस्सन्देह इस प्रकाशन को रोक देने से अनेक प्रकार की असुविधाएँ अवश्य हुई पर इससे श्रद्धेय गोरख प्रसाद जी को अपने व्रत को पूरा कर लेने पर जो अलौकिक आनन्द हुआ होगा उसका अनुमान स्वर्ग में विचरने वाले डा० गणेश प्रसाद जी के अतिरिक्त किसी और को नहीं हो सकता।

प्रत्येक स्तर के शिक्षकों का यह परम कर्त्तव्य होगा कि वे अपने माता-पिता, गुरुजन, शिक्षक, आदि का वर्तमान समय में वे कहीं भी हों, अधिकाधिक आदर-सत्कार करें। हम सभी शिक्षकों को यह सिद्धान्त बना लेना है कि प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालय तक जितने भी शिक्षक हमें पढ़ाये हैं, उनका दर्शन होते ही हम लपक कर उनके चरण स्पर्श करें चाहे वे किसी भी वर्ग, वर्ण या धर्म के क्यों न हों। ऐसा करने में आरम्भ में कुछ झिझक होगी फिर तो कार्य अत्यन्त सरल हो जायगा। साथ ही, यथासम्भव अपने गुरुओं से हम किसी प्रकार का वाद-विवाद अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन के विचार से न करें। किसी प्रसङ्ग पर उनके सम्मुख हम अपने स्वतंत्र विचार वहीं तक प्रकट करते जायँगे जहाँ तक कि वे लोग उत्सुकता, उत्कण्ठा तथा प्रसन्नता के साथ सुनें। ज्योंही हमें इस बात का अनुभव हो कि गुरु जी हारने वाले हैं वहीं पर प्रसङ्गान्तर द्वारा हमें मौन हो जाना पड़ेगा।

(ख) <u>मित्रता</u>—हम शिक्षकों को मित्रता के क्षेत्र में भी भारतीय आदर्शों की रक्षा करनी है। गोस्वामी तुलसी दास जी ने लिखा है:—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी।
तिनहिं बिलोकत पातक भारी॥

कुछ महानुभावों की सम्मति है कि सरकारी नौकरी में सच्ची मित्रता हो ही नहीं सकती। वर्तमान परिस्थितियों में यह धारणा अधिक असङ्गत नहीं है। आजकल कई प्रकार के कपटी तथा स्वार्थी मित्र मिलते हैं। यदि ध्यान से देखा जाय तो इसके मूल में भी उसी आर्थिक दृष्टिकोण की प्रधानता है। लोगों में मित्रता होती है पर आर्थिक कारणों से आरम्भ में फीकी और फिर समाप्त सी हो जाती है। लोगों का कहना है कि मित्रता में जहाँ आर्थिक व्यवहार हुआ कि मित्रता समाप्त हो जाती है। बड़ी विडम्बना है—जब सब सुविधाओं का साधन धन है तो निश्चय है कि किसी मित्र की कठिनाई या दुःख के मूल में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में धन अवश्य होगा और धन का नाम लेते

ही मित्रता खटाई में पड़ जायगी—फिर ऐसी मित्रता का उपयोग ही क्या होगा ? प्रायः देखा गया है कि कोई व्यक्ति अपने मित्र को रुपया उधार देता है; संयोगवश वह मित्र बीमार पड़ता है और अभाग्यवश मरणासन्न हो जाता है; और लोग तो विभिन्न उपचारों द्वारा उसके प्राण बचाने के अन्तिम प्रयत्नों में व्यस्त रहते हैं परन्तु वह व्यक्ति इसलिए व्यग्र रहता है कि वह किसी प्रकार अपने रुपयों का सही करा ले। पर इसमें आश्चर्य ही क्या है ? धन-धरती की चाह ने जब सहोदरों के स्वाभाविक स्नेह को समाप्त कर दिया तो मित्रता का यह कृत्रिम धागा कहाँ तक टिक सकता है ?

सरकारी नौकरों की मित्रता को छिन्न-भिन्न करने का एक प्रवल कारण और भी है। अनुचित पदोन्नतियों से भी पारस्परिक मनोमालिन्य अंकुरित, विकसित तथा प्रज्वलित होते रहते हैं। व्यक्ति-प्रधान संस्कृति में इससे वाधा नहीं पड़ती। जो कोई भी व्यक्ति किसी पद पर आता है वह अपनी योग्यतानुसार कुछ न कुछ करता ही है। पर कर्म-प्रधान संस्कृति में इससे अनेक वाधाएँ उपस्थित होती हैं। अनुचित पदोन्नतियों से जो व्यक्ति प्रभावित होते हैं केवल उन्हीं के मन उद्विग्न नहीं होते प्रत्युत सम्पूर्ण वातावरण क्षुब्ध हो जाता है और कर्मचारीगण 'कर्म' से अधिक महत्त्व उस उच्चाधिकारी को देने लगते हैं जो कि पदोन्नति करते हैं। अनुचित पदोन्नतियों के मूल में भी वही आर्थिक दृष्टिकोण विशेष रूप से निहित है। ऊँचे पद के लिए लोग प्रायः इस लिए लालायित नहीं होते कि उन्हें ऊँचा काम मिलेगा प्रत्युत इस लिए प्रयत्नशील रहते हैं कि ऊँचा वेतन मिलेगा। कुछ भी हो इससे वास्तविक तथा स्वाभाविक मित्रता को घोर धक्का पहुँचता है।

इन परिस्थितियों में तो गोस्वामी तुलसी दास जी के उपर्युक्त आदर्शों (मित्रता-सम्बन्धी) की रक्षा न हो सकेगी। आजकल के विद्वान सम्भवतः यह कहेंगे कि 'दुखारी' होने का तात्पर्य केवल 'दुखित' होने से अर्थात् वेदना प्रकट करने से है न कि उनकी आर्थिक सहायता करने से। ऐसे लोगों से यह कहा जा सकता है कि अपने दुख या वेदना को दूर करेंगे या नहीं ? क्योंकि जब तक मित्र दुखी रहेगा तब तक वे स्वयं भी दुखी रहेंगे। इस सम्बन्धमें प्रत्येक स्तर के शिक्षकों से यह निवेदन है कि हितैषी तो वे अधिकाधिक के हों परन्तु मित्र बहुत थोड़े लोगों के। जिससे मित्रता करें उससे पूर्ण रूप से करें और आवश्यकता पड़ने पर अपने दुखी मित्र के लिए तन, मन, धन, आदि सभी कुछ न्योछावर कर दें। स्मरण रहना चाहिए कि यह स्वाभाविक है कि किसी दुखित तथा विपन्न व्यक्ति से सहृदय से सहृदय व्यक्ति भी मित्रता नकरा रे,

हाँ उसका सहायक तथा हितैषी अवश्य हो जायगा। किसी से मित्रता तब की जाती है जब कि वह व्यक्ति हर प्रकार से अनुकूल तथा योग्य जँचता है। मित्रता का बीजारोपण, विकास, प्रगाढ़ता, आदि सभी कुछ पारस्परिक आकर्षण पर निर्भर होता है।

फलतः जब कोई व्यक्ति अपना मित्र होने के उपरान्त दुखी होता है तो हमारा कर्त्तव्य हो जाता है कि उसकी हम हर प्रकार से सहायता करें। कौन जाने, हमारे सम्पर्क से ही उसके ग्रह बिगड़ गये हों ? हमारा कर्त्तव्य केवल अपने उस मित्र को ही उबारने का नहीं है प्रत्युत यदि अभाग्यवश उसकी असामयिक मृत्यु हो जाय तो उसकी सन्तानों को भी। हम शिक्षकों को वास्तविक मित्रता के विकास के लिए एक बहुत बड़ा त्याग और करना पड़ेगा। हम लोग अनुचित पदोन्नतियों को स्वीकार न करें। यहाँ उचित या अनुचित का निर्णय कार्यकालाधिक्य अर्थात् 'सीनियारिटी' के बल पर होगा। यदि हमारा सीनियर अपने नये तथा ऊँचे कार्य को करने में हिचकेगा तो हमारा परम कर्त्तव्य यह होगा कि उच्च पद पर नाम उसका रहेगा, उसकी सुविधाओं का का उपभोग वह करेगा परन्तु उसके कार्य को हम सब लोग मिल कर सहर्ष सुसम्पादित करेंगे। ऐसा कर लेने पर ही सच्ची 'कर्म-प्रधान' संस्कृति का विकास हो सकेगा। अनुचित पदोन्नतियों से काम चलता रहता है परन्तु मनोमालिन्य तथा होड़, में कार्य का सुसम्पादन कदापि नहीं हो पाता।

(ग) <u>जाति-पाँति के भेद-भाव</u>—हम शिक्षकों को जाति-पाँति, छुआ-छूत, आदि समस्याओं को भी सुलझाना है। यह कार्य अत्यन्त सावधानी तथा तत्परता का है। हमारी 'कर्म-प्रधान' संस्कृति में इन अन्तरों के महत्त्व थे और इनके होने से किसी के मन को सम्भवतः ठेस नहीं लगती थी। प्रत्येक वर्ग में सुविधाएँ तथा असुविधाएँ इस प्रकार विभक्त थीं कि किसी को किसी के प्रति सम्भवतः कोई आपत्ति नहीं थी। यदि ब्राह्मण सर्वोच्च थे तो एक ओर तो उन्हें कठिन जप-तप, व्रत, यज्ञ, आदि करने पड़ते थे और दूसरी ओर उनके पास फूटी कौड़ी भी नहीं होती थी और अपनी दैनिक आवश्यकताओं (भोजन तक) के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता था; क्षत्रिय यदि राजा थे तो एक ओर समाज में उन्हें सर्वोच्च स्थान नहीं प्राप्त था और दूसरी ओर अपना रक्त बहा कर देश की रक्षा करनी पड़ती थी; वैश्यों का यदि समाज में तृतीय स्थान था तो उन्हीं के हाथ में धन-धान्य, कृषि, वाणिज्य, कला-कौशल, आदि सभी कुछ थे और समस्त समाज का पोषक बनकर अपने ऊपर गौरवान्वित होते थे; शूद्रों को यदि सबकी सेवा करनी पड़ती थी तो वे अनेक कठिन कार्यों

अर्थात् यज्ञ, तप, देश-रक्षा, समाज-पोषण, आदि के दायित्वों से मुक्त थे। अपने-अपने कर्म करने में सभी व्यस्त थे। कालान्तर में जब इस वर्गीकरण का का आधार 'कर्म' न होकर 'जन्म' हो गया तभी से कठिनाइयाँ बढ़ीं। सर्वप्रथम तो हमें यह करना है कि एक ही कर्म करने के नाते हम शिक्षकों में यथासम्भव किसी प्रकार का भेद-भाव न रहेगा। जहाँ तक हमारा सम्बन्ध अन्य लोगों से है उसमें भी हमें उदारता तथा विवेक से काम करना है।

प्राचीन काल और मध्य काल में अलग-अलग रहना असम्भव न था। परन्तु वर्त्तमान काल में दो कारणों से ये भेद-भाव हास्यास्पद प्रतीत होते हैं। प्रथम है वैज्ञानिक आविष्कारों की अधिकता—रेल,जल-पोत, वायुयान, आदि में यात्रा करते समय तथा नलों का पानी पीते समय इन भेद-भावों की रक्षा कहाँ हो पाती है? रेल में भीड़ होजाने पर न जाने किनकी श्वासों में किनकी श्वासें मिलती हैं—पसीना में पसीना मिलता है। पास ही पास बैठकर एक साथ भोजन करने के लिए कट्टर से कट्टर व्यक्ति विवश होते हैं। रेडियो के कार्य-क्रम का सभी लोग आनन्द लूटते हैं। न जाने किन-किन लोगों के स्वर देश-देश, नगर-नगर, घर-घर के लोगों के कानों में गूँजते रहते हैं। विभिन्न समाचार पत्रों द्वारा विविध समाचारों के आदान-प्रदान होते रहते हैं। दूसरे, यह युग जन-तंत्र का है। यदि और कुछ नहीं तो पग-पग पर मत-दान के लिए प्रत्येक व्यक्ति के पास जाना ही पड़ता है। जिस व्यक्ति के प्रति हम जन्माधारित भेद-भाव रखेंगे उसके पास मत-प्राप्ति के लिए खुले हृदय से किस प्रकार जा सकते हैं। पारस्परिक व्यवहार की अस्वाभाविकता के ही कारण सन् १९५२ के चुनाव में प्रायः जातियों तथा वर्गों के आधार पर मत-दान हुए थे। यह कटु सत्य है कि १९५७ में इसे और भी प्रोत्साहन मिल गया। किसी व्यक्ति या जाति के प्रति उदार रहने का तात्पर्य यह नहीं होता कि उसके साथ हम रोटी-बेटी का व्यवहार ही करें; कदापि नहीं। रोटी और बेटी के व्यवहार के समय तो लोगों को अनेक सगे सम्बन्धी घेरे रहते हैं। लोग किनारा तो अन्य कठिनाइयों के समय कसते हैं। ऐसी ही कठिनाइयों के समय हम शिक्षकों का यह कर्तव्य होगा कि किसी भी व्यक्ति या वर्ग का हम यथाशक्ति तथा यथासम्भव साथ दें। यदि इसमें हम चूकेंगे तो अपने आदर्श से गिर जायँगे।

आर्थिक विषमता, सांस्कृतिक संघर्ष, निरक्षरता, आदि के फलस्वरूप हिमारे समाज में आजकल अनेक दुर्घटनाएँ हुआ करती हैं। उनका विस्तृत विवरण देना सम्भवतः उपयोगी न होगा। इनके सम्बन्ध में हमारा दो प्रकार

का कर्त्तव्य होगा। प्रथम तो यह कि उचित शिक्षा तथा तथा नियंत्रित व्यक्तिगत जीवन के द्वारा समाज के स्तर को क्रमशः ऊँचा करना और दूसरे अपराधियों के अपराधों की समुचित व्याख्या करना। उन्हें दण्ड तो समाज और सरकार दोनों से मिलेंगे परन्तु सामाजिक तथा सरकारी नियम-उपनियम प्रायः साधारण परिस्थितियों की ही व्यख्या करते हैं। समाज से बहिष्कृत तथा सरकार से दण्डित व्यक्तियों के लिए कोई सहारा दिखाई नहीं देता। हमारी विभिन्न समस्याएँ एक-दूसरी से ऐसी उलझी हुई हैं कि पग-पग पर अपराध होने चाहिए थे परन्तु इस देश की मूल-संस्कृति में सन्तोष और सहनशीलता का इतना पक्का गारा लगा हुआ है कि हमारे दीन-हीन भारतवासी अपने चिथड़ों में ही सहर्ष—

"राम खबरिया लेबै करिहैं।
दाया लगी तब देबै करिहैं॥"

का सस्वर पाठ किया करते हैं।

हम शिक्षकों का यह परम कर्त्तव्य होगा कि सर्वत्र ऐसा वातावरण बनायें कि यथासम्भव अपराध होने ही न पावें। नये अधिकारों को प्राप्त कर लेने पर हम शिक्षक इस योग्य हो जायँगे कि लोग हमारी बातों को सुनें, समझें तथा कार्य रूप में ले आवें। आजकल अभियोगों की सर्वत्र भरमार है। अधिकांश अभियोग सच्चे नहीं होते। अभियोगों की अधिकता या न्यूनता पर इस समय अनेक शिक्षित भारतवासियों की जीविका निर्भर है। अभी तक उन्हीं शिक्षितों की सरकार में भरमार है। फलतः मत-दाताओं के सम्मुख वचनबद्ध होते हुए भी सरकार कोई ऐसा कानून न पास कर पायेगी जिससे कि अभियोगों की संख्या घटे। अभियोगों, अभियोगियों, अपराधों, अपराधियों आदि से सम्बन्धित समस्याओं को सरल तथा स्वाभाविक रूप से सुलझाना हमारे ही लिए सम्भव है। प्रत्येक स्तर के शिक्षकों को यह प्रण करना है कि किसी भी परिस्थिति में वे न्यायालय में अपना कोई भी मामिला न लेजायँगे। यदि अभाग्यवश वे किसी कुचक्र में फँसा दिये जायँ तो अपनी रक्षा का भी कोई उपाय न करेंगे और जो दण्ड दिया जायगा उसको सहर्ष स्वीकार कर लेंगे।

(च) <u>अतिथि-सत्कार</u>—भारतीय संस्कृति की एक बहुत बड़ी विशेषता अतिथि-सत्कार सम्बन्धी है। मध्यकाल में भी भारतीय लोग अतिथि-सेवा अपना परम धर्म समझते थे। महात्मा कबीर दास जी की 'लोई' तथा 'साहूकार' के बेटेवाली कथा प्रसिद्ध है। वर्त्तमान काल में अतिथि की

परिभाषा में बहुत बड़ा रूपान्तर होगया है। बड़े-बड़े लोगों के यहाँ आज भी सुसज्जित अतिथि-भवन या अतिथि-कक्ष हैं पर उनमें उनके वे मित्र सम्बन्धी, उच्चाधिकारी, आदि ठहरते हैं जिनके आने की सूचना तथा उनके कार्य-क्रम पहले से ही प्राप्त होते हैं। बिना सूचित किये यदि कोई कभी आजाता है तो लोग भन्ना से उठते हैं। भारतीय पद्धति में अतिथि की व्याख्या इससे भिन्न अथवा यों कहें कि बहुत विस्तृत थी। हम लोग अतिथि प्रायः उसे भी अथवा उसे ही मानते थे जिससे हमारी कोई परिचय न होती थी और जो अचानक हमारे द्वार पर आजाता था। 'अतिथि' शब्द का सम्भवतः भाव यही है कि जिसकी तिथि निश्चित न हो। अपने सम्बन्धियों की सेवा-टहल तो सभी लोग करते हैं पर वास्तविक आश्रय तथा सहायता की आवश्यकता उस व्यक्ति को होती है जो अचानक किसी कठिनाई वश किसी अपरिचित के द्वार पर आने के लिए विवश होता है। अतिथि-सत्कार का कोईऔर महत्त्व चाहे हो या न हो पर इतना अवश्य है कि उस अपरिचित व्यक्ति के तटस्थ विचारों तथा अनुभवों से हम विधिवत् अवगत होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि हमारा अतिथि उच्च कोटि का पढ़ा-लिखा सुसम्पन्न व्यक्ति ही—कदापि नहीं। यदि ध्यान से देखाजाय तो साधारण व्यक्तियों से हम अधिक सीख सकते हैं। शिक्षित लोग अपने भेद कदापि नहीं बतायेंगे। परन्तु किसी साधारण व्यक्ति को अपनी राम-कहानी सुनाने में तनिक भी संकोच न होगा।

हम शिक्षकों का यह परम कर्त्तव्य होगा कि अपने द्वार पर आये हुए अतिथियों का उचित सत्कार अवश्य करें। उपर्युक्त अनुभव चाहे और किसी काम के हों या न हों परन्तु 'शिक्षा' और 'सहृदयता' के दृष्टिकोण से अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होंगे। किसी भी स्तर का अतिथि आवे हमें उसका उचित स्वागत करना चाहिए। यदि उसकी वेश-भूषा, रङ्ग रूप, आदि में कोई विचित्रता हो तो भी उसका परिहास न होने पावे। यदि घर के स्वामी (शिक्षक महोदय) को किसी अपरिचित व्यक्ति का स्वागत करते हुए उनकी सन्तानें देखेंगी तो उनमें (उन सन्तानों में) कई विशेषताएँ स्वभावतः अंकुरित, विकसित तथा पुष्पित होने लगेंगी। अतिथि की बातों को सुनने, जानने तथा समझने और विचारने के लिए गुरुजनों के साथ-साथ उन सन्तानों में भी स्वाभाविक जिज्ञासा उत्पन्न होगी। हम चाहे जिस स्तर के शिक्षक हों और हमारा अतिथि चाहे जिस स्तर का व्यक्ति जँचता हो परन्तु हम किसी प्रकार भी उसकी ओर से उदासीन न होंगे।

यदि कोई अतिथि अपने कुटुम्बियों से रुष्ट होकर हम तक पहुँचा

है तो हमारा यह कर्त्तव्य होगा कि एक दो दिन में समझा-बुझाकर उसे उसके घर पहुँचवा दें। जो अपरिचित लोग किसी कार्य वश भी हमारे द्वार पर उपस्थित होंगे तो उनके साथ हम उचित शिष्टता से व्यवहार करेंगे। श्रद्धेय पं० गोविन्द वल्लभ पन्त जी की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि जो कोई उनका दर्शन करता है उसकी सभी बातों को वे अत्यधिक सहानुभूति तथा उदारता के साथ सुनते हैं। कुछ समय तक इस कार्य के सुसम्पादन में एक बाधा यह पड़ेगी कि दुष्ट प्रकृति के कुछ लोग अतिथि के रूप में धोका देने का प्रयत्न कर सकते हैं। आरम्भ में कुछ सावधानी से कार्य करना पड़ेगा; फिर तो थोड़े ही समय के उपरान्त ऐसे लोग वहाँ जाने का दुस्साहस स्वयं न करेंगे या यों कहें कि समाज में ऐसे लोग होंगे ही नहीं।

यों तो शिक्षकों का जीवन अत्यन्त सादा होगा परन्तु अतिथियों की सुविधाओं का उन्हें ध्यान अवश्य रखना पड़ेगा। विज्ञान ने समस्त संसार में सम्पर्क स्थापित कर दिया है। यह सम्भव है कि हमारे द्वार पर व्यक्ति-प्रधान संस्कृति वाले अतिथि भी आयेंगे। अपनी परिस्थितियों के अनुसार प्रत्येक स्तर के शिक्षक का कर्त्तव्य होगा कि अपने घर में एक कमरा या बैठक इस प्रकार से सजायें अर्थात् उसमें ऐसे सामान रखें जिनसे किसी भी संस्कृति के अतिथि को असुविधा न हो। ऐसे अतिथि प्रायः उच्च स्तर के शिक्षकों के पास आ सकते हैं और उनके लिए वेतन भी पर्याप्त माँगा गया है। उनकी बैठक में अच्छी-अच्छी कुर्सियाँ तथा मेजें लगी होंगी; पर यथा-सम्भव शिक्षक महोदय अपने निजी प्रयोग में एक तख्त, उसके ऊपर एक कम्बल, कम्बल के ऊपर दरी या पतला गद्दा और सबसे ऊपर सफेद रङ्ग की स्वच्छ चादर काम में लायेंगे। उसी पर बैठकर वे अध्ययन, बात-चीत, आदिकरेंगे। कहने का तात्पर्य यही है कि किसी भी अतिथि को किसी प्रकार की असुविधा न होने पावे।

(छ) <u>देश-रक्षा</u>— हम शिक्षकों को देश की रक्षा के लिए हर प्रकार से सन्नद्ध तथा कटिबद्ध रहना पड़ेगा। शस्त्र-रक्षित राष्ट्र में ही व्यवस्थित शास्त्र-चर्चा सम्भव हो पाती है। अपने प्राचीन गौरव से विदेशियों के सम्मुख हम इसी लिए गिरे कि उनके साथ युद्ध करने में भी प्रायः हम उन्हीं नियमों और आदर्शों से काम लिया करते थे जो हमारी संस्कृति के अनुकूल थे। ऐसा होने से उन लोगों को बहुत सी सुविधाएँ मिल गईं। इस प्रकार हम शिक्षकों को उच्चकोटि की सैनिक शिक्षा भी प्राप्त करनी होगी। जिन शिक्षकों की अवस्था तीस वर्ष से कम होगी उन्हें वर्ष में तीन महीने और जिनकी अवस्था तीस वर्ष और चालीस वर्ष के बीच में होगी उन्हें वर्ष में दो महीने के लिए किसी सैनिक

शिविर में जाकर उच्चकोटि की सैनिक शिक्षा लेनी होगी। शिविर में प्रत्येक स्तर के शिक्षक यह भूल जायँगे कि समाज में कौन-कौन से अधिकार उन्हें प्राप्त थे। वहाँ पर सच्चा सैनिक-जीवन होगा। आशा यह कि जाती है कि वर्तमान सैनिक-शिक्षण की परम्परा में भी हम सुन्दर आदर्शों की स्थापना कर सकेंगे। कहा जाता है कि सेना में अनपढ़ लोग इस लिए जाते थे कि उनको अपने प्राणों की माया कम रहती है या यों कहा जाय कि पशुओं की भाँति वे प्रत्येक स्थान पर भिड़ा दिये जाते थे। निस्सन्देह, व्यक्ति-प्रधान संस्कृति में काया या शरीर का महत्त्व होता है। फलतः वहाँ पर इस प्रकार के कपटाचार हो सकते हैं। हमारी कर्म-प्रधान संस्कृति में तो आत्मा अमर है। सबसे सुन्दर मृत्यु किसी व्यक्ति की वह है जिसमें कि अपने कर्म में लगा हुआ वह इस असार संसार से डेरा कूच करे।

अनिवार्य सैनिक-शिक्षा का तात्पर्य यह नहीं है कि प्रत्येक शिक्षक निश्चित रूप से सैनिक अभ्यासों में ही लगा दिया जायगा। जिन शिक्षकों का शरीर तथा स्वास्थ्य उपयुक्त न होगा अथवा जिनकी मूल-प्रवृत्तियाँ अत्यन्त कोमल होंगी उन्हें वहाँ न भेजा जायगा। ऐसे शिक्षक उसी प्रकार अवस्थानुसार वर्ष में तीन महीने के लिए अथवा दो महीने के लिए अपनी योग्यता तथा रुचि के अनुरूप टेलिग्राम-कला, मोटर-सञ्चालन, रेल-सञ्चलान, बैंकों की कार्य प्रणाली, बिजली के कारबार, इंजीनियरिंग के काम तथा अन्य टेकनिकल कार्यों को सीखेंगे तथा अभ्यास करेंगे। इन कार्यों तथा अभ्यासों के करने में हमारे दो उद्देश्य होंगे। प्रथम तो अपने अध्यापन को अत्यधिक पूर्ण तथा उपयोगी बनाना और दूसरे, इन विभागों के लोग सरकार को कभी-कभी अत्यन्त अनुचित माँगों द्वारा हड़ताल करके आतङ्कित किया करते हैं। आतङ्कित व्यक्ति या समाज या सरकार प्रायः किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाया करती है। जब उनकी माँगें उचित तथा समाजोपयोगी होंगी तब हम लोग मौन रहेंगे, अन्यथा सरकार की कठिनाई में हम सहायता करेंगे। हमारे इस उद्देश्य से किसी वर्ग को यह भ्रम न होना चाहिए कि हम उनके प्रतिकूल जा रहे हैं। हम अपनी योग्यता को बढ़ा लेंगे ताकि यदि हमारा समाज या हमारी सरकार अन्य लोगों की चालों से कठिनाई में पड़े तो हम विवश दृष्टि से हाथ पर हाथ रख कर अकर्मण्य न रह सकें।

हमारे सैनिक-अभ्यास इतने विस्तृत तथा व्यवस्थित होंगे कि हम जल, स्थल, वायु, आदि सभी सेनाओं में दक्षता और तत्परता पूर्वक कार्य कर सकें। सैनिक अभ्यासों तथा कार्यों में हमारे वर्गीकरण अध्यापन के वर्गीकरण

के आधार पर न होंगे। जो शिक्षक सैनिक-शिक्षा में अत्यन्त कुशल तथा दक्ष प्रतीत होंगे वे ही, चाहे जिस स्तर के हों, सभी स्तर के शिक्षकों के नायक तथा कमांडर होंगे। भगवान न करें कि ऐसा हो, परन्तु युद्ध घोषित हो जाने पर तत्काल कम से कम बीस प्रतिशत ऐसे कुशल तथा सिद्धहस्त शिक्षक रहेंगे जो कि तुरन्त देश की रक्षा के लिए आगे बढ़ जायँगे। इन कामों में हमें शीघ्रता करने की आवश्यकता नहीं है। इन्हें हम धीरे-धीरे अत्यन्त सावधानी से एक के उपरान्त दूसरी और दूसरी के विधिवत् कार्यान्वित हो जाने पर तीसरी योजना चलायेंगे। आश्चर्य नहीं कि एक ऐसा समय आ जायगा जब कि उच्च कोटि की सैनिक शिक्षा हमारा शिक्षा-विभाग स्वयं अपने ही अधिकारियों द्वारा देने लगे।

छुट्टियों का सदुपयोग—हम शिक्षकों को अपनी छुट्टियों के सदुपयोग के सम्बन्ध में भी ध्यान देना है। ये छुट्टियाँ तथा अवकाश विदेशी सरकार द्वारा निर्धारित किये गये थे। कुछ महानुभावों की सम्मति में ये अवकाश अत्यधिक हैं और इन्हें कम करने के लिए प्रायः प्रस्ताव रखे जाते हैं। वर्त्तमान रूप में ये छुट्टियाँ तथा अवकाश वास्तव में अधिक तथा अनावश्यक प्रतीत होते हैं। और देशों में कितनी छुट्टियाँ होती हैं और उनका सदुपयोग किस प्रकार होता है—हमें ठीक से न तो विदित ही हो पाता है और न इसे विदित होने की आवश्यकता ही है। जहाँ पर व्यक्ति-प्रधान संस्कृति है वहाँ के लोग छुट्टियों का उपयोग अपने व्यक्तिगत कार्यों अथवा यों कहे कि 'हाब्बीज़' में करते हैं। हमारे यहाँ के शिक्षा-विभाग के भूतपूर्व अंगरेज शिक्षा-अधिकारी भी यहाँ पर छुट्टियों का उपयोग अपने ढङ्ग से करते थे। यदि ध्यान से देखा जाय तो हमें पता चलता है कि ये छुट्टियाँ अधिक नहीं हैं प्रत्युत इनका उपयोग उचित रूप में नहीं हो पाता है। धार्मिक पर्वों की जितनी छुट्टियाँ होती हैं उनका सदुपयोग उस धर्म-विशेष के अनुयायी शिक्षक गण भी नहीं करते। विदेशी सरकार ने धर्म से हम लोगों को इतना आतङ्कित कर दिया है कि हमने अपने 'संविधान' में भी धर्म को एक किनारे कर दिया है। अन्य उत्सवों, खेल-कूद, वाद-विवाद, आदि के उपलक्ष में जो छुट्टियाँ होती हैं उनका कार्य-क्रम प्रायः यह होता है कि संस्था के अच्छे-अच्छे छात्रों को छाँटकर प्रतियोगिताएँ कराई जाती हैं और किसी उच्च अधिकारी द्वारा एक सुसज्जित पारितोषिक-वितरण कराया जाता है। ग्रीष्मावकाश का उपयोग तो प्रायः विश्राम करने में होता है। इसी क्रम से क्षुब्ध होकर कभी-कभी सहृदय लोग भी यह कह देने के लिए विवश होते हैं कि शिक्षक लोगों को अत्यधि छुट्टियाँ मिलती हैं और वे लोग कोई ठोस कार्य नहीं करते हैं।

इन छुट्टियों का उपयोग किसी निश्चित योजना के अनुसार होना चाहिए. धार्मिक पर्वों की जितनी छुट्टियाँ होती हैं उनमें जिस धर्म का वह पर्व हो उसके सहृदय तथा मुख्य अनुयायियों और अभिभावकों के सहयोग से संस्था में एक परिषद् डेढ़-दो घण्टों की हो। उसमें प्रत्येक धर्म के कुछ लोग भाग लें—परन्तु धर्म विशेष की त्रुटियों के उल्लेख कदापि न हों। उसकी अच्छाइयों तथा विशेषताओं की ही व्याख्या की जायगी। यदि किसी धर्म का कोई ऐसा पर्व आ जाय जिसका कि प्रसङ्ग कुछ विकट हो और उसमें कटुभावना या वाद-विवाद सम्भावित हों तो उन परिस्थितियों का सिंहावलोकन सावधानी से किया जाय जिनके कि फल स्वरूप वे घटनाएँ घटी थीं और छात्रों के मन में यह बैठाया जाय कि उस समय उस कार्य को उस रूप में करने के लिए लोग विवश थे परन्तु उसे इस प्रकार करने से यही नहीं कि 'वह कठिनाई दूर हो जायगी प्रत्युत इतनी अच्छाइयाँ भी आ जायँगी।' खेल कूद के समय केवल सीमित-सामूहिक-प्रतियोगिताएँ ही न हों प्रत्युत प्रत्येक शिक्षक महोदय कुछ छात्रों को लेकर अलग-अलग खेल-कूद का अभ्यास प्रत्येक छात्र द्वारा करायें। विशेष ध्यान उन छात्रों की ओर दिया जाय जो कि पढ़ने में बहुत अच्छे होते हैं परन्तु खेल-कूद को हेय दृष्टि से देखते हैं अथवा उनसे अनभिज्ञ होते हैं। यदि सावधानी से कार्य किया जाय तो यह धारणा ही समाप्त हो जायगी कि पढ़ने वाले छात्र खेलने में ठीक नहीं होते। यही क्रम हमारा वाद-विवाद, अन्त्याक्षरी, कहानी-कथन, आदि में भी होना चाहिए। हमारा यही उद्देश्य होना चाहिए कि हम साधारण से साधारण छात्र को भी कुछ न कुछ अभ्यास प्रत्येक क्षेत्र में करा दें अर्थात् प्रत्येक छात्र की रुचि सभी उपयोगी कार्यों तथा अभ्यासों में यथासम्भव हो जाय।

जो अवकाश बड़े और लम्बे अर्थात् एक सप्ताह से अधिक के होते हैं उनमें हमारा कार्य विद्यालय के अन्तर्गत ही सीमित न होगा। यह अनिवार्य न होगा कि प्रत्येक शिक्षक नगर से बाहर गाँवों या अन्य नगरों को जायें ही—परन्तु इस प्रकार की कोई न कोई पूर्वनिश्चित तथा निर्धारित योजना प्रत्येक के सम्बन्ध में रहेगी। जो शिक्षक गम्भीर स्वभाव के हों वे खेलाड़ी छात्रों को विधिवत् अध्ययनोचित अभ्यास नियमित रूप से करायें। अन्य शिक्षक-गण पढ़ाकू छात्रों को लेकर गाँव-गाँव या नगर-नगर का भ्रमण निर्धारित उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए करें। उनके अन्य उद्देश्य जो होंगे वे तो होंगे ही पर सबसे बड़ा उद्देश्य यह होगा कि वे पता लगायें कि—(अ) धन-हीन लोगों के जीवन को विनोद-पूर्ण कैसे बनाया जा सकता है? (ब) गाँवों में अभि-

योगों की संख्या कैसे घटाई जा सकती है और प्रस्तुत अभियोगों में से कितनों में स्थायी तथा मनोमालिन्य-रहित सन्धियाँ हो सकती हैं? (स) गाँवों की स्वच्छता के लिए क्या किया जा सकता है? इत्यादि। कर्म-प्रधान संस्कृति की विशेषताओं को स्पष्ट करने के लिए कुछ सुन्दर व्याख्यान सरल भाषा में अथवा यदि सम्भव हो तो श्रोताओं की बोलियों में दिये जायँ।

ग्रीष्मावकाश का भी सदुपयोग हमें करना चाहिए। इसी समय प्रायः व्याह-शादियाँ अधिकता से होती हैं और उनमें शिक्षकों की उपस्थिति अनिवार्य मानी गई है। इन कार्यों को करते हुए भी प्रत्येक शिक्षक का यह कर्त्तव्य होगा कि प्रति दिन तीन घण्टे बौद्धिक कार्य तथा दो घण्टे शारीरिक श्रम अवश्य करें। गर्मी के कारण यह ऐसा समय होता है जब कि गाँव के लोग भी कम ही कार्य करते हैं। शिक्षक महोदयों को शारीरिक श्रम करते हुए देखकर अन्य लोग भी कार्य करने के लिए प्रेरित होंगे। आज कल गाँवों में पढ़े लिखे लोग श्रम करने में हिचकते हैं। दूसरी ओर, जिन पढ़े-लिखे लोगों को नौकरियाँ नहीं मिल सकीं और वे विवश होकर कृषि या व्यापार में लग गये वे लोग प्रायः पुस्तकों को हाथ से छूते भी नहीं। हमारे देश में अभाग्यवश यह धारणा स्थायी हो गई है कि पढ़ा-लिखा व्यक्ति खेती नहीं कर सकता और खेती-बारी करने वाला व्यक्ति पढ़ नहीं सकता। इस प्रकार नियमित रूप से बौद्धिक कार्य तथा शारीरिक श्रम का सामञ्जस्य स्थापित करके शिक्षक महोदय समाज का बहुत बड़ा हित करेंगे।

यदि उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर हममें से प्रत्येक स्तर के शिक्षक कार्य करने लगेंगे तो अचिरात् लोग यह कहने के लिये विवश होंगे कि इन शिक्षक महोदयों के अधिकार बहुत कम हैं। आश्चर्य नहीं कि अपने आप ही वे यह भी कहने के लिए उत्सुक हों कि यदि इन लोगों के अधिकार और बढ़ा दिये जायँ तो ये लोग हमारे जीवन को और अधिक व्यवस्थित एवं नियमित बनवा डालेंगे।

[निष्कर्ष]

सिंहावलोकन—शिक्षकों के अधिकार अधिक; परन्तु उनके कर्त्तव्य में यदि पर्याप्त वृद्धि तो अधिकार कम प्रतीत होने लगें। वर्तमान कर्त्तव्य और भारतीय 'कर्म' में अन्तर; रामचरित मानस से भी इसकी पुष्टि; शिक्षकों का भरत बनना; भरत बनने के अनुकूल स्थिति का न होना; परन्तु प्रतिकूल स्थिति

में ही भरत, आदि का बनना सम्भव; भारतवर्ष के मौलिक आदर्शों में वर्तमान शिक्षित वर्ग का विश्वास न होना; त्याग और परोपकार के अभ्यास से प्रस्तुत जीवन में भी अपना ही वास्तविक कल्याण; शिक्षकों के भरत बनने से तात्पर्य कर्तव्य को व्यक्तित्व से ऊपर उठाना; मार्ग या कर्तव्य-निर्धारण सुगम कदापि नहीं परन्तु भरत हो जाने पर एवं व्रत ठान लेने पर गुत्थियों का लोप। शिक्षकों के भरत बनने में विविध बाधाएँ—परिवारिक एवं आर्थिक-सामयिक, साम्प्रदायिक; इन कठिनाइयों का निवारण सरल एवं सुगम; भारतीय वातावरण में सामञ्जस्य एवं सहनशीलता की सर्वाधिक क्षमता। भरत बनने में 'सादगी' का विशेष उपयोग; सादगी का महत्त्व प्रत्येक धर्म एवं संप्रदाय में; सादगी की सीमा केवल वेश-भूषातक ही नहीं; वेश-भूषा केवल वाह्य उपकरण; मन की स्वतंत्रता परमावश्यक; मन की स्वतंत्रता कर्मण्यता के अनुरूप।

भारतीय शिक्षकों की दिनचर्या—प्रातः काल चार-साढ़ेचार बजे उठना; शिशुओं और वृद्धों के अतिरिक्त सभी का उठ जाना; अपने-अपने धर्म के अनुसार परमात्मा का स्मरण; शौच, स्नान, आदि से निवृत्त होकर पन्द्रह मिनट तक फिर पूजा; इनमें एक घण्टे से अधिक समय नहीं; गुरुजन अभिवादन; पन्द्रह मिनट तक व्यायाम अथवा आधे घंटे तक टहलना; एक घंटा अध्ययन; एक घण्टा शरीरिक श्रम; सप्ताह में अतिरिक्त कार्यों और श्रम में समान तथा बराबर समय; विद्यालय में ठीक पौने दस बजे पहुँचना; चार बजे तक लौटना और आधा घंटा नाश्ता, विनोद, आदि में; सप्ताह में तीन दिन नियमित रूप से खेलना और शेष तीन दिन बाजार, आदि जाना, १५ मिनट पूजा; कम से कम १½ घंटे अध्ययन; प्रत्येक शिक्षक प्रति दिन कम से कम २½ घंटे अध्ययन; रात्रि में ठीक पौने दस बजे गुरुजन-अभिवादन; भगवान का ध्यान और सो जाना। दिन चर्या की पूर्त्ति के लिए नौकरों, आदि से न्यूनतम सहायता लेना।

शिक्षकों का भोजन—दिन में अधिक से अधिक चार बार; २० प्रति शत पेट सर्वदा खाली; खाने के पूर्व हाथ, पैर, मुँह, आदि विधिवत् शुद्ध; सामूहिक भोजन भी शिष्टता एवं स्वच्छता के साथ; भोजन करते समय अकारण बोलना या वार्त्तालाप उपयोगी नहीं; पाश्चात्य सम्पर्क से आज कल भोजन को हमारे यहाँ भी आवश्यकता से अधिक महत्त्व; तीस वर्ष की अवस्थातक शाकाहारी रहना सम्भवतः उपयोगी; होटलों, आदि में शिक्षकों का भोजन करना उपयोगी नहीं; विषम परिस्थितियों में उपवास ही उपयोगी। महीने में

कम से कम तीन दिन व्रत; मांसाहारी शिक्षकों को व्रत अधिक आवश्यक।

शिक्षकों का व्यक्तिगत चरित्र— व्यक्तिगत चरित्र की पवित्रता; कर्मों से अविच्छिन्न सम्बन्ध; व्यक्तिगत चरित्र के भारतीय आदर्शों का पूर्ण पालन आवश्यक; सच्चाई और निष्ठा से बड़ी-बड़ी बाधाएँ भी लुप्त; किसी भी प्रलोभन से कर्म-च्युत् न होना; कर्मठ व्यक्ति अमर। भावी शिक्षा-योजना में तत्परता, अध्यवसाय, संतोष, आदि विशेष रूप से अपेक्षित।

शिक्षकों का आर्थिक दृष्टिकोण—भारतीय परम्परा में धन केवल साधन मात्र; ब्राह्मणों का धन केवल भिक्षा; लक्ष्मी और सरस्वती; शिक्षकों का उद्देश्य धन-संचय कदापि नहीं; 'कर्म' के सुसम्पादन से साधन एवं धन योंही प्राप्त परन्तु उसके निमित्त प्रयत्नशील कदापि न होना; भिक्षुकों के प्रति घृणा नहीं; भिक्षुकों की उपयोगिता। पाश्चात्य आर्थिक सिद्धान्तों के प्रचार और प्रभाव से भारतीय सामूहिक परम्परा का सर्वनाश; इनका पुनरुद्धार हमारा परम कर्तव्य; दहेज-प्रथा का निमूॅलन आवश्यक।

शिक्षकों के सांस्कृतिक दायित्व—(क) गुरुजन-सत्कार माता-पिता एवं अन्य गुरुजनों का समुचित आदर परमावश्यक; व्यक्तित्व-प्रधान समाज में यह दायित्व उतना प्रमाणित नहीं; गुरुजनो एवं शिक्षकों का सादर (चरण स्पर्श करते हुए) अभिवादन परमावश्यक। (ख) मित्रता—भारतीय आदर्श ऊँचा तथा उपयोगी, सरकारी नौकरियों में भी इसका पालन सम्भव; अनुचित पदोन्नतियों का अपने ही कल्याण के लिए त्याग आवश्यक; मित्रता थोड़े ही लोगों से भले ही हो परन्तु जिनसे हो, पूरी हो। (ग) जाति-पाँति के भेद-भाव— यह कार्य अत्यन्त सावधानी का; हमारे प्राचीन समाज में ये भेद-भाव उपयोगी रहे; उच्चता और वैभव में सामंजस्य न था; ऊँचे लोगों के दायित्व भी इतने ऊँचे थे कि साधारण लोगों को कोई आपत्ति न हो सकती थी; वर्तमान स्थिति भिन्न तथा भयावह; जन्म के आधार पर ऊँच-नीच होना घातक तथा अन्याय-पूर्ण; समाज के कतिपय क्षेत्र में शिष्ट क्रान्ति आवश्यक; अभियोग, अपराध, आदि की परिभाषा में परिवर्तन आवश्यक; यह परिवर्तन शिक्षकों ही द्वारा सम्भव। (च) अतिथि-सत्कार— भारतीय आदर्श ऊँचा; वर्तमान परम्परा अपूर्ण एवं अनुचित; केवल परिचित तथा सगे सम्बन्धियों को अतिथि मानना; अपरिचित अतिथियों की विशेष उपयोगिता; अतिथियों की सेवा उनकी ही रुचि तथा आवश्यकता के अनुसार। (छ) देश-रक्षा— समाज की रक्षा के साथ-साथ देश-रक्षा भी शिक्षकों का

परम दायित्व; आयु के अनुसार नियमित रूप से दो-दो, तीन-तीन महीनों के लिए सैनिक शिविरों में प्रति वर्ष जाकर सैनिक-प्रशिक्षण लेना; अनिवार्य सैनिक शिक्षा के अन्तर्गत सभी कुछ सीखना; शिक्षक वर्ग को यथा सम्भव सभी कुछ जान लेना ताकि समाज और सरकार की किसी भी परिस्थिति में सेवा हो सके।

छुट्टियों का सदुपयोग—वर्तमान रूप में शिक्षा-विभाग में छुट्टियों का वास्तव में अधिक प्रतीत होना; छुट्टियों के उपयोग की रूप-रेखा में आमूल परिवर्तन आवश्यक; धार्मिक पर्वों को विद्यालयों में समुचित रूप से मनाया जाय; खेल-कूद में सभी छात्रों को उत्साहित किया जाय; लम्बी छुट्टियों में विद्यालय से बाहर के कार्य-क्रम निर्मित हों; ग्रीष्मावकाश का सदुपयोग अधिक तत्परता तथा सावधानी से।

उपर्युक्त विधि से कार्य करने पर लोग अचिरात् कहने लगेंगे कि शिक्षकों के अधिकार कम हैं।

अध्याय ७

भावी शिक्षा-योजना में अभिभावक

सिंहावलोकन—अब यह विधिवत् स्पष्ट हो गया कि विज्ञान और जनतंत्र के प्रभाव से वर्तमान युग में अपनी भारतीय शिक्षा तथा शिक्षा-पद्धति को भक्ति-मूलक रूप हम तब तक नहीं दे पायेंगे जब तक कि अभिभावकों का समुचित सहयोग हमें प्राप्त नहीं हो जाता। प्राचीन काल में पूर्ण रूप से और मध्यकाल में अंशतः गुरु और राजा के ही उपर क्रम से शिक्षा तथा राज्य-व्यवस्था निर्भर थी। पर अब परिस्थितियाँ पूर्णतया परिवर्तित हो गई हैं। अभिभावकों के अन्तर्गत केवल वे ही महानुभाव नहीं आते जिनकी कि सन्तानें विद्यालयों में पढ़ने जाती हैं प्रत्युत वे सभी वयस्क हैं जो कि अपने व्यवहार, अनुभव, ज्ञान, आदि से शिक्षार्थियों को प्रतिदिन और पग-पग पर प्रभावित करते रहते हैं। प्रायः देखा जाता है कि हमारे अनेक किशोर बहुत से अनुचित तथा अव्यावहारिक कार्यों को माता-पिता से छिपाकर करते हैं परन्तु उन्हीं माता-पिता के दोस्त-मित्र, किसी कुत्सित भावना से ही नहीं, यही नहीं कि उन किशोरों की बचत के उपाय निकालते हैं प्रत्युत अपने सम्मुख उन कामों को होने देते हैं। वे दोस्त-मित्र उदारता अथवा किसी उद्देश्य से ऐसा नहीं करते। माता-पिता भी—चाहे शिक्षित हों अथवा अशिक्षित परन्तु अपने बच्चों को आज कल किसी अनुचित कार्य से दृढ़ता पूर्वक नहीं रोकते। सांस्कृतिक संघर्षों के कारण हमारी, उचित और अनुचित की परिभाषाएँ उलझ सी गई हैं। यदि कोई व्यवहार हमारी संस्कृति में अनुचित है तो पाश्चात्य संस्कृति में उचित है और यदि वहाँ त्याज्य है तो यहाँ ग्राह्य है। इसी से माता-पिता, उनके दोस्त-मित्र, आदि सन्तानों और छात्रों के प्रत्येक व्यवहार की उपयोगिता कहीं न कहीं और किसी न किसी रूप में पा जाते हैं और दुविधा में मुँह फेर लेते हैं।

समाज का वर्तमान दृष्टिकोण आर्थिक हो जाने से भारतीय परिवारों की कठिनाइयाँ बढ़ गई हैं। इन कठिनाइयों का मूलाधार धनाभाव ही, जैसा

कि अर्थशास्त्र के तथा अन्य देशी और विदेशी अनेक विद्वान कहने लगे हैं, नहीं है। यदि ध्यान से देखा जाय तो हमारे सुसम्पन्न परिवारों में भी आजकल वास्तविक सामंजस्य का अभाव हैं। किसी व्यक्ति या परिवार या समाज का जीवन सुख-मय तभी होगा जब वह सुसम्पन्न होने के साथ-साथ सुसंस्कृत भी हो। पाश्चात्य संस्कृति में किसी भी घर को सुगमता से 'होम' बनाया जा सकता है परन्तु हमारी संस्कृति के अनुसार अनेक अभ्यासों तथा प्रयत्नों के उपरान्त वह 'गृह'बन पाता है। बहुत से नवशिक्षित भारतवासी प्रायः सोचते हैं कि हम लोग भी उसी सुगम मार्ग का अनुसरण करके अपना काम क्यों नहीं चला सकते? इसी आधार पर स्वतंत्र भारत में भी अनेक योजनाएँ बनाई जा रही हैं; अनेक विचित्र धाराएँ पास की जा रही हैं परन्तु इनसे हमारी कठिनाइयाँ और बढ़ती जा रहीं हैं। इस सम्बन्ध में दो-तीन बातें विधिवत् विचारणीय हैं।

प्रथम बात यह है कि प्रकृति के कुछ क्षेत्रों में विज्ञान की भी दाल सम्भवतः नहीं गल पाती। उन्हीं क्षेत्रों से सम्बन्धित एक अकाट्य सत्य यह है कि टेम्स, राइन, डैनूब, आदि नदियों की घाटियों की मिट्टी से 'होम' निर्मित हो सकते हैं और गङ्गा, यमुना, गोदावरी, आदि नदियों की मिट्टी से 'गृह' ही बन सकते हैं। इसके विपरीत, योग्य तथा शक्तिमान लोग जा सकते हैं और प्रायः गये भी हैं, परन्तु इतिहास साक्षी है कि महान से महान व्यक्ति भी इसमें सफल नहीं हो सके हैं। खेद का विषय है कि वर्तमान भारतवर्ष के महान व्यक्ति भी ऐसे ही संदिग्ध प्रयत्नों में अपार धन तथा शक्ति का अपव्यय कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में दूसरा अकाट्य सत्य यह है कि 'होम' यदि सरलता और सुगमता से बनते हैं तो उससे भी अधिक शीघ्रता से नष्ट-भ्रष्ट भी हो जाते हैं और 'गृह' यदि कठिनाई तथा तपस्या से निर्मित होते हैं तो इनकी नींव इतनी गहरी होती है कि इनके खण्डहर भी शताब्दियों तक लोगों को चेतावनी देते रहते हैं। तीसरे, उच्चतम 'होम' से भी केवल व्यक्ति-प्रधान' संस्कृति का ही पोषण सम्भव है। हमारी 'कर्म-प्रधान' संस्कृति को तो इससे पग-पग पर धक्के लगते रहते हैं।

'होम' और 'गृह' के अन्तर हमें यदि स्पष्ट हो जायँ तो सम्भवतः हमारी अनेक वर्तमान गुत्थियाँ सुलझ जा सकती हैं। इस 'तर्क-प्रधान' युग में किसी गुत्थी को सुलझाना तथा स्पष्ट करना कठिन है, और यह कठिनाई इसलिए और बढ़ गई है कि हमारे अधिकांश वर्तमान विद्वान, नेतागण, आदि 'होम' को ही अच्छा मानने के लिए विवश हैं। यह तो नहीं कहा जा सकता कि 'गृह-खण्डहरों' की चेतावनी से लोग अप्रभावित हैं परन्तु इतना कहने में

संकोच भी नहीं होना चाहिए कि उस चेतावनी के अनुसार कार्य करने में लोग अपने को असमर्थ पा रहे हैं। यों तो 'गृह' और 'होम' में अनेक अन्तर हैं—उनके मूल आदर्श ही भिन्न हैं—परन्तु इनमें से दो अन्तर का उल्लेख तथा उनकी संक्षिप्त व्याख्या आवश्यक है। प्रथम है आर्थिक दृष्टिकोण में अन्तर और दूसरा है दाम्पत्य जीवन की भिन्नता। आर्थिक दृष्टि-कोण की पर्याप्त व्याख्या पिछले अध्याय में शिक्षक महोदयों के सम्बन्ध में हुई है। जिन-जिन नियमों का निर्धारण उनके लिए हुआ है लगभग वे सभी प्रत्येक भारतवासी के लिए उचित तथा उपयोगी हैं। दाम्पत्य जीवन की भिन्नता पर अधिक अभी विचार करना सम्भवतः उपयोगी न होगा।

दाम्पत्य जीवन के सम्बन्ध में केवल इतना संकेत किया जाता है कि पाश्चात्य संस्कृति में जहाँ एक बहुत बड़ी सुविधा यह प्रतीत होती है कि कोई पुरुष एक ही पत्नी रख सकता है वहाँ सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि सम्बन्ध-विच्छेद सुगमता से हो जाता है। फलतः पति-पत्नी दोनों को सतर्क तथा सावधान रहना पड़ता है। प्रत्येक कार्य को करते समय वे अपने व्यक्तित्व के लिए चौकन्ना रहते हैं। कहा जा चुका है कि प्रकृति की कुछ ऐसी विचित्रता है कि महिलाओं का स्वास्थ्य, सौन्दर्य एवं आकर्षण अपेक्षाकृत शीघ्रता से गिरता है। इस सावधानी तथा सतर्कता के फल-स्वरूप वहाँ के दाम्पत्य जीवन अचिरात् सन्देहाधारित तथा विवादपूर्ण हो जाते हैं—तर्क के बलपर वे एक, दूसरे के सम्मुख प्रायः अपने को निर्दोष तथा सच्चरित्र सिद्ध करते रहते अथवा करती रहती हैं। इन्हीं उलझनों के कारण पाश्चात्य समाज में कितने ही नवयुवक तथा नवयुवतियाँ आजन्म अविवाहित अथवा अविवाहिता पाये जाते अथवा पाई जाती हैं। मानव जीवन के इस इतने महत्त्वपूर्ण, अनिवार्य तथा परमावश्यक प्रसङ्ग की अनभिज्ञता की अमिट छाप उनकी साहित्यिक तथा वैज्ञानिक कृतियों पर स्पष्ट रूप से झलकती रहती है। यही कारण है कि उनके यहाँ दुखान्त रचनाओं का विशेष आदर होता है।

हमारी कर्म-प्रधान संस्कृति में तो इस तार-तम्य से पग-पग पर कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं। विवाद और सन्देह के अंकुरित हो जाने पर किसी भी व्यक्ति का ध्यान कर्तव्य की ओर चाहे वह कितना ही ऊँचा, उपयोगी तथा पवित्र क्यों न हो, कैसे लग सकता है? प्रस्तुत तथा प्रत्यक्ष कार्यों के ही सुसम्पादन में टाल-मटोल होने लगती है और जब हमारे 'कर्मों' का सम्बन्धीकरण पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्म से करना पड़ता है तो हम प्रायः किंकर्त्तव्य-विमूढ़ से हो जाते हैं। पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, उपकार-अपकार, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य,

यश-अपयश, आदि सभी की हमारी रूप-रेखा अस्त-व्यस्त हो गई है। इन्हीं को विधिवत् समझने तथा समझाने और इन्हीं आदर्शों के अनुसार सत्कर्मों में लगने से हम वास्तव में मनुष्य कहलाने के अधिकारी होते हैं। पेट-पालन तो पशु भी कर ही लेते हैं। आज कल हमारे देश के सभी नेता गण, विद्वान; वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ, आदि रोटी की ही समस्या हल करने में व्यस्त हैं। यहाँ के भिक्षुक गण भी "राम खबरिया लेवै करिहैं। दाया लागी देवै करिहैं" के स्थान पर 'पेट न होय। तो भेंट न होय॥' का नारा चाव से लगाने लगे हैं। इस दयनीय दशा का अधिक चित्रण न करके यही निवेदन है कि हम सब भारतवासी अपने 'गृहों' का निर्माण अथवा पुनरुत्थान शीघ्राति-शीघ्र करें।

<u>शिक्षकों का उचित सम्मान</u>—भारतीय अभिभावकों का प्रथमकार्य यह है कि हम अपने शिक्षकों का समुचित तथा अधिकाधिक आदर करें। इस प्रस्तावित शिक्षा-योजना में शिक्षकों को अपेक्षाकृत अनेक अधिकार दिये गये हैं पर साथ ही उनके निर्धारित कर्त्तव्य भी असाधारण हैं। उनके कर्त्तव्य इतने विस्तृत तथा व्यापक कर दिये गये हैं कि अभिभावकों के सहयोग के विना उनका पूरा होना असम्भव है। कोई भी कार्य सम्पादित तभी हो पाता है जब कि उसके अनुकूल उपयुक्त वातावरण विकसित होता रहता है; नियमों और सिद्धान्तों के निर्धारण-मात्र से कुछ भी नहीं हो पाता। सरकार तो शीघ्रातिशीघ्र शिक्षकों के अधिकार तथा कर्त्तव्यों की एक विस्तृत रूप-रेखा तैयार कर दे सकती है पर यह समाज का दायित्व होगा कि उन अधिकारों की समुचित रक्षा कर के इन शिक्षकों को अपने कर्त्तव्यों की पूर्त्ति के लिए प्रेरित करे।

अभिभावकों के अन्तर्गत सभी प्रकार के लोग हैं। सभी विद्वानों, रईसों, राजनीतिज्ञों, नेताओं, उच्चाधिकारियों, आदि की सन्तानें इन विद्यालयों में पढ़ती हैं। साथ ही, देश तथा प्रान्तों के प्रधान तथा मुख्य मंत्रियों, शिक्षा मंत्रियों, शिक्षा-सचिवों, शिक्षा-सञ्चालकों, आदि की भी सन्तानें इन्हीं शिक्षा-संस्थाओं में जायँगी। अंगरेजी शासन-काल में प्रत्येक प्रान्त के बड़े-बड़े नगरों में यूरोपियन स्कूल थे (हैं भी) और उनमें प्रायः साधारण अंगरेजों, भारतीय उच्च अधिकारियों, उच्च वकील-बैरिस्टरों, कतिपय रईसों, आदि की सन्तानें पढ़ती थीं। पर विचित्रता यह है कि अंगरेज तो यहाँ से चले गये हैं पर इन संस्थाओं की दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति हो रही है। वर्तमान मंत्रियों, सचिवों, सभा-सचिवों, लोक-सभाओं तथा व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्यों, अन्य अधिकारियों, आदि की सन्तानें उन संस्थाओं में पढ़ रही हैं।

उपर्युक्त यूरोपियन स्कूलों में कार्य पाश्चात्य संस्कृति के दृष्टिकोण से अत्यन्त व्यवस्थित रूप में होता है। अंगरेजों के बच्चों को तो इन संस्थाओं में पढ़ना इसलिए उपयोगी था कि उनका जीवन ब्रिटेन तथा ब्रिटिश समाज में व्यतीत होना था, पर इन भारतीय बच्चों को किसी विदेशी संस्कृति की सुव्यवस्थित शिक्षा क्यों दी जा रही है इसे बड़े लोग ही जानें। इन स्कूलों में पढ़े-लिखे बच्चे भारतवर्ष की विभिन्न कठिनाइयों का सामना कैसे कर पायेंगे? कुछ लोग कह सकते हैं कि इन छात्रों की उच्चशिक्षा तो एक ही साथ विश्वविद्यालयों में होती है; पर स्मरण रहना चहिये कि इन छात्रों के विविध संस्कार बचपन में ही अंकुरित तथा विकसित होते हैं। किशोरावस्थातक जब वे यूरोपियन स्कूलों में पढ़ते हैं तो उनके चाल-ढाल, हाव-भाव, राग-रङ्ग, आदि अभारतीय रङ्ग में विविध रूप से रँग जाते हैं। उनका जीवन चाहे कितनाहूँ वैभवपूर्ण क्यों न हो परन्तु ऊँचा तथा सुखमय कदापि नहीं हो सकता।

यह दृढ़ता पूर्वक कहा जा सकता है कि यूरोपियन स्कूलों में अपने बचों को पढ़ाने वाले लोग एक ही साथ कई अहित कर रहे हैं। अपने बच्चों को उन स्कूलों में चुपके से इस लिए पढ़ा रहे हैं कि वे संस्थाएँ व्यवस्थित हैं और उनमें पढ़ने वाले बच्चे अपनी बात-चीत, आदि से माता-पिता को अधिक प्रभावित करते हैं। अपने सीमित तथा भ्रामक सन्तोष के लिये वे बच्चों को समाज से अलग कर देते हैं और उनका भविष्य अर्थात् जीवन दुविधा-पूर्ण हो जाता है। दूसरे, इन्हीं उच्च महानुभावों तथा उच्चाधिकारियों का यह परम कर्त्तव्य और दायित्व है कि अपनी शिक्षा-संस्थाओं को भारतीय ढङ्ग से सुधारें। यदि उनके भी बच्चे इन्हीं साधारण संस्थाओं में पढ़ते तो यहाँ की कठिनाइयों और विवशताओं का अनुभव उन्हें दिन-प्रतिदिन होता रहता। फिर इन शिक्षकों का इतना नग्न छिद्रान्वेषण कदापि न हो पाता। यदि निष्पक्ष भाव से विचारा जाय तो इन यूरोपियन स्कूलों की उपयोगिता तो हमारे लिये अब उतनी भी नहीं रह गई है जितनी की संस्कृत तथा अरबी-फारसी के इन वर्तमान पाठशालाओं तथा मकतब-मदरसों की है। खेद का विषय है कि 'व्यक्ति-प्रधान' शिक्षा में शिक्षित होने के कारण हमारे नेतागण तथा उच्च अधिकारी अपनी रुचि, अपने सुख, अपने विचारों के लिए जितने प्रयत्नशील और आतुर हैं उतने अपने देश तथा बच्चों की आवश्यकताओं और उनके कल्याण के लिए नहीं।

फिर भी, अनेक प्रभावशाली व्यक्तियों तथा उच्च अधिकारियों की सन्तानें इन साधारण विद्यालयों में पढ़ रही हैं। शिक्षकों के साथ इन महानुभावों

का व्यवहार बहुत ही घातक तथा दयनीय होता है। उनके शिष्यों के सामने ही, गद्दी पर तोंद सँभालते हुए सेठ लोग तथा मोटर से उतरते हुए उच्च अधिकारीगण तड़से कह उठते हैं 'मास्टर! तू तो बड़े कामचोर हो भाई!' इससे गुरु को तो कम पर शिष्य और शिक्षा (भारतीय संस्कृति-पोषक-शिक्षा) को अत्यधिक हानि पहुँचती है। इस परिस्थिति का विश्लेषण पिछले अध्यायों में विधिवत् हो चुका है। यदि भारतीय शिक्षा तथा संस्कृति का पुनरुत्थान हमें करना है तो चाहे जिस स्तर के ऊँचे से ऊँचे अभिभावक क्यों न हों पर शिक्षा, शिक्षालय तथा शिक्षक के सम्मुख उन्हें नतमस्तक होना पड़ेगा। अपनी सन्तानों की जानकारी में कभी भी वे किसी शिक्षक की बुराई न करेंगे। यदि किसी शिक्षक के प्रति क्षोभ या असन्तोष हो तो गाँव या नगर के सुसंस्कृत लोग अत्यन्त गुप्त मंत्रणा करके 'सती' या 'बीसा' या 'तीसा' के मत-दान से शिक्षक को चेतावनी दे सकते हैं। इसके भी फल-स्वरूप यदि शिक्षक न सँभलें तो अत्यन्त सावधानी से गुप्त तथा शिष्ट उपायों को कम में लायें। शिक्षा-सञ्चालक, शिक्षा-मंत्री, शिक्षा-सचिव, आदि उच्च अधिकारियों का यह परम कर्तव्य होगा कि वे कृपया प्राथमिक पाठशालाओं के शिक्षकों से भी अत्यन्त सहृदयता तथा शिष्टता से मिलेंगे। ये 'मिलाप' शिक्षालयों में, शिक्षाधिकारियों के निवास स्थान पर अथवा शिक्षकों के निवास स्थान पर—कहीं भी हो सकते हैं।

उपर्युक्त 'मिलापों' की कुछ विशेषताएँ होंगी। प्रथम तो यह कि शिक्षक महोदय अपने किसी व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये नहीं मिलेंगे। भावी शिक्षा-योजना में शिक्षकों के स्वार्थ का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यह स्पष्ट कर दिया गया है कि उनके व्यक्तिगत स्वार्थ प्रधानाध्यापकों अथवा अध्यक्षों के हाथ में सुरक्षित रहेंगे। शिक्षा-विभाग अथवा अन्य विभागों के उच्च अधिकारियों और शिक्षकों के मिलाप केवल दो रूपों में सम्भव होंगे। जिस शिक्षा-संस्था में उन अधिकारियों की सन्तानें पढ़ेंगी वहाँ के शिक्षक उन लोगों को संस्था में अभिभावक के रूप में आमंत्रित करते रहेंगे अथवा उनके निवास स्थान पर स्वयं जाकर उन बच्चों की प्रगति के बारे में बात-चीत करेंगे। दूसरे 'संस्था सम्बन्धित तथा अवसरानुकूल अन्य उच्च अधिकारीगण शिक्षा संस्थाओं के दर्शनार्थ (निरीक्षण के लिए नहीं) जायँगे। प्रथम उद्देश्य से जाने पर वे सम्बन्धित शिक्षकों से बात-चीत करेंगे और द्वितीय उद्देश्य होने पर उनका पथ-प्रदर्शन प्रधानाध्यापक अथवा अध्यक्ष महोदय करेंगे।

शिक्षक महोदय उच्च अधिकारियों से शिक्षा-सम्बन्धी अपने अनुभवों तथा

मौलिक विचारों के सम्बन्ध में भी मिल सकते हैं। ऐसे मिलाप प्रायः अध्यक्षों की अनुमति से हो सकेंगे। अवसर–विशेष पर शिक्षक महोदय यदि किसी उच्च अधिकारी से प्रधानाध्यापक या अध्यक्ष की अनुमति के बिना मिल लेंगे तो कोई बहुत बड़ा अपराध नहीं माना जायगा। अनुमति प्राप्त हो अथवा न हो पर शिक्षकगण किसी भी परिस्थिति में, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष में—किसी भी रूप में अपनी संस्था अथवा अपने प्रधानाध्यापक या अध्यक्ष की किसी प्रकार की निन्दा न करेंगे। राष्ट्रपति, प्रधान मंत्री, राज्यपाल, आदि महानुभावों को भी चाहिये कि अपनी सन्तानों की संस्थाओं में अभिभावकों के रूप में प्रायः जाने के लिए उत्सुक रहें। अच्छा हो कि ऐसे अवसरों पर ये लोग उन संस्थाओं में एक साधारण नागरिक के रूप में जायँ।

कुछ लोगों को यह भ्रम हो सकता है कि शिक्षकों को जब इतना अधिक सम्मानित करना है तो फिर शिक्षा-मंत्री, शिक्षा-सचिव, शिक्षा-सञ्चालक, आदि उच्च अधिकारियों की आवश्यकता ही क्या है? शिक्षकों का दायित्व केवल अध्यापन ही तक सीमित रहेगा; शिक्षा सम्बन्धी वाह्य उपकरण व्यवस्था, आर्थिक पूर्ति. समय-समय पर शिक्षा की उपयोगिता का मूल्याङ्कन, आदि इन्हीं अधिकारियों द्वारा सम्भव होगा। इन सबके पचड़ों में यदि शिक्षक पड़ेंगे तो अध्यापन सुचारु रूप से कदापि नहीं कर पायेंगे। गाड़ी, नदी पार करने के लिए नाव को तभी प्राप्त कर सकती है जब कि सूखी भूमि पर वह उसे अपने ऊपर चढ़ाकर नदी तक ले आये रहेगी। अभी दस-बीस वर्ष तक तो इन अधिकारियों को हटाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता परन्तु इस भावी शिक्षा-योजना के पूर्ण रूप से कार्यान्वित तथा विकसित हो जाने पर भी ये लोग अनिवार्य ही होंगे। यदि इनके अस्तित्व को कोई क्षति पहुँचाई जायगी तो अचिरात् हमारी शिक्षा की लगभग वही दशा हो जायगी जो कि मध्यकाल में यूरोप के 'पोप' की हुई थी। विज्ञान और जनतंत्र द्वारा वर्तमान युग की ही यह देन नहीं है कि विविध 'रोक-थाम' से अधिकारों और कर्तव्यों में सामञ्जस्य स्थापित किये जाते हैं, प्रत्युत हमारी मूल भारतीय संस्कृति में भी इसके अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। श्री गणेश जी, श्री शङ्कर जी के पुत्र हैं परन्तु शङ्कर जी के व्याह में गणेश जी की पूजा कराई गई है। ऐसे ही उदाहरण शङ्कर जी और रामचन्द्र जी पारस्परिक सम्बन्धों के स्पष्टी-करण में हमें मिलते हैं।

शिक्षा, शिक्षालय तथा शिक्षक के प्रति उपर्युक्त उच्च अभिभावकों के व्यवहार जब इस प्रकार के होंगे तो साधारण नागरिकों तथा अभिभावकों के

दायित्व स्वतः स्पष्ट हो जायँगे। सिद्धान्त रूप से विवश होकर शिक्षकों का सम्मान कुछ ही दिनों तक करना पड़ेगा—फिर तो क्रमशः वे स्वयं इतने ऊँचे होते जायँगे कि भ्रम तथा दुविधा के लिए कोई स्थान ही न रह जायगा। उच्चकोटि के शिक्षित नवयुवक शिक्षक ही होने के लिए उत्सुक तथा प्रयत्न-शील होंगे। यहाँ उच्चकोटि से तात्पर्य केवल प्रथम श्रेणी में पास होनेवालों से नहीं है। प्रथम श्रेणी में पास होनेवालों में वे लोग जो कि महत्त्वाकांक्षी तथा अनुदार होते हैं, सफल शिक्षक कदापि नहीं हो सकते। ऐसे लोग केवल प्रखर बुद्धि के कतिपय अध्यवसायी छात्रों का सफल पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं। वर्तमान कक्षाओं में प्रत्येक प्रकार के छात्र पढ़ रहे हैं—सांस्कृतिक संघर्षों के फलस्वरूप उनमें अधिकांश परिश्रमी तथा पढ़ाकू नहीं होते। ये महानुभाव लोग साधारण छात्रों की त्रुटियों से कक्षाओं में आतङ्कित तथा उद्विग्न हो उठते हैं। उच्चकोटि के शिक्षक वे लोग माने जायँगे जिनके कि हृदय इतने विशाल तथा उदार हों कि वे एक ओर तो साधारण से साधारण शिक्षार्थी को ऊपर उठाने में और दूसरी ओर प्रतिभा-सम्पन्न छात्रों को ऊँचा से ऊँचा ले जाने में समान रूप से उत्सुक, तत्पर तथा कटिबद्ध हों।

अभिभावकों को यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि शिक्षकों का इतना सम्मान उनके व्यक्तित्व को लक्ष्य करके नहीं करना है। इसमें सन्देह नहीं कि सम्मानित व्यक्ति के व्यक्तित्व में कुछ न कुछ विशेषताएँ क्रमशः अपने आप ही अंकुरित, विकसित तथा प्रफुल्लित होती रहती हैं। परन्तु शिक्षकों को सम्मानित करने का तात्पर्य यहाँ 'शिक्षा' तथा 'शिक्षालय' का सम्मान करना और उन्हें सर्वश्रेष्ठ कर देना है। जिस प्रकार मन्दिर तथा देवता के सेवक होने के कारण पुजारी गण भी सम्मानित होते हैं उसी प्रकार शिक्षा तथा शिक्षालय का सेवक होने के कारण शिक्षकों का सम्मान करना होगा। शिक्षा ही के फल-स्वरूप हम पशुता से मनुष्यता की ओर अग्रसर होते हैं। अस्तु शिक्षा को सर्वश्रेष्ठ मानने में किसी को भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए। पाश्चात्य संस्कृति में यदि शिक्षा को केवल साधन मात्र माना गया है तो अनुचित नहीं है। उनकी मनुष्यता की परिभाषा ही भिन्न है। उनकी मनुष्यता की परिभाषा पशुता से ऊपर उठने की न होकर उसे ही सुन्दर, सुन्दरतर तथा सुन्दरतम बनाने की है। इसी से वे शासन तथा सेना को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। हम भारतवासियों को यदि वास्तविक भारतवासी बनना है अर्थात् अपने मूल आदर्शों को यदि फिर से प्रफुल्लित करना है तो हमें बिना किसी सोच-विचार के शिक्षा, शिक्षालय तथा शिक्षकों को अचिरात् सर्वश्रेष्ठ बनाना पड़ेगा।

नियमित जीवन—अभिभावकों का दूसरा मुख्य कर्तव्य होगा नियमित जीवन व्यतीत करना। जीवन को नियमित तथा नियंत्रित करने में प्रमुख स्थान 'धर्म' का है। हमारे देश में कई धर्मों के अनुयायी हैं। पाश्चात्य देशों में लोगों ने धर्म को काट-छाँट कर अपने अनुकूल कर लिया है परन्तु हमारे देश में इस प्रकार के प्रयत्न बहुत कम हुए हैं। विदेशी शासकों ने हमारे धार्मिक मतभेदों का अपने दृष्टिकोण से अत्यधिक प्रयोग ही नहीं किया प्रत्युत 'धर्म' से हमें इतना शंकित कर दिया है कि अपने इतने उदार तथा सर्व-प्रिय 'संविधान' में भी 'धर्म' को परोक्ष अस्तित्व देने के लिए हम विवश हुए। हो सकता है कि कुछ काल के लिए हमने ठीक ही किया। पर 'धर्म' की उपेक्षा करने पर इस देश का कल्याण कदापि नहीं हो सकता। पशुता से मनुष्यता की ओर अग्रसर होने में इसका अत्यधिक महत्त्व है—सम्भवतः शिक्षा के महत्त्व से भी किसी प्रकार कम नहीं है; 'धर्म' की उपेक्षा करने पर वास्तविक शिक्षा पूर्ण हो ही नहीं सकती। यदि ध्यान से विचार किया जाय तो विभिन्न धर्मों के वास्तविक अनुयायी कलह-प्रिय नहीं होते। जो विभिन्न पचड़ों में पड़ा रहेगा वह अपने जीवन को धर्माधारित बना ही कैसे सकता है? जो व्यक्ति मन्दिर में पूजा करने में अथवा मस्जिद में नमाज पढ़ने में अपना चित्त एकाग्र किये रहेगा भला उसको कैसे पता चल सकता है कि सड़क पर क्या हो रहा है?

यह कहा जा सकता है कि इतने एकाग्र चित्तवाले पुजारी तथा मुल्ला कहाँ मिल सकते हैं? निस्सन्देह आजकल कठिनाई से मिलेंगे परन्तु यह भी मान लेना चाहिये कि कलह तथा पचड़ों को प्रज्वलित करने में साधारण लोग भी तभी तक दिलचस्पी लेते हैं जब तक कि उन्हें ऐसा करने के लिए कहीं न कहीं से प्रोत्साहन मिलता रहता है। स्वतंत्रता के पूर्व होली, दशहरा, मुहर्रम, आदि पर्वों के अवसर पर तत्कालीन सरकार अपने को जितना व्यथित, चिन्तित, सतर्क, सावधान तथा तत्पर रहने का प्रचार करती थी उतना वर्तमान भारतीय सरकार काश्मीर-समस्या से भी नहीं कर रही है। इतना ही नहीं, यदि वर्तमान सरकार कुछ और प्रयत्न तथा प्रचार करे तो धार्मिक सहिष्णुता की स्थापना से परिस्थिति दिन दूनी और रात चौगुनी सुधरती जायगी। प्रत्येक धर्म के मूल सिद्धान्त अत्यन्त सुन्दर तथा उपयोगी हैं। भेद-भाव बढ़ाने वाली बातें कुछ न कुछ प्रत्येक धर्म में पाई जाती हैं। यदि ध्यान से देखा जाय तो ये कटु बातें उन धर्मों के मूल सिद्धान्तों में न होकर किसि प्रसङ्ग विशेष की व्याख्या अथवा पुष्टि में होती हैं। सनातन (हिन्दू) धर्म के 'म्लेच्छ' तथा इस्लाम धर्म के 'काफ़िर' की भी व्याख्याएँ सम्भवतः किसी न

किसी प्रसङ्ग विशेष के स्पष्टीकरण के ही लिए हुई हैं। विभिन्न धर्मों के विद्वानों के सहयोग से ऐसी गुत्थियों के विषाक्त प्रभावों को सरकार न्यून या न्यूनतर ही नहीं प्रत्युत निर्मूल भी कर दे सकती है।

हर एक धर्म में कुछ न कुछ और किसी न किसी मात्रा में कायिक तथा शारीरिक अभ्यास निर्धारित हैं। दण्डवत, विभिन्न आसनों नमाज के उठने बैठने, आदि में विभिन्न शारीरिक अभ्यास होते हैं। निस्सन्देह, व्यायाम से इससे बहुत अधिक अभ्यास होते हैं—परन्तु व्यायाम में प्रायः हमारी भावनाएँ उतनी पवित्र नहीं होती जितनी कि पूजा तथा नमाज़ में होती हैं। विभिन्न कीर्तनों के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। यदि सभी अभिभावक नियमित रूप से अपने धर्मानुसार पूजा, नमाज़, आदि विधिवत् करेंगे तो उनके शरीर स्वस्थ और विचार विमल होते चलेंगे और उनकी सन्तानें स्वभावतः अनुकरण करती रहेंगी। यदि ये अभ्यास केवल प्रचार अथवा ढोंग के रूप में किये जायँगे तो एक ओर तो उनसे स्वास्थ्य तथा विचार-विमलता को धक्का पहुँचेगा और दूसरी ओर सन्तानों पर भी बुरा प्रभाव पड़ेगा। जितनी ही अधिक आस्था से ये अभ्यास किये जायँगे उतनी ही अधिक उनकी उपयोगिता बढ़ती जायगी। बड़े-बड़े पुजारियों तथा मुल्लाओं की सन्तानें कभी-कभी निकम्मी हो जाती है। अभ्यासों की तीव्रता और पवित्रता के बजाय जब कोई पुजारी या मुल्ला अपने वैभव तथा अन्य साधनों के फल-स्वरूप विख्यात होते हैं तो उनकी सन्तानें प्रायः निकम्मी हो जाती हैं। स्मरण रहना चाहिए कि किसी व्यक्ति की सात्विकता, पवित्रता, सज्जनता, आदि के सर्वोच्च निर्णायक, समालोचक तथा द्योतक उनकी सन्तानें ही हुआ करती हैं।

अभिभावकों का यह परम कर्तव्य होगा कि अपनी सन्तानों के सम्मुख वे किसी भी व्यक्ति की निन्दा न करेंगे। यह कार्य सम्भवतः सरल नहीं है। वर्तमान परिस्थितियों में बिना दूसरों की निन्दा किये हम जी नहीं सकते। किसी अभाव का अनुभव करने पर ही हम दूसरों की निन्दा करते हैं। सांस्कृतिक संघर्षों के फलस्वरूप हमारे यहाँ के लखपतियों का भी जीवन अभाव-मय है। परन्तु अपनी सन्तानों की जानकारी में हम किसी की निन्दा कदापि न करें। यदि थोड़ा भी सावधान तथा सतर्क हम हो जायँ तो यह कठिन न होगा। माता-पिता तथा गुरुजनों के मुँह से अपशब्दों तथा अशिष्ट बातों को सुनकर किशोरों और किशोरियों का कलात्मक ह्रास होता रहता है। यहाँ पर सन्तानों से तात्पर्य केवल अपने ही पुत्रों-पुत्रियों से न होकर उन सभी व्यक्तियों से है जो

कि वयस्क नहीं है। यदि हम अपनी सन्तानों के सम्मुख सावधान रहते हैं और दूसरों की सन्तानों के सम्मुख सब कुछ धड़ल्ले से कहते हैं तो हमारी सन्तानों के सम्मुख उन्हीं बातों को अन्य लोग कहेंगे। फलतः सभी अभिभावकों को किशोरों तथा किशोरियों के सम्मुख सिद्धान्तः किसी का छिद्रान्वेषण न करना चाहिए। बच्चे जन्म से ही अनुकरण-प्रिय होते हैं अर्थात् जो देखते हैं वही करते हैं और जो सुनते हैं वही कहते हैं।

अभिभावकों को भी नियमित रूप से ठीक समय पर प्रातःकाल उठकर गुरुजन-अभिवादन करना पड़ेगा। उनका भी दैनिक कार्य लगभग उसी प्रकार का होगा जैसा कि शिक्षकों के सम्बन्ध में बताया गया है। पर इनमें विभिन्न वर्ग के लोग हैं। कुछ नौकरी करने वाले ऐसे होंगे जिन्हे रात्रि में कार्य करना पड़ता है। उनका प्रातः काल प्रायः उस समय माना जायगा जब कि वे बिस्तर से उठेंगे। व्यापारियों, व्यवसायियों, यात्रियों, किसानों, आदि सभी को कभी-कभी कठिनाई हो सकती है। पर इन कठिनाइयों के होते हुए भी हमारा जीवन नियमित तथा नियंत्रित हो सकता है। दूसरे, बहुत कुछ सम्भव है कि भावी शिक्षा के प्रादुर्भाव से इन कठिनाइयों की मात्रा और तीव्रता में कमी आ जाय। यदि ध्यान से देखा जाय तो वर्तमानकाल में काम करने में तो हमारी शक्ति बहुत कम लग पाती है परन्तु इसके अधिकांश को प्रतिकूल प्रवृत्तियों से सावधान तथा सुरक्षित रहने में लगाना पड़ता है। शिक्षा और समाज में जब सामञ्जस्य स्थापित हो जायगा तो हमारे सुख दुःख की रूप-रेखा ही बदल जायगी। राम, दधीचि, पन्ना धाय, आदि की इस पवित्र भूमि पर आजकल हम अपने ऊपर गौरवान्वित तब होते हैं जब कि अपने थोड़े से स्वार्थ के निमित्त दूसरों का बहुत बड़ा अहित करने में कामयाब हो जाते हैं।

जीवन को नियमित तथा नियंत्रित करने में सबसे बड़ी कठिनाई आर्थिक प्रसङ्गों में होगी। धन-लिप्सा को नियंत्रित करना सम्भवतः सरल नहीं। पर यह दुराशा इन्हीं वर्तमान परिस्थितियों को लक्ष्य करके हो रही है। जब उच्चता तथा बड़प्पन के साधन और आधार धन, वैभव, आदि न होकर, परोपकार और परित्याग होंगे तो वातावरण में परिवर्तन स्वभावतः हो जायेगा। न्याय की खोज न्यायालयों के बजाय अपने अपने हृदयों में की जायगी; वकीलों, बैरिस्टरों, न्यायाधीशों, आदि की प्रतिभा का सदुपयोग मनुष्य को वास्तविक मनुष्य बनाने में किया जायगा। सेना विभाग को छोड़कर अन्य सभी विभागों की रूप-रेखा बदल जायगी; उनमें से अनेक में ताले लगाने पड़ेंगे। अपने सेना-सङ्गठन को इससे भी अधिकाधिक वैज्ञानिक ढङ्ग से प्रोत्साहित करना होगा—

ऐसा न करने से विदेशियों की दौड़ में देश तथा संस्कृति की रक्षा न हो सकेगी। विभागों के तोड़-फोड़ तथा हेर-फेर को सुनकर कुछ लोगों के मन में शंका हो सकती है कि अनेक लोगों की जीविका के साधन लुप्त हो जायँ।

प्रथम तो, हमारी भावी रूप-रेखा में जीविका की परिभाषा ही भिन्न हो जायगी। दूसरे, वर्तमान अन्य विभागों में जितने लोग लगे हैं उनसे अत्यधिक व्यक्तियों की आवश्यकता होगी शिक्षा तथा संस्कृति के पुनरुत्थान के लिए। साथ ही, जिस शीघ्रता से सन् १९२०-२१ ई० में विदेशी वस्त्र जलाये गये, अथवा सन् १९४२ ई० की घटनाएँ घटीं अथवा सन् १९४७ ई० में देश-विभाजन हुआ, उस शीघ्रता से हम विभागों को तोड़ेंगे नहीं। किसी पूर्व निश्चित योजना के अनुसार दृढ़संकल्प होकर अपने सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिए हम अग्रसर होंगे और उसमें जो-जो विभाग हमें जिस-जिस अवसर पर आवश्यक तथा अनावश्यक प्रतीत होंगे उन्हें हम बढ़ाते-घटाते चलेंगे। हाँ, अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने में हम यह विचार कदापि न करेंगे कि कितनों की जीविका हम ले रहे अथवा कितनों को दे रहे हैं। कर्तव्यपरायणता के उमङ्गातिरेक से हम इतने विभोर हो जायँगे कि हमारी भूख-प्यास क्रमशः नियंत्रित होती चलेगी।

हमारा जीवन नियमित तब तक नहीं हो पायेगा जब तक कि हमारे शिक्षा सम्बन्धी उद्देश्य हमें स्पष्ट नहीं हो जाते। लगभग सभी अभिभावक यही चाहते हैं कि उनकी सन्तानें 'यथाकथित' उच्चपदों पर पहुँच जायँ चाहे उनमें अपेक्षित योग्यता एवं क्षमता हो या न हो। विचित्रता यह है कि उनकी बौद्धिक योग्यता को स्वाभाविक रूप में विकसित होने के लिए हम उतने चिन्तित नहीं रहते जितना कि उच्च कोटि के परीक्षा-फल के लिए। इस देश का दुर्भाग्य है कि प्रायः बड़े ऊँचे-ऊँचे लोग अपनी सन्तानों के परीक्षा-फल के लिए अनुचित रूप में व्यथित तथा प्रयत्नशील दिखाई पड़ते हैं। यदि इसका दसांश भी ध्यान उन सन्तानों के अध्ययन पर दिया जाता तो सम्भवतः लोक और परलोक दोनों की रक्षा हो जाती। अपने इन अनुचित प्रयत्नों में यथाकथित सफलता प्राप्त कर लेने पर भी हम लोग वास्तव में असफल ही रहते हैं। स्मरण रहना चाहिए कि अनुचित प्रयत्नों में लगे हुए गुरुजनों को उनकी सन्तानें आदर की दृष्टि से कदापि नहीं देखतीं। हो सकता है कि मनुष्य होने के नाते वे अबोध सन्तानें उन कुप्रयत्नों को तथा उनके करने वालों को कुछ समय तक अपने लिए उपयोगी तथा अपना हितैषी मान लेती हों परन्तु अन्त में उन्हें ग्लानि होती है। उच्चकोटि की सन्तानें तो तत्काल ही सादर विरोध करती हैं।

उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल महोदय श्री एच० पी० मोदी साहब ने किसी अवसर पर कहा था कि उनके कोई शिक्षक स्वयं हाथ पर हाथ रख कर ऊँघते रहते थे और उनसे (मोदी साहब से) विद्यार्थियों को पढ़वाते थे। श्री मोदी जी ने अपने गुरु के अनुचित कार्य का विरोध बहुत बाद में किया परन्तु स्वर्गीय महात्मा गान्धी जी ने उसी समय किया था। कहा जाता है कि किसी शिक्षा-अधिकारी के सम्मुख गान्धी जी के किसी शिक्षक ने कक्षा को अंग्रेजी के एक शब्द 'केटिली' शुद्ध लिखने के लिए अनुचित रूप से छिपकर प्रेरित किया। अन्य छात्रों ने तो उसे ठीक-ठीक लिख लिया परन्तु गान्धी जी ने जान-बूझकर उससे लाभ न उठाया। गान्धी जी ने भी इसका उल्लेख अपनी आत्मकथा में कर ही दिया। जब इतने विख्यात, गम्भीर तथा महान व्यक्तियों के, जिनके कि जीवन अत्यन्त विविध, व्यस्त था घटनापूर्ण हैं, मस्तिष्क पर छाप अमिट रह गई तो साधारण सन्तानों तथा छात्रों का कहना ही क्या है? फलतः अपनी सन्तानों के सम्मुख हमें सर्वदा सावधान रहना है।

अनुकूल वातावरण का सृजन—अभिभावकों का तीसरा कर्तव्य होगा उचित वातावरण का सृजन। कर्म-प्रधान संस्कृति तथा भक्ति-मूलक शिक्षा के पुनरुत्थान के निमित्त हमारे वर्तमान पारिवारिक आदर्शों और व्यवहारों में पर्याप्त परिवर्तन की आवश्यकता है। शिक्षकों के प्रसङ्ग में इसकी व्याख्या की गई है और उनसे अनुरोध किया गया है कि अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी वे लोग इसमें सुधार करें, पर उन्हें अपने व्रत में बिना अन्य लोगों के सहयोग के सफलता कदापि न मिलेगी। परिवारिक जीवन के छिन्न-भिन्न हो जाने से हमारी कर्म-प्रधान संस्कृति को घोर धक्का लगा है। जन्म, मरण, ब्याह, यज्ञ, आदि के अवसरों तथा उत्सवों पर सभी सगे-सम्बन्धी एकत्र अवश्य हो जाते हैं पर वहाँ पर वह स्वाभाविकता अथवा स्नेह या सहयोग नहीं मिलता जो कि त्यागियों के इस देश में मिलना चाहिए। भारतवर्ष कृषि-प्रधान तथा गाँवों का देश है; यहाँ धर्म-कर्म में ग्रामीण वातावरण को विशेष महत्त्व है। सांस्कृतिक संघर्षों के फलस्वरूप ग्राम के लोग नगरों को खिसकते जा रहे हैं। गाँव का प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति किसी न किसी नगर में अपना अड्डा जमाने के लिए आतुर है।

उपर्युक्त वातावरण के निर्माण के लिए यह आवश्यक होगा कि वे सब शिक्षित व्यक्ति, जिनका कि सम्बन्ध गाँवों से है, अपने जन्म स्थान से अर्थात् गाँवों से अधिक सम्पर्क स्थापित करें तथा बढ़ावें। सभी प्रकार के उत्सव

सिद्धान्तः अपने जन्म-स्थान पर करें। नगरों के दोस्त-मित्रों को यथा-सम्भव वहीं ले जायँ अथवा लौटने पर नगर में ही उन्हें एक प्रीति-भोज अलग से दें। गाँवों में वैज्ञानिक आविष्कारों की सुविधाओं (बिजली, टेलीफोन, आदि) के अभाव से आरम्भ में कुछ कठिनाइयाँ अवश्य होंगी। पर यह भी अच्छा ही है। इन्हीं कठिनाइयों का व्यक्तिगत अनुभव होने पर ही उच्च अधिकारियों का ध्यान गाँवों के वास्तविक सुधार की ओर शीघ्रता और तत्परता से आकर्षित होगा। प्रत्येक व्यक्ति अपनी तथा अपने भाइयों की सन्तानों के साथ मनसा, वाचा और कर्मणा समान वर्त्ताव करने का दृढ़ संकल्प करे। यह कार्य कुछ कठिन अवश्य होगा पर इसे असम्भव मानना ठीक नहीं। लोग दीपावली, होली, दशहरा, आदि पर्वों के समय अपने-अपने गाँवों को अवश्य जायें। सरकार से विनम्र निवेदन किया जाय कि सरकारी नौकरों को इसके लिए सुविधाएँ दी जायँ। सरकारी तथा अन्य कर्मचारियों के बच्चे यथा-सम्भव उनके जन्म-स्थान पर ही पैदा हों। मृत्यु को नियंत्रित करना असम्भव है परन्तु प्रत्येक वृद्ध व्यक्ति अपने जन्म-स्थान पर ही इस शरीर को छोड़ने के लिए उत्सुक हों और मरणोपरान्त आवश्यक तथा परम्परा-प्रचलित अन्त्येष्ठ क्रियाएँ जन्म-स्थान पर ही विधिवत् पूरी की जायँ।

ऊँचे से ऊँचे अधिकारी तथा अन्य लोग जब गाँवों में अपने घर जायँ तो किसी अत्यन्त सम्मानित अतिथि का जीवन व्यतीत न करें। उन्हें चाहिए कि यथासम्भव घर के कार-बार में हाथ बटायें। चाहे कितनाहू कोमल शरीर का व्यक्ति क्यों न हो परन्तु वह सुविधा पूर्वक देख सकता है कि सभी जानवर ठीक से खिलाये-पिलाये गये हैं या नहीं; कुछ समय तक वह खेत की रखवाली कर सकता है। थोड़ा बहुत खोद-खाद तथा काट-कूट करने से शरीर की कोमलता कदापि नष्ट न होगी। वास्तव में हमारा शरीर उतना कोमल तथा दुर्बल नहीं हो जाता जितना कि उसे ऐसा घोषित करने में हम गौरवान्वित होते हैं। अपने कुटुम्बियों तथा गाँव के अन्य लोगों से, कृषि, कुटीर-उद्योग-धन्धों, गाँव की आवश्यकताओं, अन्य प्रान्तों तथा विदेशों के गाँवों तथा ग्रामीण लोगों, आदि के सम्बन्ध में तत्परता, उदारता तथा सहानुभूति से बात-चीत कर सकते हैं। ऐसा करते समय हमें ग्रामीण व्यक्तियों की भाषा, वेश-भूषा, हाव-भाव, आदि की प्रत्यक्ष या परोक्ष में उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। यदि अपने-अपने गाँवों में जाकर हम सावधानी तथा सतर्कता से कार्य करें तो धीरे-धीरे अनेक सांस्कृतिक खाइयों की पूर्त्ति आरम्भ हो जायगी।

वर्तमान काल में हम लोग अपने पड़ोसियों के प्रति अत्यन्त उदासीन हो गये हैं। साधारणतः कहा जा सकता है कि जब हम सहोदरों का ही ध्यान नहीं रखते तो फिर पड़ोसियों के लिए क्या कर सकते हैं? यदि ध्यान से देखा जाय तो ये प्रसङ्ग अलग-अलग हैं। इनमें एक आन्तरिक है दूसरा वाह्य, एक का सम्बन्ध शरीर तथा स्वास्थ्य से है और दूसरे का विचार तथा संस्कृति से; कहा भी गया हैं कि 'सौ गोती न एक पड़ोसी।' आज, हमें पड़ोसियों का वास्तविक तथा उपयुक्त सहयोग और उनकी सहानुभूति प्राप्त नहीं हैं। अपनी सन्तानों की ही जानकारी में हम अपने पड़ोसियों का छल-कपट से अहित करते हैं अथवा उनके (पड़ोसियों) द्वारा अपमानित होते है। महाकवि रहीम ने दुर्जनों की निम्न व्याख्या की है:—

दुर्जन दर्पण सम सदा, कर देखो हिय गौर।
सम्मुख की गति और है, विमुख भये कछु और ॥

उपर्युक्त दोहे के आधार पर इस समय हम सभी लोग दुर्जन हो गये हैं। यही कारण है कि आजकल हमारी सन्तानें किशोरावस्था में ही छिप-छिप कर छिद्रान्वेषण करने लगती हैं।

अपने पड़ोसियों के प्रति हमें उदार होना पड़ेगा। इस ओर हमारा प्रथम प्रयास यह होगा कि यथा सम्भव उनके अपेक्षाकृत बड़े हितके लिए अपने साधारण हित का ध्यान हम न करें। आरम्भ में यदि यह भी कठिन हो तो कम से कम इसका अभ्यास करें कि जिस काम से अपना कोई अहित न होता हो और उससे पड़ोसियों का हित हो रहा हो तो उसमें हम सहर्ष सहयोग दें। दूसरे, यदि किसी पड़ोसी से किसी प्रसङ्ग पर अनबन हो जाय तो यथाशक्ति विभिन्न दाव-पेंच तथा कटुता केवल उसी प्रसङ्ग तक सीमित रक्खी जाय। साथ ही दाव-पेंच का प्रयोग आक्रमणात्मक न होकर केवल रक्षात्मक होना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि यथासम्भव विभिन्न छल-कपट, दाव-पेंच आदि की मार हम स्वयं आरम्भ न करें; हाँ, यदि कोई विपक्षी प्रहार कर दे तो उसकी काट अवश्य करें। स्मरण रहना चाहिए कि अपने गुरुजनों को आक्रमणार्थ दाव-पेंच लगाते देखकर सन्तानों के मनमें उनके प्रति भय, आतङ्क, आश्चर्य ईर्ष्या, आदि के परन्तु रक्षार्थ करते देखकर श्रद्धा, धैर्य गर्व सहानुभूति आदि के भाव अंकुरित होते हैं।

दाव-पेंच, छल-कपट, आदि के आधार पर जो सफलता प्राप्त होती है उसका प्रभाव स्थायी तथा आनन्द हीन होता है। सन्देह, भ्रम, आत्मविश्वास

हीनता, आदि का उसमें ऐसा सम्मिश्रण होता है कि उससे पग-पग पर गुत्थियाँ उलझती रहती हैं। फलतः प्रतिकूल पड़ोसी के साथ भी अत्यधिक उदारता का व्यवहार प्रायः अपने ही कल्याण के लिए वांछनीय है। हमें ऐसा करते हुए देखकर हमारी सन्तानों में कई अनुकूल प्रवृत्तियों के प्रादुर्भाव तथा विकास अपने आप होते चलेंगे। ऐसे व्यवहार से हम हारकर भी विजयी रहेंगे। हमारी सन्तानें तथा हमारे बन्धु-बान्धव हमारे साथ वैसा व्यवहार कदापि नहीं करेंगे जैसा कि महान ऐश्वर्यवान रावण के साथ उसके कुटुम्बियों ने किया था। माथे पर वैष्णवी टीका लगाये हुए, कन्धे पर राम-नामी दुपट्टा लिये हुए तथा गले में रुद्राक्ष की माला लटकाये हुए यथाकथित धर्मनिष्ठ व्यक्तियों को, न्यायालयों में भगवान को शपथ देने पर भी, धारा-प्रवाह झूठ बोलते हुए देखकर किसके मनमें न ग्लानि होती। हाँ व्यक्ति-प्रधान संस्कृति वाले अंगरेज न्यायाधीशों को यह विशेष अनुचित सम्भवतः न प्रतीत होता रहा हो; वे तो अपने ही व्यक्तित्व को हर प्रकार से ऊँचा प्रदर्शित करने का प्रयत्न करते ही हैं।

कुछ व्यक्तियों को यह शंका हो सकती है कि इस प्रकार का सन्तोषपूर्ण जीवन एक तो सम्भव नहीं है और दूसरे, इससे अकर्मण्यता, शिथिलता, सम्पर्क-अभाव, आदि उत्पन्न हो सकते हैं। प्रथम शंका के सम्बन्ध में बिना किसी दुविधा के कहा जा सकता है कि इस भारतवर्ष में यह तब तक सम्भव रहेगा जब तक कि गङ्गा का जल नहीं सूख जाता और राम तथा कृष्ण की लीलाएँ भूल नहीं जातीं। दूसरी शङ्का, केवल शङ्का मात्र है। कर्म, स्फूर्ति, सम्पर्क, आदि की वर्तमान रूप-रेखा ही बदल जायगी। वर्तमान काल में पाश्चात्य आदर्शों के अनुसार हमें पग-पग पर अपने को कर्मण्य, तत्पर सम्पर्क-प्रिय, लोक-प्रिय, आदि प्रचलित तथा सिद्ध करना पड़ रहा है। हृदय में विभिन्न प्रकार की मनोमालिन्य की भट्ठी सुलगती रहती है और ऊपर से हम 'हैन्डशेक' करते रहते हैं। वेतन पर कार्य करने वाले लगभग सभी अधि-कारी दस बजे दिन से चार बजे शाम तक कार्यालय में उपस्थित अवश्य रहते हैं और अनेक कागजों पर हस्ताक्षर अवश्य करते हैं परन्तु हममें वह तत्परता, उत्साह तथा कर्तव्य-प्रियता कहाँ है जिससे कि उन्हीं पदों पर कुछ ही वर्ष पूर्व अंगरेज अधिकारी कार्य करते थे। स्मरण रहना चाहिए कि अंगरेज अधिकारी भारतीय बाबुओं के अनुसार अधिक चलने के लिए विवश इसलिए थे कि यहाँ की रीति-रिवाज, परम्परा, भाषा आदि से वे अनभिज्ञ थे। पर हम भारतीय अधिकारी गण भी उन्हीं बाबुओं की व्याख्या को अक्षरश- क्यों मान लेते हैं—यह एक विचित्रता है।

लगभग यही दशा इस समय यहाँ के मजदूरों, दुकानदारों, व्यापारियों, मिल-मालिकों, किसानों, आदि की भी है। अधिक पैसे की लालच में शारीरिक श्रम करके ये लोग उत्पादन की मात्रा अवश्य बढ़ा रहे हैं। पर उनके मन में अपने कार्यों के प्रति प्रेम तथा श्रद्धा नहीं है। इनमें से सभी एक दूसरे के साथ मक्कारी का व्यवहार करना चाहते है। स्टेशनों पर बहुत कम ऐसे कुली मिलते हैं जो लोगों को गाड़ी पर सुविधापूर्वक बैठने के लिए तत्पर तथा प्रयत्नशील हों; ऐसे बहुत कम दुकानदार हैं जो इस बात के लिए प्रयत्नशील तथा तत्पर हो कि उनके ग्राहकों को उचित मूल्य पर उत्तम से उत्तम सामान मिल जाय; ऐसे बहुत कम मिल-मालिक हैं जो कि एक ओर तो बढ़िया से बढ़िया सामान तैयार कराने में और दूसरी ओर अपने मजदूरों का अधिक से अधिक कल्याण करने में तत्पर तथा प्रयत्नशील हों; ऐसे बहुत कम किसान हैं जो शुद्ध से शुद्ध तथा उत्तम से उत्तम दूध, फल, अन्न, आदि उचित मूल्य पर देने के लिए उत्सुक, तत्पर तथा प्रयत्नशील हों। पर पाश्चात्य देशों में और विशेषतया ब्रिटेन में ऐसी बात नहीं है। वहाँ पर समाज के सभी लोग एक-दूसरे से अपनी संस्कृति और परम्परा के अनुसार अधिकाधिक हिले-मिले रहते हैं। इसका संकेत कई बार किया जा चुका है कि सत्य-असत्य, सुख-दुःख, पुण्य-पाप, जीवन-मरण आदि की उनकी परिभाषा हमसे बहुत भिन्न है। उनकी संस्कृति और शिक्षा में पर्याप्त सामञ्जस्य है अस्तु उनके व्यवहार में उनके अदर्शों के अनुसार असत्य तथा अनाचार न्यूनतम होते हैं।

अंगरेजी शासन-काल में हमारी समस्त सार्वजनिक व्यवस्था, योजनाएँ, कार्य-प्रणाली, आदि पूर्ण रूप से पाश्चात्य आदर्शों के अनुकूल निर्मित हुई थीं। जब तक ऊँचे-ऊँचे पदों पर अंगरेज अधिकारी थे तो वे स्वयं भी कार्य करते थे और अपने मातहतों से भी करवाते थे। यदि वे अपने कार्यों को समुचित रूप में पूरा न करते तो उनकी संस्कृति, में उनके समाज में तथा उनकी मित्र-मण्डली में उनके व्यक्तित्व का उचित आदर न हो पाता था। परन्तु भारतीय संस्कृति तथा समाज में प्रधानता व्यक्तित्व को प्राप्त न होकर 'कर्म' को है। वर्तमान समस्त कार्य प्रणाली तथा ढाँचा रही 'व्यक्तित्वाधारित' है। फलतः इस ढाँचे में पर्याप्त काम न करके भी हम अपने समाज में अपमान से अपने को बचा सकते हैं; और यही हो भी रहा है। इस कार्य-पद्धति में अकर्मण्य अधिकारियों या लोगों के केवल व्यक्तित्व को धक्का पहुँचेगा और व्यक्तित्व का अपने यहाँ कोई स्थान नहीं है। इन लोगों को गीता, पुराणों, तथा अन्य धार्मिक और सांस्कृतिक ग्रन्थों में अनेक ऐसे उदाहरण

मिलते है जिनमें अपने व्यक्तित्व को प्रभुता से लघुता की ओर ले जाने वाले ही महान माने गये हैं। अंगरेजों को जब 'सारी' कहना पड़ता था अर्थात् 'क्षमा-याचना' करनी पड़ती थी तो उन्हें बड़ा मानसिक क्लेश होता था— उन्हें उस दिन सम्भवतः दाना-पानी अच्छा नहीं लगता था। पर केवल इतने ही से छुटकारा पा जाने पर हम लोग फूले नहीं समाते; कभी-कभी तो इसे हम अपनी विजय भी मान लेते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'सन्तोष-पूर्ण' जीवन हमारे इस भारतवर्ष में सम्भव और उपयोगी-दोनों ही है बात यह है कि जब तक हम अपने समस्त दायित्वों को पूरा न कर लेंगे तब तक हममें सन्तोष तथा आत्मविश्वास का सञ्चार हो ही कैसे सकता है? स्मरण रहना चाहिये कि हमार सबसे बड़ा दायित्व यह है कि हम भारतीय आदर्शों के अनुसार अपने सब कार्यों को सुसम्पादित करके अपने परिवार समाज तथा देश और राष्ट्र को सन्तुष्ट करें। भारतवर्ष में बिरादरी और 'चौधरी' के डर से कोई व्यक्ति किसी भी अनुचित कार्य को करने का साहस न कर सकता था। पाश्चात्य आदर्शों के अनुरूप अनेकानेक धाराओं, नियमों, उपनियमों अर्थात् कानूनों को पास कर-कर 'विरादरी-व्यवस्था' को छिन्न-भिन्न कर दिया गया है। अंगरेजों ने तो 'कर्म-प्रधान' व्यवस्था के इस इतने महत्त्वपूर्ण अङ्ग को इसलिए धक्का पहुँचाया कि इसकी विशेषताओं को वे समझ नहीं पाये (वे समझते थे कि इस प्रथा से तो व्यक्तियों के 'व्यक्तित्व' को घोर धक्का पहुँच रहा है) पर खेद है कि हमारे नेतागण भी उसी प्रवृत्ति का अनुसरण कर रहे हैं और नई-नई धाराएँ पास करते जा रहे हैं। यथा-कथित निम्न वर्ग के लोगों में अभी विरादरी की प्रथा है, पर उनकी बैठकों में भी वकील-मुख्तारों की भाँति जिरह होती है और प्रायः तर्क के बलपर सत्य के ऊपर पर्दा डाल दिया जाता है। 'विरादरी' के निर्णय अब उचित रूप से नहीं हो पाते—वर्तमान परिस्थितियों में उनका उचित तथा उपयोगी होना असम्भव भी है।

प्रसङ्गवश इसका पहले भी संकेत हो चुका है कि 'कर्म-प्रधान' संस्कृति के लिए 'वर्ग-भेद' यही नहीं कि बहुत हानिकारक नहीं था प्रत्युत कई दृष्टिकोणों से उपयोगी था। व्यक्ति-प्रधान संस्कृति, विज्ञान, जनतंत्र, आदि की चमक-दमक में हम इसे इतना विषाक्त मानने लगे हैं। बात यह है कि विदेशी संस्कृति और प्रभुत्व से आतङ्कित होने पर हमारा नैतिक और मानसिक ह्रास होने लगा। अपनी श्रेष्ठता को सत्कर्मों से सुरक्षित तथा प्रमाणित कर सकने की सामर्थ्य ऊँचे वर्ग के लोगों में जब न रह गई तो ये अपने यथा-कथित उच्च

जन्म का ही अत्यधिक प्रचार करने लगे। परिस्थिति वास्तव में दयनीय हो गई थी और आज भी लगभग वैसी ही है। हमें 'बिदादरी-प्रथा' की अच्छाइयों को किसी न किसी प्रकार अपनाना है। वर्तमान काल में इसके उस 'रूप' का अनुमान करना तो असम्भव और अनावश्यक—दोनों ही है। समुचित शिक्षा का प्रचार हो जाने पर कोई न कोई ऐसा मार्ग निर्धारित अवश्य हो जायगा जिससे विज्ञान और जनतंत्र की विशेषताओं और "बिरादराने' की अच्छाइयों में अधिकाधिक सामञ्जस्य स्थापित हो जाय। इस समय केवल इतना ही कहा जा सकता है कि समुचित शिक्षानुकूल वातावरण के लिए हममें से प्रत्येक यह दृढ़-संकल्प कर ले कि अपने जीवन को हम अधिकाधिक नियंत्रित तथा नियमाधारित रूप में व्यतीत करेंगे।

आश्रितों के साथ समुचित व्यवहार—अभिभावकों का चौथा दायित्व होगा अपने आश्रितों के साथ समुचित व्यवहार। कुछ लोग कह सकते हैं कि इस गणतंत्रात्मक राष्ट्र में कोई किसी का आश्रित नहीं। कई व्यक्ति, देश, समाज, राष्ट्र, आदि बहुत दिन से 'समता-स्थापना' के लिए प्रयत्नशील हैं। फलतः कहने और लिखने वालों को कोई रोक नहीं सकता परन्तु जितने भी शक्तिमान व्यक्ति होते हैं उनके आश्रय तथा सम्पर्क में किसी न किसी प्रकार अनेक लोग आ ही जाते हैं। हमारे यहाँ की तो पारिवारिक रूप-रेखा ही ऐसी है कि गृह-स्वामी और गृह-स्वामिनि के आश्रय में कतिपय व्यक्ति होते ही हैं। सरकार और शासन में भी अनेक सीढ़ियाँ हैं। लोग अपने-अपने घरों में नौकर रखते ही हैं; अपनी रुचि, आवश्यकता तथा सामर्थ्य के अनुसार जानवर पाले ही जाते हैं—ये जानवर भी तो आश्रित ही हैं। अपने आश्रितों के साथ हम जैसा व्यवहार करते हैं उसका प्रत्यक्ष और परोक्ष—दोनों ही प्रभाव हमारी सन्तानों पर लगातार पड़ते रहते हैं। नाना प्रकार के अपशब्द हम लोग अपने गुरुजनों से ही तो सीखते हैं।

आश्रितों और अनुगामियों के साथ समुचित व्यवहार करना आजकल सुगम नहीं है। प्रकृति की कुछ ऐसी विशेषता है कि साधारण तथा इससे निम्न स्वभाव के लोग ठीक से व्यवहार तथा कार्य तभी तक करते हैं जबतक कि उन्हें किसी प्रकार का डर रहता है। ये लोग अपने गुरुजनों की शिष्टता और उदारता का प्रायः दुरुपयोग करने लगते हैं और कभी-कभी उन्हें यदि मूर्ख नहीं तो 'भोला-भाला' तथा 'सीधा-सपाट' मान लेने की धृष्टता तो करते ही हैं। सांस्कृतिक संघर्षों के फलस्वरूप यह भावना हमारे देश में विशेष रूप से बढ़ गई है। समुचित व्यवहार का तात्पर्य यह कदापि

नहीं है कि अपराधी को दण्ड न दिया जाय। उद्दण्ड आश्रितों को कड़े नियंत्रण में इसीलिए नहीं रखा जाता कि इससे केवल औरों की रक्षा होगी प्रत्युत इसलिए भी कि ऐसा करने से उन सबका (उद्दण्डों का) भी कल्याण होगा। यदि उनकी उद्दण्डता में योग तथा सुविधाएँ दी जायँ तो केवल समाज का ही अहित न होगा प्रत्युत उन सबको भी क्षति पहुँचेगी। उनकी अकाल मृत्यु हो सकती है, वे रोग-ग्रस्त हो जा सकते हैं; उनके अङ्ग-भङ्ग हो जा सकते हैं; उनका पारिवारिक तथा सामाजिक बहिष्कार हो जा सकता है—इत्यादि। समुचित व्यवहार की सबसे बड़ी कसौटी यही है कि उद्दण्ड आश्रितों के साथ कड़ाई वर्तने में कहाँ तक लोकहित का ध्यान और कहाँ तक उनके हित तथा सुधार की भावना है। यह न सोचना चाहिए कि अबोध और अविकसित सन्तानें इन बातों को क्या भाँप पावेंगी? गुरुजनों की प्रत्येक क्रिया का उनके (सन्तानों के) मस्तिष्क पर अमिट और सतत प्रभाव पड़ता रहता है।

आश्रितों के अन्तर्गत अपने अनुगामी, नौकर, आदि ही नहीं प्रत्युत वे लोग भी आते हैं जो कि समय-समय पर हमारे पास पथ-प्रदर्शन तथा सम्मति के लिए आते हैं। यहाँ पर हमारा दायित्व और गुरुतर हो जाता है। आजकल अनेक ऐसे धनीमानी व्यक्ति हैं जो अपने इस प्रकार के आश्रितों के साथ खरे नहीं उतरते। प्रायः अनुचित मार्ग जान-बूझ कर बताया जाता है और जब वे कठिनाई में पड़ जाते हैं तो मुक्त हस्त से उनकी सहायता की जाती है और इसके बदले में उनकी सम्पत्ति (घर, मकान, खेत, आदि) हड़प ली जाती है। यह कुटेव नगरों, कस्बों, गावों, आदि सभी ओर प्रचलित है। जूआ, मदिरा-पान, वेश्या-गमन, आदि के लिए उन्हें दिल खोलकर रुपये दिये जाते हैं। इन कुकृत्यों से हमारा वैभव बढ़ सकता है परन्तु सन्तानें नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं।

ये जघन्य कार्य ऐसे हैं जिन्हें सन्तानों से हम छिपा नहीं सकते। उनसे छिपाने का प्रयत्न हम कर सकते हैं पर उनको तो (सन्तानों को तो) कहीं नहीं छिपा कर रख सकते हैं। वे अभियोगी, मद्यपी तथा पथ-भ्रष्ट आश्रितगण 'भैयाजी' अथवा 'लल्लू बाबू' को सब कुछ बताते रहते हैं। वातावरण की अधिकाधिक शुद्धता पर इसीलिए जोर दिया जाता है। जो-जो तरकीबें और दाव-पेंच इन कामों में हैं उन सबको ये बच्चे सीखते चलते हैं। कुछ महानुभाव तो ऐसे भी हैं जो कि अपनी सन्तानों को अधिक 'काबिल' तथा 'चलता' बनाने के विचार से उन्हें इन सब बातों को स्वयं बताते तथा सिखलाते चलते

हैं। ऐसे ही बच्चे गृह और विद्यालय दोनों के लिए प्रायः समस्याओं के अवतार हो जाते हैं।

गावों में भूमि-हीन तथा निर्धन व्यक्तियों को ऋण देकर उन्हें चंगुल में लिया जाता है। उनसे खेती के काम तथा छोटे-मोटे उद्योग-धन्धे कराये जाते हैं। उनके ऋणों के ब्याज दिन-दूने, रात-चौगुने बढ़ते चलते हैं। हिसाब-किताब के आधार पर उस ऋण से उनका छुटकारा असम्भव सा रहता है। कुछ दिनों के उपरान्त वे ऊबकर भग जाते हैं। उनके स्थान पर फिर दूसरे फँसाये जाते हैं जो कि कहीं न कहीं के 'भगेड़ू' अवश्य होते हैं। ऐसे लोग मन लगाकर काम भला कैसे कर सकते हैं? जो रुपया-पैसा उनसे व्याज के रूप में प्राप्त किया जाता है उसका कई गुना, वे जानवरों को दुर्बल, रोग-ग्रस्त तथा निकम्मा करके, नष्ट कर देते हैं। साथ ही, इन्हीं क्षुब्ध और असन्तुष्ट नौकरों की गोदी में प्रायः ये सन्तानें भी खेला करती हैं। किसी बात पर नौकरों को डाँट खाते देखकर वे बच्चे दुखित भी होते हैं। कभी-कभी तो चतुर नौकर सन्तानों को वश में कर लेते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि असन्तुष्ट तथा क्षुब्ध नौकर धन और पुत्र दोनों ही को नष्ट-भ्रष्ट कर दे सकते हैं।

इसके उपरान्त हमारे आश्रित जानवर हैं। अपनी आवश्यकतानुसार लोग जानवरों की संख्या बढ़ाते रहते हैं परन्तु उनकी देख-रेख नहीं कर पाते। धनिकों के जानवर प्रायः दुर्बल तथा दुखी पाये जाते हैं। यह दशा गावों में विशेष रूपसे पाई जाती है। नगरों में तो प्रायः दूधवाले जानवर पाले जाते हैं और दूधकी लालच या आशामें उन्हें अच्छी प्रकार खिलाया-पिलाया जाता है। गाड़ी खींचने वाले बैल भी लगभग ठीक ही मिलते हैं। परन्तु किराये वाले एक्कों और तागों के घोड़ों की दशा शोचनीय ही होती है। गावों में वृद्ध बैलों तथा दूध न देने वाली गायों और भैंसों की हालत ठीक नहीं रहती। इसका कारण निर्धनता ही न होकर लोगों में जानवरों के प्रति उपयुक्त भावना तथा सहानुभूति की कमी है। इन जानवरों की अभावाच्छादित आकृति का सन्तानों पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है। इन बच्चों की कई कलात्मक प्रवृत्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि गृह-स्वामी या गुरुजन अपने आश्रितों के साथ कैसा व्यवहार करें? नटखट, काम-चोर तथा उद्दण्ड नौकरों और जानवरों को डाँटना-फटकारना क्या अनुचित है? अपने खेत, मकान, अथवा अन्य चल-अचल सम्पत्ति के प्रति यदि कोई ऋण माँगे तो क्या उसे न दिया

जाय ? ऐसे प्रश्नों के उत्तर तड़ से नकारात्मक तो नहीं दिये जा सकते परन्तु इतना अवश्य कहा जायगा कि ऐसे अवसरों पर हमें तत्परता, नियंत्रण तथा विवेक से कार्य करना चाहिए। प्रत्येक कार्य की देख-रेख ऐसी सावधानी से की जाय कि नौकरों तथा अन्य आश्रितों को अपराध करने या काम बिगाड़ने के अवसर ही कम मिले। प्रायः लोग नौकरों के भरोसे काम छोड़ देते हैं और स्वयं चारपाई तथा कुर्सी पर बैठे रहते हैं। प्रत्येक जीव स्वभावतः स्वार्थी होता है। नौकर भी अपने ही समान शरीर वाले किसी अन्य व्यक्ति (मालिक) को लगातार चारपाई या कुर्सी पर बैठे हुए देखकर मन ही मन तरसता है और अपने भाग्य को कोसता है। इस प्रकार काम में उसका शरीर लगा रहता है न कि मन। यदि 'मालिक' लोग भी यथाशक्ति साथ-साथ लगे रहें तो नौकरों को काम-चोरी या बिगाड़ने के अवसर ही कम मिलेंगे। डाँटने-फटकारने तथा दण्डित करने की बारी बहुत ही कम आयेगी। इसी प्रकार शासन में उच्च तथा उच्चतर और उच्चतम अधिकारियों का निम्न, निम्नतर निम्नतम अधिकारियों के प्रति दायित्व तथा कर्तव्य हैं। जानवरों के सम्बन्ध में तो यही कहा जा सकता है कि हम यह दृढ़ संकल्प करें कि अपने जानवरों को विधिवत् खिलाने-पिलाने तथा देख-रेख न करेंगे तो हमें घोर पाप पड़ेगा। जानवरों को ठीक से न रखने वालों का सामाजिक बहिष्कार होना चाहिए।

दूसरी बात हमें विचारने की यह है कि नौकरों तथा उनके परिवारवालों का हमें अधिकाधिक ध्यान रखना चाहिए। अपनी सामर्थ्य और उनकी उचित आवश्यकता के अनुसार निर्धारित वेतन के अतिरिक्त समय-समय पर उनकी आर्थिक सहायता करते रहना कदाचित् अनुचित तथा मालिक के लिए अहितकर न होगा। नौकरों से सिद्धान्तः व्याज नहीं लेना चाहिए। व्याज की जाल में उन्हें फँसाने से केवल बाह्य तृप्ति हो सकती है। यथासम्भव उन्हें किसी व्यसन या कुटेव का शिकार नहीं होने देना चाहिए। यदि हम ऐसा करते रहेंगे तो हमारी सन्तानों में सहानुभूति, उदारता, कर्मण्यता अथवा यों कहा जाय कि वास्तविक मनुष्यता का विकास अपने आप होता चलेगा। गृह-स्वामी तथा गुरुजनों को अपने इस त्याग, नियंत्रण, परिश्रम, आदि का सुन्दर फल अपनी सन्तानों से वृद्धावस्था में उस समय मिलेगा जब कि उनके अङ्ग शिथिल पड़ जायँगे और वे क्रमशः दूसरों के मुखापेक्षी होते जायँगे।

जहाँ तक पथ-भ्रष्ट पड़ोसी को ऋण देने का प्रश्न है—हमारा मार्ग बहुत ही स्पष्ट है। इसमें कुछ आत्म-संयम और त्याग की आवश्यकता पड़ेगी। यदि

कोई व्यक्ति किसी व्यसन-तृप्ति के लिए ऋण माँगता हो तो उसे कदापि नहीं देना चाहिए। जिस सम्पत्ति की लालच में उसको पैसे दिये जाते हैं उसके ऊपर उस व्यक्ति के बाल-बच्चों और कुटुम्बियों की कातर, विवश तथा दुखिया दृष्टि लगी रहती है। ऐसी सम्पत्ति का सम्भोग शान्तिमय और सुखपूर्ण कदापि सम्भव नहीं होता। इसके लिए उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं। यदि ध्यान से देखा जाय तो इस प्रकार सम्पत्ति प्राप्त करने वाले लोगों की गृहस्थी के कोई न कोई अथवा कई मुख्य अङ्ग ध्वस्त अवश्य मिलते हैं। मालिक से कुछ कहने का साहस भले ही न हो पर उनकी सन्तानों से उस व्यक्ति की सन्तानें दोहाई लगाती रहती हैं। मालिक की सन्तानें शैशवावस्था में उनसे (मालिक से) कुछ न कहें परन्तु कालान्तर में इसका प्रत्यक्ष या परोक्ष बदला जान बूझकर अथवा अनजान में अवश्य चुकाती हैं। सुसंस्कृत व्यक्तियों का यह भी दायित्व है कि अपने ऐसे पड़ोसियों को नाना प्रकार की कथा-कहानियाँ तथा धार्मिक और नैतिक सिद्धान्त सुना-सुना और समझा-समझा कर उन्हें उचित मार्ग पर ले आवें।

यदि हमारे अभिभावकगण इन बातों और नियमों के अनुसार व्यवहार करने का कष्ट सहन करेंगे तो अपनी संस्कृति के अनुकूल उपयुक्त शिक्षा विकसित, व्यवस्थित तथा विस्तृत होने में अधिक समय नहीं लगेगा। आरम्भ में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित अवश्य होंगी पर इससे हमें हताश नहीं होना है। हमारी भारतीय संस्कृति में 'धन' और 'सन्तान' के प्रायः विशेष उपयोग हैं। अभाग्यवश हम ऐसे पथ-भ्रष्ट हो गये हैं और होते जा रहे हैं कि आज इनमें से एक भी हमारा वास्तविक साथ नहीं दे रहा है। आवश्यक त्याग, तत्परता तथा कर्मण्यता को अपना कर हमें इन दोनों को सुधारना है।

[निष्कर्ष]

सिंहावलोकन—अभिभावकों के सहयोग बिना शिक्षा को भक्ति-मूलक रूप देना असम्भव; अभिभावकों के अन्तर्गत छात्रों के केवल माता-पिता ही नहीं प्रत्युत सम्पर्क वाले सभी व्यक्ति। वर्तमान दृष्टिकोण आर्थिक होने से भारतीय परिवारों की गुत्थियाँ; 'गृह' और 'होम' के अन्तर; पाश्चात्य संस्कृति में दाम्पत्य जीवन की अस्थिरता तथा अनिश्चितता; फलतः आजीवन कुमार-कुमारी की भी परम्परा। भारतवर्ष की कर्म-प्रधान संस्कृति में विच्छेद, सन्देह,

आदि के लिए स्थान नहीं; पुण्य-पाप, कर्तव्य-अकर्तव्य; यश-अपयश, आदि की हमारी वर्तमान परिभाषा अस्त-व्यस्त। अभिभावकों के निम्नांकित दायित्व।

शिक्षकों का उचित सम्मान—इस शिक्षा-योजना में शिक्षकों का दायित्व असाधारण; अभिभावकों के सहयोग बिना उनका सुसम्पादन कठिन; अभिभावकों के अन्तर्गत सभी धनी-मानी लोग; यूरोपियन स्कूलों का अस्तित्व तथा उन्हें अब भी अस्वाभाविक प्रोत्साहन; उन स्कूलों की कार्य-प्रणाली पाश्चात्य परम्परा के अनुकूल; वे उपयोगी नहीं; इनके अस्तित्व से कई अहित—बच्चों का कुसंस्कार; साधारण विद्यालयों की वास्तविक स्थिति से यहाँ के उच्च लोगों की अनभिज्ञता। फिर भी धनी-मानी लोगों की सन्तानें साधारण विद्यालयों में भी; शिक्षकों के साथ उनका अनुचित व्यवहार। किसी भी स्तर के अभिभावक का किसी भी स्तर के भारतीय शिक्षक के सम्मुख नतमस्तक होना परमावश्यक; समय-समय पर शिक्षक—अभिभावक मिलाप; कुछ ही समय तक शिक्षकों का सम्मान सिद्धान्तः; फिर तो उनमें विविध विशेषताओं का स्वतः विकास। शिक्षकों का इतना सम्मान अपने ही तथा अपनी ही सन्तानों के कल्याण के निमित्त; पाश्चात्य परम्परा का अनुकरण अनुचित।

नियमित जीवन—धर्म की प्रधानता; विदेशी शासन की कूटनीति से भारतवासियों की धर्म की ओर अस्वाभाविक उदासीनता; देश में कई धर्म होने से कोई भी कठिनाई नहीं; सभी कार्यों में मौलिक अच्छाइयाँ; सभी धर्मों में कायिक अभ्यास; स्वास्थ्य-वर्द्धक; इनके नियमित अभ्यासों का सन्तानों पर उपयोगी प्रभाव। सन्तानों की जानकारी में किसी की भी निन्दा न करना; सन्तानें गुरुजनों से ही प्रभावित; दैनिक चर्या लगभग शिक्षकों के समान। धन-लिप्सा का त्याग; सेना के अतिरिक्त सभी विभागों की रूप-रेखा में परवर्तन; जीविका की परिभाषा में क्रान्ति; अभिभावक अपनी सन्तानों की वास्तविक क्षमता जानने के लिए उत्सुक एवं इच्छुक; सन्तानों की क्षमता से ऊँचा पद दिलवाना कदापि उपयोगी नहीं; अभिभावकों की सावधानी परमावश्यक।

अनुकूल वातावरण का सृजन—पारिवारिक जीवन का पुनरुत्थान परमावश्यक; ग्रामों के शिक्षित लोगों का नगरों में बसने के लिए उत्सुक होना घातक; सभी उत्सव, समारोह, आदि जन्म-स्थान ही पर; गाँवों में जाने पर यथा-सम्भव शारीरिक श्रम। पड़ोसियों के प्रति अधिकाधिक उदार; सन्तानों पर सुन्दर प्रभाव; दाव-पेंच, छल-कपट, आदि का हमारे व्यवहार में अभाव परमावश्यक सन्तोषपूर्ण एवं शान्तिमय जीवन अकर्मण्यता का द्योतक कदापि नहीं; वास्तविक सुखी जीवन का सृजन इसी प्रकार सम्भव; व्यापार, कृषि,

आदि में सद्‌भावना एवं तत्परता की अधिकाधिक आवश्यकता; आर्थिक लाभ की अपेक्षा समाज-सेवा की ओर विशेष ध्यान अपेक्षित। सन्तोषपूर्ण जीवन भारतीय वातावरण में सम्भव तथा उपयोगी—दोनों ही; 'लघुता' और 'प्रभुता' के द्वन्द्व से हमारी रक्षा आवश्यक; बिरादरी की विशेषताएँ; वर्तमान युग में भी उसकी अच्छाइयों को ग्रहण करना।

आश्रितों के साथ समुचित व्यवहार—शक्ति सम्पन्न व्यक्तियों के अनेक आश्रित; आश्रितों में विविध दुर्बलताएँ; अपराधियों को दण्डित करना भी उचित एवं आवश्यक; परन्तु किसी दण्ड का औचित्य उसकी कल्याण-क्षमता पर निर्भर। आश्रितों के अन्तर्गत समय-समय पर राय लेने वाले व्यक्ति भी; ऐसे व्यक्तियों के साथ आजकल अधिक दुर्व्यवहार; इन लोगों से अनुचित काम कराकर इनकी भूमि, सम्पत्ति, आदि ले लेना। आश्रितों के अन्तर्गत जानवर भी; पशुओं के साथ हमारा व्यवहार चरम सीमापर; दूधवाले पशुओं पर कुछ ध्यान अवश्य परन्तु उनके बच्चों का तिरस्कार। गृह स्वामियों और स्वामिनों को अधिकाधिक सावधान होने की आवश्यकता; नौकरों पर विशेष ध्यान देना आवश्यक एवं उपयोगी। पड़ोसियों को ऋण, आदि सँभाल कर दिया जाय।

अध्याय ८

भावी-शिक्षा-योजना में 'छात्र'

सिंहावलोकन—साधारणतः वातावरण तथा अन्य लोगों के ठीक हो जाने पर छात्र अपने आप ही सुधर जाते। परन्तु, वर्त्तमान काल में परिस्थिति दिन, प्रति-दिन इतनी गम्भीर होती जा रही है कि छात्रों को स्वयं भी बहुत कुछ करना तथा सँभलना है। यदि हम उन्हें अनुकरण, आज्ञापालन, निष्ठा कर्त्तव्य-परायणता आदि के लिए केवल प्रेरित करते हैं तो सम्भव है कि उनमें से अधिकांश इस वर्तमान छात्र-जीवन के गुलछर्रों को सुन-सुनकर तरसें और ललचें। फलतः उनकी दशा तथा उनके दायित्व और कर्तव्य की संक्षिप्त व्याख्या उपयोगी तथा प्रासङ्गिक ही होगी। इस व्याख्या का उद्देश्य छिद्रान्वेषण न होकर दोषाध्ययन तथा शोधन है। प्रारम्भिक और पूर्व माध्यमिक स्तर के छात्रों के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना है; उन से जो कुछ और जिस प्रकार कहा जायगा, करेंगे। हमें उत्तर माध्यमिक तथा उच्च कक्षाओं के छात्रों को सचेत तथा सावधान करना है। छात्रों के मन में यह बैठाना है कि इस देश में उनका छात्र-जीवन तथा समस्त जीवन तभी सुखमय और व्यवस्थित होगा जब कि वे अपनी ही संस्कृति के अनुसार मनसा, वाचा और कर्मणा व्यवहार करेंगे।

धर्माधारित-जीवन—छात्रों का सर्वप्रथम कर्तव्य होगा कि अपने जीवन को वे धर्माधारित करें। प्रकृति के क्षेत्र में देश, काल और पात्र का बड़ा महत्त्व है। 'धर्म' भी इससे परे नहीं। भावी छात्रों के लिए विभिन्न धर्म तभी उपयोगी सिद्ध होंगे जब कि उनकी रूढ़ियों में आवश्यक हेर-फेर तथा सुधार किये जायँगे परन्तु यूरोप की भाँति हमें धर्म को इतना काटना-छाँटना नहीं है कि वह हमारा अनुचर हो जाय। इस 'कर्म-प्रधान' धरा पर 'धर्म' को प्रत्येक दशा में स्वामी ही रखना पड़ेगा। इस देश में कई धर्मों के अनुयायी अवश्य हैं पर उनके मूल सिद्धान्तों में अन्तर नहीं के बराबर हैं। समाज तथा

सरकार का यह कर्तव्य होगा कि देश के विभिन्न प्रकार के सुसंस्कृत व्यक्तियों की की एक समिति अथवा परिषद् बनाये और छात्रों के निमित्त कोई विस्तृत धार्मिक नियमावली तैयार कराये। नियमावली तैयार करने में अत्यधिक सावधानी, सहानुभूति, उदारता तथा निष्ठा से कार्य किया जायगा पर एक बार उसके सुनिर्मित हो जाने पर उसका पालन अत्यन्त कठोरता और दृढ़ता से करना पड़ेगा।

भारतीय संस्कृति में बच्चों (छात्रों) का सुधार अथवा समाजीकरण विभिन्न 'संस्कारों' द्वारा होता था। इनमें से कुछ बहुत कठिन थे। उन्हें उन रूपों में इस समय कार्यान्वित करना कठिन और कुछ अंशों में अनावश्यक भी है। वर्तमानकाल में पाश्चात्य विद्वानों ने 'मनोविज्ञान' को अत्यधिक महत्त्व दिया है और वहाँ पर इसकी व्याख्या विस्तृत होती जा रही हैं। उन लोगों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'कठोरता' से बच्चों की कई प्रवृत्तियाँ नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं। उनकी यह व्याख्या व्यक्ति-प्रधान संस्कृति के लिए वास्तव में उपयोगी है। इन सुविधाओं से व्यक्तित्व का निरन्तर विकास होता है। पर कर्म-प्रधान संस्कृति को इससे धक्का पहुँच सकता है और पहुँच भी रहा है। कठोर जीवन हम प्रायः उसी को कहते हैं जिसमें कि विभिन्न नियमों का पालन करना पड़ता है। छात्र अपने माता-पिता के साथ रहते हों अथवा छात्रालयों में हों परन्तु सबको प्रातःकाल नियमित रूप से उठना पड़ेगा। किसी न किसी निर्धारित रूप में सर्वप्रथम गुरुजनों का सादर अभिवादन करना पड़ेगा। दैनिक क्रियाओं से निवृत्त होकर कुछ निश्चित समय तक पूजा-ध्यान किया जायगा। इन सब अभ्यासों से लाभ तब तक नहीं होंगे जब तक कि ये एकाग्र चित्त करके विधिवत् नहीं किये जायँगे।

चित्त को एकाग्र करने में ही किसी व्यक्ति अथवा वर्ग के धर्म-कर्म तथा अध्यवसाय की सच्ची परीक्षा हो पाती है। पाश्चात्य शिक्षा-शास्त्रियों तथा वर्तमान मनोविज्ञान का कहना है कि बच्चों और छात्रों की मनोवृत्तियाँ विभिन्न और चञ्चल होती हैं; उन्हें आवश्यकता से अधिक घुमाना उचित तथा उपयोगी नहीं। इन विचारों का प्रतिपादन ऐसी सावधानी से और ऐसी मजी हुई भाषा में होता है कि साधारणतः इनके प्रतिकूल जाना असम्भव सा है। परन्तु एक ओर 'चञ्चलता', 'भिन्नता', आदि तथा दूसरी ओर 'आवश्यकता' की परिभाषाएँ देश, काल और पात्र के अनुसार परिवर्तित होती रहती हैं। मुद्रण, कला तथा अन्य वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप किसी भी विचार-धारा का प्रचार तथा उसका समालोचनात्मक विवेचन शीघ्रातिशीघ्र हो

जाता है। साथ ही, प्रत्येक वर्तमान राष्ट्र की सरकार की रूप-रेखा चाहे जो हो परन्तु किसी न किसी रूप में और किसी न किसी अंश तक वह लोकवाद का आदर करने का प्रयत्न करती है। इस प्रकार संसार के सभी उन्नत तथा प्रगतिशील राष्ट्रों में शिक्षा की व्यवस्था इसी रङ्ग में रँगी हुई है। रुचि-विभिन्नता तथा मनोविज्ञान को इस समय अधिकाधिक प्रोत्साहन मिल रहा है। भारतवर्ष और विशेषतया उत्तर प्रदेश किसी भी नई विचारधारा अथवा प्रणाली को कार्यान्वित करने के लिए अधिकाधिक उदार तथा उत्सुक रहता है।

यहाँ पर उद्देश्य यह नहीं है कि मनोविज्ञान का खण्डन अथवा मण्डन किया जाय। परन्तु इतना निश्चय है कि सभी मनोवृत्तियो का विश्लेषण करने से किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्र की वास्तविक तथा उपयोगी शिक्षा में यदि वाधा नहीं तो विलम्ब अवश्य होगा। स्थिति विशेष भयावह इसलिए और हो गई है कि वर्तमान मनोविज्ञान के आँकड़े विदेशी प्रयोगों के आधार पर निर्धारित हैं। चित्त की एकाग्रता को इनसे धक्का लग सकता है। फलतः मनो-विज्ञान और धर्म में कुछ ऐसे सामञ्जस्य की आवश्यकता है कि छात्र धर्म की ओर से उदासीन न होने पावें। प्रत्येक देश के विद्वानों, पण्डितों, धर्मो-पदेशकों, आदि ने विभिन्न धर्मों के सिद्धान्तों को मनोविज्ञान, तर्क, आदि से उच्च सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया था। जिन प्रसङ्गों से मनुष्य का मन हटना असम्भव अथवा कठिन होता है उनसे धर्म के नाम पर हटने के लिए हम विवश हो जाते थे। वहाँ किसी तर्क अथवा व्याख्या के लिए लेशमात्र भी स्थान न था। परन्तु मनोविज्ञान को अधिकाधिक प्रोत्साहन और धर्म को गौणातिगौण महत्त्व मिलने से चित्त को एकाग्र करना कठिन हो गया है। अन्य देशों में चाहे जो कुछ भी और किसी भी रूप में होता रहे परन्तु हमारे भावी छात्रों का यह परम पुनीत कर्तव्य होगा कि वे धर्म को अधिकाधिक महत्त्व देने का प्रयत्न करें।

प्रत्येक धर्म में कुछ पवित्र स्थान —मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, गिरजाघर आदि होते हैं। इनके प्रति आजकल अधिकांश भारतीय छात्र उदासीन से हैं। इनकी रूढ़ियों से ये लोग चौंक उठते हैं; इनकी विशेषताओं तथा परम्परा को तर्क और विज्ञान की कसौटी पर कसा जाता है। इस उपेक्षा के फलस्वरूप भारतीय छात्र यहाँ की साधारण जनता से दूर होते जा रहे हैं। मनुष्य होने के नाते लोगों में इतनी विशालता तथा उदारता होनी चाहिए कि परम्परागत तथा संस्काराधारित रूढ़ियों और संस्थाओं के प्रति हम अधिकाधिक सहानुभूति

दिखा सकें। ऐसा करना अन्धविश्वास कदापि नहीं कहा जा सकता है। यह तो अनेक व्यक्तियों के हृदय तक पहुँचने का सरल और सुगम मार्ग है। ऐसा करने से अन्य वर्ग, धर्म तथा सम्प्रदाय के लोग हमारे निकट आ सकते हैं। उच्च कक्षाओं के छात्र इसी प्रकार अपने अध्ययन को अधिकाधिक उपयोगी तथा लोक-प्रिय बना सकते हैं। जिस स्थान पर पूजा-ध्यान, कथा-वार्ता, धर्म-चर्चा आदि बहुत दिन से होती चली आ रही हो, उसके, प्रति, चाहे वह किसी भी धर्म से सम्बन्धित क्यों न हो, उदासीन रहना अथवा उपेक्षा-भाव दिखाना किसी भी मनुष्य के लिए उचित नहीं और छात्रों के लिए तो बहुत बड़ा पाप है।

किसी धार्मिक स्थान के प्रति अधिकाधिक सहानुभूति दिखाने का तात्पर्य यह नहीं है कि हम उसमें जाकर विधिवत् पूजा-ध्यान करें—कदापि नहीं। हो सकता है कि कहीं-कहीं पर हमारा प्रवेश भी (विशेषतया जब वह स्थान अन्य धर्म से सम्बन्धित हो) वर्जित हो। जब कभी वहाँ जाने का सुअवसर प्राप्त हो तो हमें चाहिए कि परिस्थितियों के अनुसार उसके भीतर अथवा बाहर—कहीं भी अत्यन्त सावधानी के साथ स्थान-विशेष पर मुद्रा-विशेष में हम खड़े हो जायँ और मिनट-दो मिनट तक उसके सम्मान में अभिवादन करें। ऐसा करने से अपनी संस्कृति तथा अपने धर्म को तनिक भी धक्का न पहुँचेगा। जहाँ पर हमारा प्रवेश वर्जित हो वहाँ पर हमें खिन्न तथा हताश नहीं होना चाहिए। छात्रों के लिए तो ये स्थान और उपयोगी हैं। उन्हें तो अनुकूल और प्रतिकूल दोनों का अध्ययन करके अपने हृदय और मस्तिष्क को शोधना है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि इतिहास, विज्ञान, आदि से अर्जित ज्ञान और अनुभव का प्रयोग हम ऐसे ही अवसर पर कर सकते हैं।

इतिहास, विज्ञान, आदि से अर्जित ज्ञान की ओर संकेत करने का उद्देश्य यही है कि विभिन्न धर्मों के वाह्य रूपों अर्थात् सक्रिय अभ्यासों में इतने अन्तर क्यों हैं? किसी धर्म के कुछ तथा बहुत से सिद्धान्त अन्य धर्मों से भिन्न क्यों हैं? क्या ये अन्तर यों ही हो गये हैं? क्या वैज्ञानिक आविष्कारों की सहायता से इन अन्तरों को सुविधापूर्वक मिटाया जा सकता है? इन प्रश्नों के उत्तर 'हाँ' अथवा 'ना' में देना सरल नहीं। परन्तु इन प्रसङ्गों पर विविध विचार करना उच्च कक्षाओं के छात्रों को सुगम है। इतिहास साक्षी है कि समस्त संसार में धर्म का प्रसार प्रधानतया दो रूपों में हुआ है—(अ) मूल धर्मों का प्रादुर्भाव तथा विकास और (ब) शासकों के धर्म का शासितों में प्रचार। जिन देशों के धर्म प्रथम प्रकार के हैं उनमें दृढ़ता अधिक होती है। इन्हीं

भिन्नताओं और अन्तरों के फल-स्वरूप किसी-किसी धर्म के अनुयायियों में कट्टरता अधिक होती है। अन्य धर्मावलम्बियों से ये लोग बड़ी सावधानी से मिलते-जुलते हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों की चका-चौंध में 'धर्म' तिरस्कृत अवश्य है परन्तु भेद-भाव प्रज्वलित करने वाले सक्रिय अथवा प्रत्यक्ष अभ्यास लगभग ज्यों के त्यों अक्षुण्ण हैं। छात्रों के मस्तिष्क अपेक्षाकृत मुक्त तथा निष्पक्ष होते हैं। इस प्रकार यदि भारतीय छात्रों के दृष्टिकोण में समुचित परिवर्तन हो जाय तो विभिन्न धर्मों की प्रतिकूल प्रवृत्तियों की समाज के सम्मुख वे उपयोगी समीक्षा उपस्थित कर सकते हैं।

उच्च कक्षाओं के छात्रों को अपने धर्म की रक्षा व्याह के सम्बन्ध में भी करनी है। भारतीय संस्कृति में व्याह या पाणिग्रहण के जो उद्देश्य हैं उनका संक्षिप्त उल्लेख यथास्थान पहले ही हो चुका है। पाश्चात्य लोगों के अधिक सम्पर्क में आने के कारण हमारे वर्तमान नवयुवक, विशेषतया शिक्षित लोग, पत्नी के बजाय 'वाइफ' के लिए उत्सुक तथा व्यग्र दिखाई पड़ते हैं। लोगों का ध्यान शारीरिक सौन्दर्य की ओर अधिक जा रहा है। काले तथा कुरूप नवयुवक विशेषतया किसी परी का ही स्वप्न देखते हैं। यह अकाट्य सत्य है कि प्रकृति या परमात्मा एक ही व्यक्ति में सभी अच्छाइयाँ नहीं दे देते। सुन्दर शरीर वाले व्यक्ति प्रायः कम गुणवान होते हैं। लेखक का यह दृढ़ विश्वास है कि जिन लड़कों या लड़कियों में यथाकथित (शारीरिक) सौन्दर्य का अभाव रहता है उनमें सद्भावना और स्वास्थ्य कूट-कूट कर भरे रहते हैं। अधिक न लिखकर, छात्रों से यही अनुरोध है कि वे अपने व्याह में दो बातों के लिए सावधान रहेंगे। प्रथम तो यह है कि वे शारीरिक सौन्दर्य के लिए व्यग्र न होंगे और दूसरे, 'दहेज' अथवा लेन-देन की दुर्गन्ध से सुरक्षित रहेंगे। ऐसा करने में उन्हें यदि अपने माता-पिता तथा गुरुजनों की आज्ञा का उल्लंघन भी करना पड़े तो भक्त प्रह्लाद की भाँति वे अडिग रहेंगे।

भारतीय छात्रों को वैवाहिक सम्बन्धों के सम्पादन में यथासम्भव स्वयं तटस्थ रहना चाहिए। वर्तमान वातावरण इतना क्षुब्ध है कि इस सुझाव पर नवीन रोशनी के लोग हँसेंगे। वे सोचेंगे कि कितनी उल्टी बात है कि उनका ही विवाह सुसम्पादित हो और वे ही तटस्थ रहें। पाश्चात्य परम्परा के कुप्रभाव से लोग ऐसा सोचने लगे हैं अन्यथा इन सम्बन्धों में गुरुजनों का जितना ही अधिक अधिकार रहेगा उतने ही अधिक कल्याण की सम्भावना रहती है। पिछले अध्यायों में यथास्थान भारतीय पाणि-ग्रहण के सिद्धान्त

विधिवत् स्पष्ट किये गये हैं। यदि इसका आधार पितृ-पूजा ही है तो इसके सुसम्पादन में गुरुजनों के ही अधिक अधिकार होने चाहिए। साथ ही एक विशेषता और है। वयोवृद्ध होने के कारण गुरुजन प्रायः चरित्रता, सात्विकता कुलीनता, आदि पर विशेष ध्यान देते हैं। यह तो एक अभारतीय दोष आ गया है कि वर्तमान गुरुजन अपनी सन्तानों के वैवाहिक सम्बन्ध के औचित्य की कसौटी दहेज बनाये हुए हैं। अन्य परिस्थितियों के सुधरते ही इस कुप्रथा का निमूलन शीघ्रातिशीघ्र हो जायगा। सिद्धान्तः इन लोगों के माध्यम से हमारे देश और समाज के वैवाहिक सम्बन्ध अधिक उपयुक्त, टिकाऊ, तथा उपयोगी होंगे। हमारे अशिक्षित माता-पिता भी अपने इस दायित्व की पूर्ति समुचित विधि से कर लेंगे इन लोगों के सच्चे आशीर्वाद ही पग-पग पर हमारी रक्षा करेंगे।

अपने जीवन को धर्माधारित करने में छात्रों को एक बात का ध्यान यह और रखना पड़ेगा कि वे नौकरों की सहायता न्यूनतम् लें। आजकल हमारे छात्र अपना विस्तर ठीक करने में, अपने से एक गिलास पानी लेकर पीने में तथा अपनी गीली धोती फींचने में अपमान समझते हैं। यह बहुत बड़ा अधर्म है। इन कामों को अकारण किसी दूसरे से नहीं करवाना चाहिए। प्रस्तुत तार-तम्य में नौकरों का रहना अनावश्यक नहीं कहा जा सकता—परन्तु उनकी सहायता सामूहिक कार्यों में ली जाय न कि व्यक्तिगत में। अपने कमरे की सफाई छात्र स्वयं करें। हाँ, बरामदों हाल, मैदान, आदि की सफाई नौकर करें। साधारण परिस्थिति में नल अथवा कुएँ से अपनी सुराही या घड़ा भर लाने में अथवा अपने नहाने के लिए पानी खींचने में छात्रों को झेंपना नहीं चाहिए। यह कह देना कि इन कामों को नौकरों द्वारा करवा कर कुछ समय बचाया जाता है, उचित नहीं। इन सबसे छुटकारा देकर नौकरों को सामूहिक तथा सार्वजनिक स्थानों को और अधिक स्वच्छता तथा सुन्दर बनाने में लगाया जा सकता है। अपने कामों को अपने आप करते रहने से हममें कई वाह्य तथा आन्तरिक विशेषताएँ अपने-आप विकसित होती रहेंगी।

इस प्रकार की विशेषताओं की कुछ संक्षिप्त व्याख्या सम्भवतः अप्रासङ्गिक न होगी। इन छोटे-मोटे शारीरिक कामों को हमारे देश में प्रायः साधारण तथा निर्धन लोग करते हैं। औरों को यथा-कथित आराम का जीवन व्यतीत करते देखकर ये लोग अपने को कुछ हेय तथा अपमानित समझते हैं और फलतः विवश होकर कामोंमें लगते हैं। जहाँ तक इसका आर्थिक सम्बन्ध है वह छात्रों के वश में नहीं है। छात्रों के इन कामों में लगने से हो सकता है कि

भ्रमवश नौकरों की संख्या भी लोग कम कर दें। परन्तु इस प्रकार के काट-छाँट की दुर्भावना केवल आरम्भ में हो सकती है। हमें अपने प्रयत्नों की अच्छाइयों पर ध्यान देना है। इन नौकरों अथवा मोटे काम करने वालों में सन्तोष की भावना पर्याप्त होती है। उनके सुख-दुःख की परिभाषा और रूप-रेखा अत्यन्त सरल तथा संक्षिप्त होती है। यदि पग-पग पर उनके मार्ग में काँटे बिछे हुए हैं तो पग-पग पर ही वे फूलों का भी दर्शन करके फूले नहीं समाते। आवश्यकताओं के सरल तथा सूक्ष्म होने से सुखी और गौरवान्वित होने के अवसर दिन में उन्हें कई बार मिलते हैं। जिस उत्साह से वे पानी निकालते हैं, सवारियाँ ढोते हैं, ठेले खींचते हैं तथा अन्य छोटे-मोटे काम करते हैं, उससे पढ़े-लिखे लोग अपने कामों में नहीं लगते। इसके अन्य कारण भी हैं। इतना निश्चय है कि छोटे-मोटे कामों में अपने नौकरों का हाथ बँटाने से हमारे भावी छात्रों को अध्यवसाय, सुख-दुख, सन्तोष, आदि के कुछ ऐसे प्रयोगात्मक उपदेश मिलेंगे जो किसी भी कठिनाई में उनका सक्रिय पथ-प्रदर्शन करेंगे। साथ ही, अपने बाबुओं को इन कामों में सहर्ष लगे देखकर वे बेचारे अपने को कुछ कम हेय तथा अपमानित समझेंगे।

यहाँ पर एक प्रसङ्ग और भी विचारणीय है। इस प्रकार के नौकर प्रायः छात्रों की शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त कार्य करते हैं। भोजन बनाते हैं, पीने का पानी लाते हैं, विस्तर ठीक करते हैं, झाड़ू लगाते हैं, इत्यादि। इन सभी कार्यों का सम्बन्ध छात्रों के शरीर और स्वास्थ्य से होता है। यदि यह सत्य है कि वे नौकर हमारे इन कामों में विवश होकर लगते हैं तो यह भी सत्य है कि उनके कार्यों का सक्रिय निरीक्षण तथा सञ्चालन करना हमारे लिए परमावश्यक है। स्मरण रहना चाहिए कि छात्रालयों में आजकल भी जो छात्र इस सम्बन्ध में कुछ सावधान रहते हैं उनके कार्य अधिक तत्परता से सम्पादित होते हैं! प्राचीन और मध्यकाल में हमारे यहाँ भोजन, आदि की स्वच्छता पर विशेष ध्यान दिया जाता था। अपने पीने का पानी तथा भोज्य पदार्थों का जितना ध्यान स्वयं रखा जा सकता है उतना नौकर अथवा किसी अन्य व्यक्ति से सम्भव नहीं। कमरों के दिखाई देने वाले भागों को तो नौकर साफ कर दिया करते हैं परन्तु बक्सों के नीचे, चारपाई या तख्त के बगल में तथा अन्य छिपे हुए अंशों में विभिन्न प्रकार की गन्दगी पड़ी रहती है। स्वच्छता का महत्त्व न्यूनाधिक सभी संस्कृतियों में है। सांस्कृतिक संघर्ष के फलस्वरूप हमारे वर्तमान भारतीय छात्र केवल वाह्य उपकरणों का ध्यान रखते हैं। फलतः हमारे भावी छात्रों का यह परमपुनीत दायित्व होगा कि छोटे-मोटे शारीरिक श्रम में वे प्रसन्नतापूर्वक लगें।

अध्ययन को समुचित महत्त्व—छात्रों का द्वितीय कर्तव्य होगा अपने अध्ययन को अधिकाधिक महत्त्व देना। ऐसा न होने से ही वर्तमानकाल में हमारे देश में छात्र-जीवन का सौन्दर्य ही समाप्त हो गया है। परिस्थिति कुछ ऐसी डँवाडोल है कि छात्र परीक्षा अथवा यह कहा जाय कि 'प्रमाणपत्र' को अत्यधिक महत्त्व देने के लिए विवश हैं। 'कर्तव्य' के अभाव में 'अधिकार' के लिए उन्हें नाना प्रकार के संघर्ष सहन करने पड़ते है। यदि छात्र अध्ययन में ठीक से लग जायँ तो कोई कारण नहीं कि विद्यालय में उन्हें झूठ बोलना अथवा अपमानित होना अथवा अनुचित कुचक्रों में पड़ना पड़े अथवा अकर्मण्य तथा दुष्ट व्यक्तियों की मण्डली में जाना पड़े। अध्ययन के अव्यस्थित हो जाने से छात्रों के संस्कार उसी प्रकार छिन्न-भिन्न होते जा रहे हैं जिस प्रकार कि किसी स्थान के निर्धारित मार्ग के छूट या भूल जाने पर अनेक कटीले, पथरीले तथा भ्रामक रास्तों से चलना पड़ता है। इसमें सन्देह नहीं कि पाठ्य-क्रम वातावरण के अनुकूल न होने से भी अनेक गुत्थियाँ पड़ गई हैं पर इनमें से अधिकांश इसलिए जटिलतर होती जा रही हैं कि छात्र अपने दायित्व की अवहेलना कर रहे हैं।

अध्ययन का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि हर समय कितावों के कीड़े बने रहें। ऊँची कक्षाओं के छात्रों में मननशीलता होनी चाहिए। किसी कथा या सिद्धान्त को समझ कर उसे देश, काल और पात्र की कसौटी पर कसना चाहिए। किसी ग्रामीण सज्जन ने एक प्रसङ्ग में कहा था कि आजकल 'पढ़ना' तो थोड़ा बहुत हो भी रहा है पर 'कढ़ना' बिलकुल ही नहीं हो पाता। उनके कहने का तात्पर्य यही है कि आजकल के छात्र मननशील तथा विचारशील बिलकुल नहीं हो रहे हैं। कुछ लोगों का कहना है कि मननशीलता सबके लिए सम्भव नहीं; केवल प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति ही ऐसे हो सकते हैं। प्रसङ्ग विशेष के लिए यह ठीक हो सकता है परन्तु साधारणतः छात्रों से यही आशा की जाती है कि किसी बात को विधिवत् समझ लेने पर वे उस पर विचार करें। इसके लिए उचित अध्यापन तथा पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता है। पर अध्यापन में यदि कोई दोष आ गया हो तो केवल इसी की आड़ में उच्च कक्षाओं के छात्रों का अकर्मण्य हो जाना किसी प्रकार भी शोभा नहीं देता।

वर्तमान पाठ्य-क्रम में अन्य दृष्टिकोणों से चाहे जितने दोष हों परन्तु मननशीलता तथा विचार-विनिमय के लिए इसमें पर्याप्त सामग्री तथा अवसर हैं। देशी तथा विदेशी अनेक विद्वानों ने यहाँ के आचार-विचार, रहन-सहन राग-रङ्ग, वेश-भूषा, जीवन-मरण, आदि की तीव्र आलोचना की है। उनकी रचनाएँ उच्च कक्षाओं के छात्रों के लिए प्रायः निर्धारित हैं। इनका प्रभाव

छात्रों पर अच्छा नहीं पड़ता। इन प्रसङ्गों पर छात्र यदि कुछ सोचें-विचारें और भारतीय संस्कृति तथा विशेषताओं को समझाने का प्रयत्न करें तो इससे व्यक्ति और समाज—सभी का कल्याण हो सकता है। यही बात वैज्ञानिक प्रयोगों तथा आविष्कारों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। लकीर के फकीर की भाँति सभी वैज्ञानिक प्रयत्नों को समान रूप में अत्यधिक उपयोगी मान लेना उचित नहीं। हाँ, परीक्षा के दृष्टिकोण से उन्हें (छात्रों को) सब कुछ विधिवत् जानना चाहिए परन्तु उन बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए जो कि अपने देश और समाज के लिए हितकर हैं। ऐसा ही न होने से हमारे शिक्षित-वर्ग के लोग दुखी तथा विपन्न हैं। कई स्थानों पर पीछे स्पष्ट किया जा चुका है कि केवल धनार्जन तथा उच्चपद-प्राप्ति से ही किसी व्यक्ति का जीवन सुखमय नहीं हो सकता।

अध्ययन का आधार केवल पद-प्राप्ति अथवा उच्च परीक्षा-फल नहीं होना चाहिए। इस प्रकार का अध्ययन प्रत्येक देश तथा वर्ग के लिए घातक है। परन्तु 'व्यक्तित्व' की ख्याति के दृष्टिकोण से व्यक्ति-प्रधान समाज में यह कभी-कभी आवश्यक तथा उपयोगी होता है। हमारी कर्म-प्रधान संस्कृति के लिए तो यह अत्यन्त अनिष्टकारी है। स्पर्धा का बीजारोपण हो जाने पर अध्ययन की स्वाभाविकता समाप्त सी हो जाती है। पुस्तकों का अध्ययन छिप-छिप कर तथा दाव-पेंच से किया जाता है। ऐसे अध्ययन की उपयोगिता क्या हो सकती है जिसमें स्वर्गीय तथा गुप्त अथवा अपरिचित व्यक्तियों की विचार-धाराओं को तो पढ़ने, समझने तथा अपनाने के प्रयत्न किये जाते हैं परन्तु जीते-जागते, साथ पढ़ने वाले, पड़ोस में ही रहनेवाले-प्रत्यक्ष तथा साक्षात व्यक्तियों का तिरस्कार किया जाता है और उनके साथ पग-पग पर छल-कपट किये जाते हैं। ऐसे अध्ययन का न तो नैतिकता और चरित्रता पर कोई प्रभाव पड़ता है और न तो भाषा तथा भाव पर ही उपयुक्त अधिकार जम पाता है। परीक्षा-फल प्रकाशन की अन्तिम घड़ी तक छात्र प्रायः उद्विग्न रहते हैं। कक्षा पर कक्षा ज्यों-ज्यों हम पास करते जा रहे हैं त्यों-त्यों आत्म-संस्कार से कोसों दूर होते जा रहे हैं। किसी विषय अथवा उसके किसी अङ्ग की उपेक्षा इसलिए नहीं होनी चाहिए कि वह कठिन है। आजकल के मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि अध्ययन में 'रुचि' को सर्वाधिक महत्त्व मिलना चाहिए। 'रुचि' को महत्त्व अवश्य मिलना चाहिए परन्तु साथ ही अन्य बातों का भी ध्यान रखना है। कर्म-प्रधान संस्कृति में तो व्यक्तिगत रुचि के लिए बहुत कम अथवा यों कहा जाय कि नहीं के बराबर स्थान है।

भारतीय छात्रों को भी अध्ययन में रुचि को महत्त्व अवश्य देना है परन्तु यह सुविधा साधारणतः विषय के चुनने में न होगी। सभी छात्रों से यह आशा की जायगी कि वे अधिक से अधिक तथा कठिन से कठिन विषयों का अध्ययन यथा-शक्ति तथा यथा-सम्भव करें। आलस्य और प्रमाद के कारण किसी विषय के अध्ययन से भग जाना देश-द्रोह तथा समाज-द्रोह के तुल्य होगा। 'कर्म-प्रधान' देश में अकर्मण्यता का बाना धारण करना यदि देश-द्रोह नहीं तो और क्या कहा जा सकता है! हमारे यहाँ छात्रों की रुचि को महत्त्व अध्ययन-शैली में दिया जायगा। यदि कोई छात्र चञ्चल स्वभाव का है तो 'गणित' अथवा 'विज्ञान' के अध्ययन में उसे मौखिक अभ्यास अधिक कराने पड़ेंगे। शिष्टाचार के अध्ययन तथा अभ्यास में ऐसे छात्रों की देख-रेख तथा उनका पथ-प्रदर्शन कुछ कड़ाई और सावधानी से करना पड़ेगा।

'रुचि' का बनना-बिगड़ना बहुत कुछ वातावरण और सामाजिक रूढ़ियों पर निर्भर है। छात्रों के सभी अथवा अधिकाधिक विषयों के अध्ययन करने का तात्पर्य यह नहीं है कि वे पाठ्यक्रम में दिये गये सभी विषयों को पूर्ण रूप से पढ़ें। यह न तो उपयोगी होगा और न तो सम्भव ही। इसका तात्पर्य केवल यही है कि छात्रों में इतनी उदारता, उत्सुकता, सहृदयता, विशालता, आदि विकसित हो जाय कि सभी विषयों के पढ़ने वाले विभिन्न छात्रों से वे प्रायः तथा सहर्ष सम्पर्क स्थापित कर सकें। 'कर्म-प्रधान' समाज में सम्पर्क और सत्संग का बड़ा महत्त्व है। पाश्चात्य संस्कृति में भी 'सहयोग' को बहुत महत्त्व दिया गया है। ध्यान से देखने पर पता चलता है कि 'सहयोग' का आधार 'अनुराग' है और 'सम्पर्क' या 'सत्संग' का आधार 'परित्याग' है। दूसरे शब्दों में 'सहयोग' के लिए दोनों दलों को समान रूप से उत्सुक होना चाहिए परन्तु 'सम्पर्क' अथवा 'सत्संग' को हम अपने-आप भी अंकुरित तथा विकसित कर सकते हैं। यथास्थान यह कई बार कहा जा चुका है कि हमारा भारतीय समाज 'परित्याग' की ही भित्ति पर निर्मित है।

'परित्याग' को यहाँ पर कुछ और स्पष्ट करने की आवश्यकता है। त्याग करने के लिए कुछ होना चाहिए। जब तक किसी व्यक्ति के पास कुछ न रहेगा तो वह त्याग किस बात का करेगा? छात्रों से रुपये-पैसे के त्याग की आशा नहीं की जाती। वर्ष भर तो किसी न किसी रूप में वे अपने 'धर्म' का पालन अर्थात् अध्ययन करते रहेंगे। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में समय-समय पर उन्हें छुट्टियाँ प्रायः मिला करती हैं। इस भावी शिक्षा-योजना में छुट्टियों को कम करने के लिए कोई सुझाव नहीं दिया गया है। शिक्षकों के अध्याय

में छुट्टियों के सदुपयोग का कुछ संकेत किया गया गया है। रविवार तथा अन्य एक-दो दिन की छुट्टियों में कुछ अधिक नहीं किया जा सकता। इनका उपयोग तो प्रायः त्योवहारों या उत्सवों में ही लग जायगा। परन्तु कुछ पर्व ऐसे हैं जिनके उपलक्ष में चार-छः अथवा सप्ताह-दो सप्ताह की छुट्टियाँ हो जाती हैं। इनमें उत्सव वाले दिन तो दो ही एक होते हैं परन्तु शेष दिन खाली रहते हैं। छात्रों के पास यही धन है जिसका दान वे कर सकते हैं। ग्रामों के रहने वाले छात्र नगर में और नगर में रहने वाले छात्र आस-पास के गाँवों में टोलियाँ बनाकर जा सकते हैं। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उद्योगों, व्यवसायों, व्यापार, कृषि, आदि में अन्य लोगों की कुछ घण्टों तक वास्तविक सहायता करनी चाहिए। यह कार्य अधिकाधिक नम्रता, तत्परता, रुचि और श्रद्धा के साथ किये जायँ। इसमें परिमाण अथवा संख्या को कोई महत्त्व न रहेगा; इसमें सफलता की कसौटी 'रुचि' और उत्सुकता होंगी।

ग्रीष्मावकाश का कार्यक्रम कुछ विशेष विस्तृत तथा ठोस रहेगा। यह छुट्टी अधिक लम्बी होती है। इसमें छात्र अपने-अपने घर चले जायँगे। विशेष रुचि वाले छात्र तो अपनी सुविधानुसार कहीं भी कार्य कर लेंगे परन्तु साधारणतया ग्रामों में रहने वाले छात्र ग्रामों में और नगरों के नगरों में कार्य करेंगे। नगरों के उद्योग, व्यवसाय, आदि में तो कोई विशेष व्यतिक्रम नहीं होता परन्तु गाँव के लोग इन दिनों में कुछ अधिक काम नहीं करते। चारों ओर लू का प्रकोप रहता है और लोग हाँफते रहते हैं। इन छुट्टियों में महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के छात्रों को चाहिए कि दो घण्टे प्रातःकाल और दो घण्टे सायंकाल अपने तथा आस-पास के गावों की सेवा करें। इसकी रूप-रेखा तैय र करने का साहस इस समय नहीं हो रहा है। कारण स्पष्ट है; वर्तमान छात्रों के विलासमय जीवन का अनुमान करके यह समझना कठिन है कि कितने समय में इनमें यथोचित सुधार हो पायेगा। साधारणतः, ये लोग (क) गावों में छोटे-मोटे उद्योग-धन्धों का प्रचार कर सकते हैं (ख) व्यायाम अखाड़ा, आदि को प्रोत्साहित कर सकते हैं (ग) कृषि की उन्नति के लिए खेतों को कुछ अधिक सुधारने की परम्परा स्थापित की जा सकती है। ये कार्य प्रायः प्रातःकाल किये जायँगे। सन्ध्या के समय उपयुक्त प्रसङ्गों पर प्रवचन, व्याख्यान, वाद-विवाद, आदि होंगे। उपर्युक्त बात फिर कही जा रही है कि इन कार्यों की संख्या अथवा इनके परिमाण को कोई महत्त्व न होगा। इन्हें रुचि और उत्साह से सम्पादित होना चाहिए। साथ ही इन कार्यों को निर्धारित योजना के अनुसार नियमित रूप से होना आवश्यक है।

संस्कृति-पोषण—व्यक्तिगत चरित्र तथा अध्ययन को सँभालने के उपरान्त हमारे छात्रों का तृतीय कर्तव्य यह है कि वे अपने व्यवहार को संस्कृति के अनुकूल बनायें। समाज के नियमों का पालन करने में अपना ही कल्याण होता है। किसी सुन्दर व्यक्ति अथवा भव्य वस्तु का सड़क पर अथवा अन्यत्र साक्षात्कार हो जाने पर छात्रों को चञ्चल कदापि नहीं होना चाहिए। जिस व्यक्ति या वस्तु से हमारा जिस प्रकार का सम्बन्ध सम्भव, उपयोगी तथा उचित हो हमें उससे केवल उसी प्रसङ्ग में व्यवहार करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति या वस्तु की ओर अप्रासङ्गिक रूप से झुक जाना या आकर्षित हो जाना, मूर्खता ही नहीं प्रत्युत पशुता है। समाज-हीन पशु ही प्रत्येक ओर मुँह झुका देते हैं चाहे उन्हें डण्डे ही क्यों न खाने पड़ें। निर्धारित मार्ग का अनुसरण न करने से हमें घोर से घोर आपत्ति में पड़ जाने का भय रहता है। पाश्चात्य संस्कृति में छेड़-छाड़ तथा अन्य कायिक चेष्टाओं के लिए कुछ स्थान है। ऐसा करने से उनके यहाँ भी स्वच्छता और पवित्रता को धक्का पहुँचता है परन्तु इस घाटे की कुछ पूर्ति इसलिए हो जाती है कि उनके व्यक्तित्व का कुछ प्रचार तथा यथा कथित चमत्कार-प्रदर्शन हो जाता है। उनका समाज व्यक्ति मूलक तथा व्यक्तित्व-प्रधान है अस्तु व्यक्तित्व का प्रदर्शन अप्रासङ्गिक नहीं। भले लोग वहाँ भी यह सब प्रायः बहुत कम करते हैं। परन्तु हमारी कर्म-प्रधान संस्कृति में ऐसी कुचेष्टाओं तथा दुर्भावनाओं का बीजारोपण होते ही अनर्थ आरम्भ हो जाता है।

छात्र कभी-कभी कक्षाओं में भी आवश्यकता से अधिक चञ्चल हो जाते हैं। अध्यापन में जहाँ तनिक भी शिथिलता आई कि कतिपय छात्र बारूद की भाँति भड़क उठते हैं। केवल अयोग्य शिक्षकों की ही कक्षाओं में ये बातें नहीं होतीं प्रत्युत सहृदय शिक्षकों को भी कभी-कभी इस कुटेव का शिकार होना पड़ता है। अध्यापन और अध्ययन के उद्देश्यों के अस्त-व्यस्त हो जाने से भी कठिनाइयाँ बढ़ती जा रही हैं। झेंपू तथा दब्बू शिक्षकों के तो एक प्रकार से कार्य ही समाप्त हो जाते हैं। स्मरण रहना चाहिए कि सभी झेंपू तथा दब्बू शिक्षक अयोग्य नहीं होते; इसके विपरीत उनमें से कुछ बहुत ही योग्य हैं। अवसर पाने पर ऐसे शिक्षक महोदय कक्षा को शील, विनय, सहन-शीलता, शिष्टता, आदि का पाठ, जो कि भारतीय समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं, स्वभावतः पढ़ा सकते हैं। हमारे भारतीय छात्रों का यह परम कर्तव्य होगा कि वे प्रत्येक घण्टे के अध्यापन का यथाशक्ति सदुपयोग करें। शंका-समाधान तथा प्रश्नोत्तर से जो शिक्षक उद्विग्न होते हों उनके प्रति

उचित सद्भावना का प्रदर्शन होना चाहिये। कर्म-प्रधान संस्कृति में शिक्षक के अनादर का तात्पर्य अध्यापन का अनादर होगा।

भारतीय छात्रों को अपने सहपाठियों के साथ भी अत्यन्त उदारता तथा सावधानी से व्यवहार करना है। विनोद तथा परिहास का जीवन में बहुत बड़ा महत्व अवश्य है। इनके बिना जीवन सम्भवतः वास्तविक जीवन नहीं हो पायेगा। परन्तु खेद है कि परिहास में आजकल प्रायः कटुता आ जाती है। इसके अनेक कारण हो सकते हैं परन्तु सबसे मुख्य यही है कि सभी छात्र अपने से दुर्बल तथा दब्बू छात्रों से परिहास करने का प्रयत्न करते हैं। दूसरे, इन परिहासों का दृष्टिकोण विनोदात्मक न होकर संघर्षात्मक होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कोई कार्य विनोद अथवा परिहास तभी तक कहा जा सकता है जब तक कि उससे दोनों दल अथवा सभी दल प्रसन्न हों। पर आजकल तो परिहास में भी हार-जीत की दुर्भावना उग्र रूप धारण किये हुई है—कभी-कभी तो मार-पीट की नौबत आ जाती है। विनोद तथा परिहास की आड़ में विभिन्न कुचक्र रचे जाते हैं। दुख है कि घायल छात्र भी परिस्थिति को सुधारने का प्रयत्न नहीं करते प्रत्युत अपने ऊपर चलाई गई तीरों को यथा शक्ति और तीव्र करके अपने से दुर्बलों के अथवा अपने से छोटों के ऊपर चलाते हैं। यदि ध्यान से देखा जाय तो यही क्रम लगभग सर्वत्र मिलता है।

यहाँ पर दुर्बल और छोटों से बहुत ही व्यापक और विस्तृत तात्पर्य है। इसका संकेत केवल झेंपू, अवस्था तथा कक्षा में कम छात्रों ही तक सीमित नहीं है। ऐसों के साथ तो यथासम्भव और यथाशक्ति परिहास किया ही जाता है। जिन्हें इसमें भी सफलता नहीं मिलती वे इन कुख्यात उपकरणों का दुरुपयोग छात्रालय के नौकरों, चपरासियों, आदि से अनुचित रूप में करते हैं। क्रमशः ये कुटेव, इस प्रकार, समाज के प्रत्येक स्तर तक पहुँचा दिये जाते हैं। इन परिहासों की रूप-रेखा प्रायः विदेशी संस्कृति के उदाहरणों पर अवलम्बित होती है। सांस्कृतिक संघर्षों के फलस्वरूप जहाँ अपनी अन्य विशेषताओं से हम उदासीन हो गये हैं वहाँ अपने विनोद-साधनों को भी तिरस्कार और उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। एक बात हमें निःसंकोच स्वीकार कर लेनी चाहिए कि पाश्चात्य विधि के परिहासों का हमारी मूल संस्कृति में अभाव है। हमारे विनोद अधिक सुसंस्कृत तथा परिमार्जित होते थे। किसी व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों की खिल्ली उड़ाने अथवा किसी के अपमान करने के विचार से हमारे यहाँ कुछ भी नहीं किया जाता था। कारण कुछ

भी हों परन्तु इतना निश्चय है कि वर्तमान छात्र विनोद तथा परिहास की आड़ में प्रायः भारतीय शिष्टाचार का हनन करते हैं—यहाँ तक कि गुरुजनों का भी बिना किसी हिचकिचाहट के तिरस्कार करते हैं। अधिकांश माताएँ अशिक्षिता हैं—कितने छात्र डर के मारे पिता को तो नहीं छेड़ते परन्तु माता को आड़े हाथ लेने में गौरवान्वित होते हैं।

वर्तमान परिहासों से छात्र-वर्ग को अत्यधिक क्षति पहुँच रही है। सुनने वालों का तो केवल समय ही नष्ट होता है—आवश्यकतानुसार वे हटते-बढ़ते रहते हैं पर 'करनेवालों' का तथा उन लोगों का जिनसे कि परिहास किया जाता है, सब कुछ नष्ट होता रहता है। कभी-कभी और कहीं-कहीं तो वातावरण इतना क्षुब्ध हो जाता है कि दर्शकों को आभास ही नहीं होता कि वे किसी छात्रालय अथवा विद्यालय में पहुँचे हुए हैं। छात्रों के माता-पिता तथा अतिथियों से भी परिहास किये जाते हैं; उन्हें छात्रों का ठीक पता (कमरा न० आदि) नहीं बताया जाता; कभी-कभी अनुचित और अशुभ सूचनाएँ दे दी जाती हैं; उनके सामान गुप्त-लुप्त कर दिये जाते हैं। परिहास करने वालों का समस्त समय विभिन्न प्रकार के कुचक्रों को तैयार करने में नष्ट होता है और दुर्बल तथा झेंपू छात्रों का समय प्रायः ग्लानि, व्यथा, चिन्ता, आदि में व्यतीत होता है। कभी-कभी ये व्यथित तथा आतंकित छात्र तङ्ग होकर छात्रालय छोड़ देने के लिए विवश होते हैं।

हमारे छात्रों को अपने जीवन में परिहास को उतना ही स्थान देना है जितने से कि कर्म तथा मर्यादा को धक्का न पहुँचे। विनोद ऐसा सटीक, संक्षिप्त तथा कटाक्ष-हीन हो कि सभी वर्ग उसका आनन्द ले सकें। अपने से छोटों (कक्षा और अवस्था-दोनों विचार से) तथा दुर्बलों के साथ परिहास सिद्धान्तः न किये जायँ —ऐसा करने से भारतीय मर्यादा को धक्का पहुँचता है। विनोद या परिहास का लक्ष्य कोई कार्य होना चाहिए न कि कोई व्यक्ति। व्यक्ति को लक्ष्य बनाना हमारी संस्कृति के प्रतिकूल है। किसी कार्य को भी परिहास का लक्ष्य तभी तक बनाया जाय जब तक कि उससे सम्बन्धित सभी लोग उसका आनन्द ले रहे हों। छात्रों को वाणी और मन पर आरम्भ से ही इतना नियंत्रण होना चाहिए कि आवश्यकतानुसार तुरन्त वे अपने को सँभाल सकें। यथासम्भव विनोद या परिहास उन्हीं व्यक्तियों से किये जायँ जिनके लिए कि हृदय में स्थान हो। अपरिचित अथवा अर्द्धपरिचित व्यक्तियों से किया हुआ परिहास वास्तव में 'परिहास' नहीं कहा जा सकता। जहाँ पर भावों तथा विचारों में सामञ्जस्य नहीं है वहाँ परिहास तथा विनोद के लिए स्थान ही कहाँ होता है?

सार्वजनिक, पर्वों, स्थानों, समारोहों, आदि में भी छात्रों को अत्यन्त सावधानी तथा शिष्टता से भाग लेना होगा। जहाँ पर प्रवेश-वर्जित हो वहाँ पर कदापि नहीं जाना चाहिए। जहाँ पर उपस्थित हों वहाँ पर आवश्यकता से अधिक नहीं बोलना चाहिए। आमंत्रित होने पर भी यदि भीड़-भाड़ अधिक हो तो सहर्ष लौट आना चाहिये—यदि आवश्यक और सम्भव हो तो प्रबन्धकों को इसकी सूचना भी दे देनी चाहिए। यदि किसी समारोह का कार्य-क्रम रोचक न हो तो वहाँ चञ्चल या उद्विग्न नहीं होना चाहिए। वहाँ शिष्टता और धैर्य के साथ बैठना चाहिए। यदि मन बिलकुल न लगे तो वहाँ से ऐसी सावधानी से खिसकना चाहिए कि न तो कोई भाँप पाये और न तो उस समारोह की ख्याति को कोई धक्का लगे। आवश्यकतानुसार यदि प्रबन्धक आग्रह करें तो अपने स्थान को बदलते अर्थात् आगे-पीछे हटने और बैठने में किसी प्रकार की भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यदि किसी बैठक, गोष्ठी, सभा, व्याख्यान, वाद-विवाद, आदि का कार्य-क्रम ऐसा हो कि छात्र-विशेष कुछ कहने के लिए योग्य तथा उत्सुक हों तो आज्ञा लेकर अपने विचारों को वहाँ अवश्य रखना चाहिए। पर ध्यान रखना पड़ेगा कि जो कुछ कहा जाय वह विनम्रता और शिष्टता में सना हुआ हो।

शिष्टता और विनम्रता का प्रत्येक देश और समाज में महत्त्व है परन्तु भारतीय संस्कृति की तो यही विशेषता थी। जलवायु और परम्परा के आधार पर भी भारतवर्ष में शिष्ट तथा विनम्र होना सम्भव और उपयोगी है। विनम्रता के अन्तर्गत अपमान का लेशमात्र भी समावेश नहीं होता। विनम्रता और कायरता में भी तनिक सम्बन्ध नहीं। विनम्रता का द्योतक शक्ति-सञ्चय है। दूसरे शब्दों में वास्तविक विनम्रता की आशा उसी व्यक्ति से की जा सकती है जिसमें पर्याप्त क्षमता और शक्ति हो। विनम्र व्यवहार करने में कई प्रकार की मनसिक क्रियाओं में एक साथ ही सामञ्जस्य स्थापित करना पड़ता है। विवेक, सहिष्णुता और प्रत्युत्पन्नमति जब किसी व्यक्ति का उत्तरोत्तर साथ देती हैं तभी वह विनम्र व्यवहार कर पाता है। इसी को इस रूप में भी कहा जा सकता है कि विनम्र होने से उपर्युक्त शक्तियों का हममें समुचित विकास और सञ्चय होता है। यदि छात्रावस्था से ही इसका सावधानी और तत्परता से अभ्यास न किया जायगा तो कालान्तर में विवेक तो पर्याप्त विकसित हो पाता है परन्तु अन्य क्षमताओं के अभाव में इसका भी समुचित सदुपयोग असम्भवही होता है। हमारे वर्तमान कर्णधार इसी त्रुटि के कारण किसी 'गृह' योजना को विधिवत् निर्धारित तथा कार्यान्वित नहीं कर पाते। फलतः हमारे भावी छात्रों का परम

पुनीत दायित्व यह होगा कि सभी सार्वजनिक क्षेत्रों में शिष्टता और विनम्रता को अधिकाधिक महत्व देंगे।

छात्रों को डाकखानों, थानों, रेलवे स्टेशनों, सिनेमाघरों, आदि का प्रयोग भी शिष्टता तथा सावधानी से करना होगा। प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष—किसी भी रूप में कोई ऐसी बात न हो जाय जिससे कि इनके प्रबन्ध तथा सञ्चालन में कोई कठिनाई हो। आजकल लोग अधिकारों के लिए अधिक प्रयत्नशील हैं। पर, कर्त्तव्य रूपी वृक्ष को बीना सींचे, बढ़ाये तथा पुष्पित किये अधिकार रूपी फल प्राप्त ही कैसे हो सकते हैं? साथ ही, कर्तव्य और अधिकार की जो व्याख्या आजकल हमें उपलब्ध है वह लगभग पाश्चात्य विद्वानों की दी हुई है और उन्हीं की व्यक्ति-मूलक संस्कृति के अनुकूल है। इसका आधार 'अनुराग' है। इधर हमारी संस्कृति का आधार 'परित्याग' है। हमारे यहाँ 'अधिकारों' की व्याख्या बहुत कम है। हम केवल 'कर्म' के लिए उत्सुक रहे हैं—फल अथवा अधिकार की चिन्ता हमें कभी भी न थी। रेलगाड़ी, सिनेमा-घर, आदि सार्वजनिक साधनों और स्थानों में यदि भीड़ हो तो हमें सहर्ष लौट आना चाहिए और यदि जाना बहुत आवश्यक हो तो अधिकाधिक कष्ट स्वयं सहने के लिए कटिबद्ध रहना चाहिए।

उपर्युक्त आदर्श व्यवहार केवल यहाँ लिख देने अथवा इसे पढ़ लेने से सम्भव नहीं। ऐसा वेही लोग कर सकेंगे जिनमें कि पर्याप्त आत्म-बल हो तथा जिन्होंने अपने तन-मन को विधिवत् शोध लिया हो। यह शोधन छात्र-जीवन में ही सुलभ तथा सम्भव होता है। वर्तमान काल के हमारे सभी नेता, विद्वान, पथ-प्रदर्शक, आदि आदर्श की बातें केवल कह सकते हैं; उन्हें इन नियमों का स्वयं पालन करना अत्यन्त कठिन है। यदि छात्रावस्था से उन्हें अभ्यास कराया गया होता तभी वे इस समय सफल हो सकते थे। 'कथनी' और 'करनी' में समुचित सामञ्जस्य न होने के ही कारण हमारे नेताओं की बहुत सी शुभ-कामनाएँ तथा योजनाएँ पूरी और सफल नहीं हो पा रही हैं। आज-कल मन, मनोविज्ञान तथा विभिन्न अधिकारों को हम लोगों ने आवश्यकता से इतना अधिक महत्त्व दे दिया है कि रेलवे-स्टेशनों, सिनेमा-घरों, आदि से स्थान या टिकट न मिल सकने से लौट आने में हम इस लिए नहीं हिचकते कि उससे बहुत घाटा हो रहा है—प्रत्युत इस लिए कि इसमें हम अपना अपमान समझते हैं; हमें यह शंका रहती है की अन्य लोग हमें दुर्बल, कायर तथा प्रभाव-हीन समझेंगे। यदि छात्रावस्था से ही हम अपने को सँभालते आयेंगे तो आगे चलकर भी जीवन में कोई कठिनाई न होगी।

शक्ति-सदुपयोग—भारतीय छात्रों का चतुर्थ कर्त्तव्य है अपनी सामूहिक शक्ति का दुरुपयोग रोक कर उसका सदुपयोग करना। छात्रों के समूह में असीमित शक्ति स्वाभाविक रूप से निहित है। छात्रावस्था को जीवन का 'स्वर्ण-काल' अर्थात् सबसे सुन्दर समय दो कारणों से माना जाता है। प्रथम तो यह कि इस समय हम सर्वाधिक निश्चिन्त रह सकते हैं और दूसरे, जितना अधिक कार्य किया जाता है उतना ही अधिक फल मिलता रहता है। जीवन में आगे बढ़ने पर 'कर्म' और 'फल' का यह अनुपात सँभल नहीं पाता। छात्रों का भविष्य गुप्त तथा अज्ञात होने के कारण प्रत्येक छात्र के अभिभावक उससे ऊँची-ऊँची आशाएँ रखते हैं और उसे सर्वाधिक प्यार करते हैं। इन्हीं विशेषताओं तथा सुविधाओं के फलस्वरूप विद्यार्थी तथा विद्यार्थी-वर्ग अत्यन्त शक्ति-शाली होता है। पर अत्यन्त खेद और वेदना के साथ देखा जा रहा है कि इस अपार शक्ति का सदुपयोग नहीं हो पा रहा है।

देश, राष्ट्र, वर्ग, वर्ण, धर्म, आदि के नारे लगा-लगा कर प्रत्येक दल के लोग छात्रों की संख्या तथा शक्ति का अनुचित लाभ उठाते हैं। अनुभव-हीन छात्रगण प्रत्येक समय किसी न किसी दल के चंगुल में फँसे रहते हैं। आज-कल तो छात्रों में भी कई दल हो गये हैं। छात्रालयों में विभिन्न पार्टियाँ बन गई हैं। शिक्षा-संस्थाओं का वातावरण इतना क्षुब्ध हो गया है कि साधारण से साधारण घटना के घटते ही समस्त व्यवस्था भङ्ग हो जाती है। अध्यक्ष शिक्षक, माता-पिता तथा अन्य गुरुजन विवश होकर छात्रों के कुचक्र देखते रहते हैं। वे कर भी क्या सकते हैं? बड़े बच्चे डाँट-फटकार से तो सुधर नहीं सकते। इन दल-बन्दियों के कुप्रभाव से छात्रों का वास्तविक अध्ययन समाप्त सा हो जाता है। रात-दिन अपने-अपने दल को आगे बढ़ाने के उपाय सोचे जाते हैं। छात्रों में 'नेतागिरी' के लिए होड़ लग जाती है, वे बड़े-बड़े व्याख्यान देने लगते हैं—उनके रहन-सहन, चाल-ढाल, वेश-भूषा, आदि से असामयिक तथा अस्वाभाविक भद्रता टपकने लगती है।

असामयिक तथा अस्वाभाविक भद्रता का बाना धारण करने से छात्रों को अनेक हानियाँ होती हैं। ऐसी वेश-भूषा से समकालीन तथा साधारण लोग आतंकित हो जाते हैं और छात्र विशेष से खुलकर मिलने-जुलने का साहस नहीं करते। साथ ही, बाहर और भीतर में सन्तुलन तथा सामञ्जस्य का अभाव होने से ऐसे छात्र अथवा व्यक्ति को वास्तविक सुख और शान्ति का अनुभव नहीं हो पाता। आडम्बर से लोग भ्रम में पड़ जाते हैं और नाना प्रकार की आशाएँ करने लगते हैं। परन्तु कोई प्रसङ्ग छिड़ते ही कलई खुलने लगती है।

शंका-समाधान चाहने वालों को तो अधिक क्षति नहीं पहुँचती—वे केवल मुँह दूसरी ओर घुमा देते हैं परन्तु कृत्रिम भद्रता का दीवाला तो निकल जाता है। सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते,—सभी अवसरों पर मनमें विचित्र ग्लानि और संघर्ष के भँवर उठते रहते हैं। कुछ स्थिर होने पर इस प्रकार के भावी मोर्चों का सामना करने के लिए नई-नई तरकीबें तथा योजनाएँ तैयार की जाती हैं। फलतः विद्यालय की शिक्षा, गुरु के उपदेश, उपयोगी पुस्तकें, आदि सभी से जी ऊब जाता है।

आजकल छात्रों को सक्रिय राजनीति से अलग कर लेना सरल काम नहीं है। नागरिक शास्त्र तथा राजनीति का अध्ययन करते रहने से छात्रों को वास्तव में बहुत से कामों में भाग लेने की उत्कंठा होती है। इधर हमारे घरेलू वातावरण में वयस्क मताधिकार तो प्राप्त होगया परन्तु वैधानिकता का बड़ा अभाव है। यह अभाव अस्वाभाविक नहीं—हमारे समाज में 'मर्यादा' का बड़ा महत्त्व है। गुरुजनों के प्रति हमें इतना अधिक श्रद्धालु रहना है कि पाश्चात्य, प्रचलित और निर्धारित व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिए हमारे यहाँ कम ही स्थान है। हम इस 'मर्यादा' का बलिदान आवश्यकता पड़ने पर केवल 'कर्म' की वेदी पर कर सके हैं। प्रह्लाद की पिता के प्रति; भरत की माता के प्रति और अर्जुन की गुरु के प्रति उदासीनता इसी सिद्धान्त पर आधारित है।

'वैधानिकता' की वर्तमान परिभाषा तथा रूप-रेखा पाश्चात्य आदर्शों पर निर्मित है। इसमें 'व्यक्ति' अथवा 'व्यक्तित्व' को असीमित महत्त्व दिया गया है। प्रत्येक व्यक्ति से यह आशा की जाती है कि वह दिन में यदि सात-आठ घण्टे काम कर ले तो शेष समय में कुछ भी और कहीं भी कर सकता है। उसे फिर इस बात का भी ध्यान नहीं रखना है कि उसके किये हुए काम की क्या दशा है। दूसरे शब्दों में उसका व्यक्तित्व सर्वदा कर्म के ऊपर है। पर हमारी भारतीय संस्कृति में यह बात नहीं है। इसीलिए व्यक्ति-प्रधान वैधानिकता यहाँ पनप नहीं सकती। उच्च कक्षाओं के छात्रों को अभी यह स्पष्ट नहीं है कि किसी सुसंस्कृत देश की, और विशेषतया भारतवर्ष की, संस्कृति में कितनी अपार शक्ति है। छात्रों को कौन कहे हमारे नेतागण तथा गुरुजन भी इसका तिरस्कार कर रहे हैं। इसी से अपनी संस्कृति को धक्का पहुँचाने वाली अनेक धाराएँ पास होती जा रही हैं। हमारे नेताओं तथा पथ-प्रदर्शकों का इसमें कोई अपराध नहीं है। उनकी शिक्षा-दीक्षा तो ऐसी हुई थी कि उन्हें सोलहो आने साहब बन जाना चाहिए था।

इसमें सन्देह नहीं कि हमारे छात्रों को यह सोचना तथा निकालना है कि वैधानिकता का कर्म-प्रधान संस्कृति में अधिकाधिक समावेश कहाँ तक और किस प्रकार हो सकता है ? विभिन्न वैज्ञानिक आविष्कारों के पूर्णतया विकसित हो जाने पर भी मनुष्य निरन्तर मनुष्यता से दूर होते जा रहे हैं। वैधानिकता की आड़ में पाश्चात्य देशों में भी अनेक अनर्थ होते जा रहे हैं परन्तु 'कर्म' की व्याख्या वहाँ पर इतनी सीमित और संकुचित है कि उन अनर्थों की गणना वहाँ नहीं के बराबर है। लगभग पन्द्रह-बीस वर्ष पूर्व ब्रिटेन के सम्राट एडवर्ड अष्टम ने अपनी प्रेयसी के निमित्त समस्त साम्राज्य ठुकरा दिया। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि अपने व्यक्तिगत स्वार्थ (व्यक्तित्व) की रक्षा में उन्होंने सार्वजनिक दायित्व (कर्म) की उपेक्षा की इधर रामचन्द्र जी के साथ सीता जी और लक्ष्मण जी तो बन चले गये पर महाराज दशरथ जी न तो बन जा सके और न तो अपने मुँह से यही कह सके कि रामचन्द्र जी बन को न जायँ। राज्य और प्रजा से वे जीते जी दूर नहीं जा सकते थे। मध्यकाल में पन्ना नामक धाय ने भी पुत्र का बलिदान देकर अपने दायित्व अथवा 'कर्म' की रक्षा की।

हमारे छात्रों को चाहिए कि वे नागरिक शास्त्र तथा राजनीति का उचित अध्ययन अवश्य करें परन्तु किसी वर्ग या दल के सक्रिय कार्य-क्रम में उन्हें भाग नहीं लेना चाहिए। ऐसा करने से उनका छात्र-धर्म ही समाप्त सा हो जायगा। यही समय है जब कि वे विभिन्न दलों के उद्देश्यों और आदर्शों की तटस्थ तथा निष्पक्ष समीक्षा कर सकते हैं। यदि वे किसी दल के प्रत्यक्ष या परोक्ष सदस्य हो जाते हैं तो उनका अध्ययन एकांगी और विषाक्त हो जायगा। संध्या समय (जब कि विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में प्रायः अध्ययन नहीं होते) वे विभिन्न दलों की अच्छी सभाओं में जाकर चुप-चाप सुन सकते हैं यदि उन्हें कोई बात अनुचित जान पड़े तो वहाँ उन्हें कुछ कहने अथवा करने का अधिकार बिलकुल नहीं है। उस सभा या बैठक में बिना किसी प्रकार की बाधा डाले चुपके से उठ आना चाहिए। यदि वहाँ से उठ आना कठिन हो तो सन्तोष और धैर्य-पूर्वक तब तक बैठे रहें जबतक कि उन्हें वहाँ से निकलने की स्वाभाविक सुविधा न मिल जाय अथवा वह बैठक समाप्त न हो जाय। समाचार-पत्रों से भी उन्हें विभिन्न दलों के उद्देश्यों को समझना चाहिए। अप्रिय सत्य का निषेध करते हुए वे निबन्ध आदि भी छपवा सकते हैं। साथ ही, यदि कुलपति अथवा अध्यक्ष को कोई आपत्ति हो तो छात्रों को सहर्ष न तो बैठकों में जाना चाहिए और न तो ऐसे निबन्ध, आदि लिखना चाहिए।

उच्च कक्षाओं के छात्रों को इस बात का भी ध्यान रखना पड़ेगा कि विभिन्न चुनावों में 'योग्यता' का अनादर तथा तिरस्कार कदापि न होने पावे। सार्वजनिक चुनाओं में जैसे लोक-सभा, व्यवस्थापिका-सभाओं, नगर-पालिकाओं, डिस्ट्रिक्ट बोर्डों, आदि के चुनावों में, छात्रों का हाथ विशेष न होगा। इन सबमें सक्रिय भाग वे न ले सकेंगे। परन्तु परोक्ष रूप से वे परिस्थितियों को सफलता पूर्वक प्रभावित कर सकते हैं। महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में अनेक पदों के लिए चुनाव होते हैं। आजकल इन चुनावों में भी इन्हीं सार्वजनिक चुनावों की भाँति छीछा-लेदर हो रही है। अपनी संस्थाओं के चुनावों को योग्यता-प्रधान तथा योग्यताधारित करके छात्र सार्वजनिक चुनावों के लिए भी व्यवस्थित तथा उपयोगी वातावरण तैयार कर सकते हैं। दूसरे, वयस्क तथा चतुर छात्र अपने माता-पिता और अभिभावकों को योग्यता की मान्यता के लिए सादर प्रेरित कर सकते है। स्मरण रहना चाहिए कि योग्य सन्तानों की उचित प्रेरणाओं से गुरुजन प्रायः प्रभावित होते आये हैं।

'लक्ष्मी' और 'सरस्वती'—छात्रों का पाँचवाँ कर्तव्य यह होगा कि इस बीसवीं शताब्दी में भी कम से कम भारतवर्ष में वे एक बार पुनः 'लक्ष्मी' और 'सरस्वती' का क्षेत्र निर्धारित कर दें। पाश्चात्य संस्कृति के आधार पर आज कल 'लक्ष्मी' के बिना 'सरस्वती' का दर्शन ही नहीं हो पाता। इससे हमारी संस्कृति को घोर धक्का लग रहा है। अध्ययन समाप्त करके जीवन में प्रवेश करते ही हम लोग पैसे के ऐसे चक्कर में पड़ जाते हैं कि सारी विद्या भूल जाती है; पुस्तकों के नाम तक याद नहीं रहते। पर पाश्चात्य लोगों के साथ यह बात नहीं है। 'लक्ष्मी' और 'सरस्वती' का सामञ्जस्य उनकी संस्कृति में ही निहित है। वे यदि अपार पैसा पैदा करते हैं तो उसे इसी जीवन और इसी लोक में समुचित रूप से भोग डालते हैं। ऐसा करने से उनके देश और समाज के हित में कोई बाधा नहीं पड़ती; वहाँ के साधारण लोगों को लगातार जीविका मिलती रहती है। हमारे देश के लोग भी आज कल उन्हीं लोगों के हिसाब से वेतन पा रहे हैं तथा पैसा पैदा कर रहे हैं परन्तु पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के द्वन्द्व में धन-सञ्चय करते हैं। ऐसा करने से देश को आर्थिक क्षति पहुँचती है। हमारी संस्कृति में 'कर्म' की सततप्रगति के दृष्टिकोण से यदि पूर्व-जन्म और पुनर्जन्म की कल्पना की गई तो लक्ष्मी अर्थात् 'धन' का अधिक सम्मान नहीं किया गया। उच्च कोटि का कर्म करने में लोगों को योंही अतुल सम्पत्ति प्राप्त होती थी। परन्तु प्राचीन और मध्य-

कालीन प्रत्येक भारतवासी दान देने के सुअवसर की अहर्निशि प्रतीक्षा करता था।

जब इस 'ज्ञानमूलक' शिक्षा को हम 'भक्तिमूलक' बनाने पर तुले हुए हैं तो हमारा यह कर्तव्य है कि 'लक्ष्मी' और 'सरस्वती' के सम्बन्ध भी यथा-सम्भव (बीसवीं शताब्दी, वैज्ञानिक आविष्कारों, जनतंत्र, आदि को ध्यान में रखते हुए) वे ही निर्धारित किये जायँ जो कि प्राचीन और अंशतः मध्यकालीन भारतीय संस्कृति में थे। इस सामञ्जस्य के स्थापित हो जाने पर हम लोग भी अध्ययनशील हो जायँगे। यदि प्रवृत्तियाँ अनुकूल हों और वर्तमान तथा प्राचीन के सिद्धान्तों में सामञ्जस्य हो तो हम लोग वर्तमान की अपेक्षा भूत का अधिक आदर करते हैं। भूतकाल के अच्छे और बुरे लोग निश्चित तथा निर्धारित होते हैं परन्तु वर्तमान के अच्छों में मनुष्य होने के नाते कुछ न कुछ त्रुटियाँ प्रकट होती रहती हैं। फलतः भूतपूर्व लोगों की गाथाओं को हम अधिक विश्वास तथा आदर की दृष्टि से पढ़ते हैं। वर्तमान और प्राचीन में सामञ्जस्य होने के ही कारण पाश्चात्य लोग प्रत्येक परिस्थिति में थोड़ा-बहुत अध्ययनशील रहते हैं—जङ्गल विभाग में काम करने वाले लोग भी कुछ न कुछ पढ़ते-लिखते रहते हैं।

'सरस्वती' और 'लक्ष्मी' का क्षेत्र-निर्धारण तभी सम्भव हो सकता है जब कि हम लोग इसका प्रयास तथा अभ्यास धीरे-धीरे छात्रावस्था से ही आरम्भ कर दें। इस अवस्था में जो धारणाएँ बन जायँगी वे जीवन में सर्वदा साथ देंगी। बहुत कुछ सम्भव है कि हम लोग ऊँचे से ऊँचे आर्थिक प्रलोभनों से अपनी रक्षा कर सकेंगे। शिक्षा-संस्थाओं में प्रत्येक श्रेणी के लोग अध्ययन करते हैं। धन-हीन तथा कमधन वाले लोगों की सन्तानें पढ़ने में प्रायः अच्छी होती हैं परन्तु धनाभाव के कारण विद्यालयों की अनेक योजनाओं में वे भाग नहीं ले पाते और इस प्रकार बहुत सी प्रचलित तथा आवश्यक बातों से अनभिज्ञ रह जाते हैं। व्यक्ति-प्रधान समाज में तो यह बहुत अनुचित नहीं कहा जा सकता; एक-दूसरे से आगे बढ़ने के लिए वहाँ तो अनेक इन्द्रजाल तैयार ही किये जाते हैं। पर कर्म-प्रधान समाज के लिए यह घातक है। कितने दुख की बात है कि जो छात्र तीव्र बुद्धि के हैं और उपयुक्त सुविधाओं तथा साधनों से सम्पन्न होने पर अत्यधिक योग्य हो जाते और समाज की सेवा करते, वे शनैः-शनैः दब्बू तथा लोकाचार-विवर्जित हो जाते हैं। वर्तमान शिक्षा, शिक्षा-सिद्धान्त, शिक्षा-प्रणाली, आदि के दोषपूर्ण होने के कारण हमारे धनी

छात्र, यूरोप के धनी छात्रों की भाँति, निर्धन छात्रों को प्रायः उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं।

शिक्षा संस्थाओं में कतिपय छात्र निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करते हैं। ऐसे छात्र पढ़ने में अच्छे होते हुए भी कुछ झेंपू तथा दब्बू हो जाते हैं। इस धन-प्रधान प्रस्तुत समाज में सम्भवतः ये छात्र अपने को प्रायः अपमानित पाते हैं। उच्च कक्षाओं के छात्रों को चाहिए कि यथासम्भव तथा यथाशक्ति कोई ऐसा उपाय निकालें तथा ऐसी योजना बनायें जिससे समस्त कक्षा, समस्त संस्था तथा समस्त छात्रालय की एक ही प्रकार की वेश-भूषा हो और उनके खान-पान तथा रहन-सहन भी एक ही प्रकार के हों। शिक्षकों की देख-रेख में प्रति मास कोई ऐसी धन-राशि एकत्र कर दी जाय कि पूर्ण संस्था का सब काम सुविधापूर्वक चलता रहे। इस कोष में प्रत्येक छात्र यथासम्भव अधिक से अधिक रुपया गुप्त रूप से दे। केवल थोड़े से प्रबन्धक छात्रों तथा शिक्षकों को पता रहे कि कौन छात्र कितना रुपया देता है। यहाँ पर इस शंका की आवश्यकता नहीं है कि सभी छात्र तथा अभिभावक न्यूनतम धन-राशि देने का प्रयत्न करेंगे। निस्सन्देह, प्रस्तुत परिस्थितियों में ऐसा हो सकता है, परन्तु इस पूरी शिक्षा-योजना के कार्यान्वित हो जाने पर इस बात का लेश मात्र भी डर न रहेगा। ऐसा वातावरण बन जायगा कि प्रत्येक छात्र अपनी सामर्थ्य के अनुपात से बहुत अधिक देने का प्रयत्न करेगा।

सामूहिक 'शिक्षा-कोष' का सुझाव भारतीय अतीत और वर्तमान में सामञ्जस्य स्थापित करने के ही उद्देश्य से दिया जा रहा है। प्राचीन काल में भारतीय छात्र भिक्षा माँगकर गुरुओं के पास लाते थे और उनकी आज्ञानुसार फिर सब लोग आपस में वितरण करके खाते-पीते थे। आजकल भी ब्राह्मणों के यहाँ बच्चों का जब यज्ञोपवीत होता है तो 'भिक्षा' मँगवाई जाती है। प्राचीन काल में इसी संस्कार के उपरान्त बच्चे पढ़ने जाते थे और यहीं से भिक्षा माँगने का अभ्यास आरम्भ करते थे। आजकल तो यह संस्कार केवल नाम-मात्र के लिए होता है। खेद है कि भारतीय परम्परा का एक महत्वपूर्ण संस्कार होते हुए भी आजकल हमलोग पश्चात्य रंग में रँगे होने से 'भिक्षा' और भिक्षुकों को इतना हेय मानने लगे हैं। वर्तमान छात्रों से भिक्षा माँगने का आग्रह करना तो एक ओर अर्थ-शास्त्र के नवीन सिद्धान्तों के प्रतिकूल होगा और दूसरी ओर ऐसा करना कठिन भी है। फलतः यही उचित है कि अपने-अपने घरों से यथासम्भव जितनी भी धन-राशि सुविधापूर्वक प्राप्त हो सकती हो उतनी लेकर 'शिक्षार्थी-कोष' में जमा करना चाहिए। 'शिक्षकों'

सम्बन्धी अध्याय में 'शिक्षार्थी-कोष' का उल्लेख है। फिर तो सभी प्रकार के छात्रों को एक ही स्तर का सादा, ऊँचा, पवित्र तथा स्वच्छ जीवन व्यतीत करना व्यावहारिक, सम्भव तथा सरल हो जायगा।

छात्रों को ऐसा करने में तभी सफलता होगी जब कि वे अपने जीवन को अधिकाधिक नियमित तथा नियंत्रित बना लेंगे; अपने व्यक्तिगत व्यय को उन्हें नहीं के बराबर कर देना होगा। धनी से धनी अभिभावकों की सन्तानें भी अपनी पैतृक सम्पत्ति को अपनी न समझेंगी। अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं को छात्र जिस अनुपात से घटायेंगे उसी अनुपात से 'छात्र कोष' में वे अधिक से अधिक धन दे पायेंगे। सार्वजनिक आवश्यकताओं तथा कामों में धन के महत्व को वे न्यूनतर करते जायँगे। नाटक, कवि-सम्मेलन, वार्षिकोत्सव, आदि को वे धन के बल पर ऊँचा बनाने का प्रयत्न न करेंगे। शिक्षा संस्थाओं के चुनावों में वे अपव्यय को अयोग्यता-सूचक मानेंगे। प्रस्तुत काल में केन्द्रीय सरकार ने सार्वजनिक चुनावों में न्यूनतम व्यय करने की योजना बनाई है। पर पहले से ही इसका अभ्यास न होने से लगभग सभी लोग अधिक व्यय करते हैं और बनावटी आँकड़े सरकार के सामने रखते हैं।

यदि हमारे भावी छात्र उपर्युक्त आधार पर अपने जीवन को नियंत्रित तथा नियमित करने का प्रयत्न करेंगे तो निश्चय है कि थोड़े दिन में देश और राष्ट्र की काया पलट जायगी।

[निष्कर्ष]

<u>सिंहावलोकन</u>—वातावरण के सुधरने पर छात्रों का योंही ठीक हो जाना; फिर भी छात्रों से भी कुछ अपेक्षित; भावी छात्रों के पथ-प्रदर्शन के निमित्त कुछ संकेत आवश्यक; उत्तर-माध्यमिक तथा उच्च कक्षाओं के छात्रों को सावधान होना आवश्यक; महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के छात्रों को निश्चित रूप से मान लेना है कि छात्र-जीवन एवं समस्त जीवन भारतीय आदर्शों के ही पालन से सुखी तथा स्वस्थ सम्भव।

<u>धर्माधारित जीवन</u>—विभिन्न धर्मों की रूढ़ियों में कुछ हेर-फेर अपेक्षित; परन्तु इस भूमि पर धर्म को यूरोप की भाँति पंगु कर देना उचित नहीं; देश के विभिन्न धर्मों के सुसंस्कृत व्यक्तियों की परिषद्; छात्रों के पथ-प्रदर्शन के लिए किसी नियमावली का निर्धारण। भारतवर्ष के प्राचीन संस्कार कठिन;

उनका ज्यों का त्यों पुनरुत्थान असम्भव एवं अनावश्यक; परन्तु दिनचर्या का नियमित और नियंत्रित होना परमावश्यक; चित्त की एकाग्रता को विशेष महत्व; पाश्चात्य मनोविज्ञान की धूम; उत्तर प्रदेश किसी भी नवीन विचारधारा को कार्यान्वित करने के लिए अधिक उत्सुक; भारतीय वातावरण में धर्म और मनोविज्ञान में सामञ्जस्य परमावश्यक। सभी धर्मों के कुछ पवित्र स्थान एवं पर्व; ऐसे स्थानों और अवसरों के प्रति छात्रों की श्रद्धा आवश्यक; इस श्रद्धा से कई सुविधाएँ एवं लाभ; विभिन्न धर्मों की सहिष्णुता अथवा कट्टरता, आदि विधिवत् समझ सकना। विवाह, आदि में अपने-अपने धार्मिक आदर्शों का विशेष रूप से पालन आवश्यक। नौकरों से न्यूनतम सहायता लेना; ऐसा करने से समाज के निर्धन व्यक्तियों को सन्तोष एवं शान्ति।

जीवन को समुचित महत्त्व—अध्ययन का प्रस्तुत तिरस्कार दयनीय; छात्र-जीवन का सौन्दर्य ही समाप्त; मननशीलता का अभाव; देश और समाज की आवश्यकताओं को समझना तथा उनकी पूर्ति के उपाय निकालना; अध्ययन के क्षेत्र में वर्तमान स्पर्धा घातक; छल-कपट, मान-अपमान, आदि की मात्रा में वृद्धि; जितना ही अधिक अध्ययन, भारतीयता का उतना ही अधिक तिरस्कार। अध्ययन में रुचि का महत्त्व; रुचि का सुसंस्कार अथवा कुसंस्कार वातावरण एवं रूढ़ियों पर निर्भर; अध्ययन से हृदय की विशालता सम्भव। सम्पर्क सत्संग एवं सहयोग; इसके निमित्त छुट्टियों का उपयोग; ग्रीष्मावकाश का विशेष रूप से सदुपयोग; वास्तविक अध्ययन की पूर्ति इन्हीं प्रयत्नों द्वारा।

संस्कृति-पोषण—मन की चञ्चलता को रोकना; निर्धारित मार्ग से च्युत् होना अनुचित; पाश्चात्य परम्परा में व्यक्तित्व का प्रचार निहित; अध्ययन-कक्ष में भी चञ्चलता उचित नहीं; झेंपू तथा दब्बू शिक्षकों की अच्छाइयों और विशेषताओं से छात्र वञ्चित। सहपाठियों के साथ समुचित व्यवहार; परिहासों के दृष्टिकोण विनोदात्मक; वर्तमान परिहासों से अनेक क्षतियाँ और बुराइयाँ। शिष्टता का महत्व प्रत्येक समाज तथा संस्कृति में परन्तु भारतीय संस्कृति का प्राण; सार्वजनिक पर्वों, उत्सवों, आदि के समय छात्रों से विशेष शिष्टता अपेक्षित; रेलवे स्टेशनों, डाकखानों, अस्पतालों, सिनेमाघरों, आदि का प्रयोग सावधानी एवं शिष्टता के साथ; कर्तव्य और अधिकारों की वर्तमान व्याख्या कर्म-प्रधान संस्कृति के अनुरूप नहीं; कर्मों में ही सतत लगे रहने से हमारे यहाँ अधिकारों की प्रचुरता।

शक्ति-सदुपयोग—छात्रों में असीमित सामूहिक शक्ति; सभी राजनीतिक दल इन्हें अपनी ओर मिलाने के लिए उत्सुक; छात्रों और छात्रालयों में विभिन्न दल-बन्दियाँ और गुट-बन्दियाँ; नेतागिरी के लिए अनेक छात्र लालायित; इस असामायिक अभिलाषा की पूर्ति में उनका छात्र-धर्म ही अस्त-व्यस्त। भारतीय परम्परा में 'मार्यादा' का अब भी अधिकाधिक महत्त्व; 'मर्यादा' तथा 'वयस्क मताधिकार' में स्वाभाविक संघर्ष। वर्तमान वैधानिकता की भित्ति पाश्चात्य आदर्शों पर; वैधानिकता और कर्म-प्रधान परम्परा में यथा-सम्भव अधिकाधिक सामञ्जस्य उत्पन्न करना ही इस भावी शिक्षा-योजना का मुख्य उद्देश्य। नागरिक एवं राजनीति शास्त्र का अध्ययन आवश्यक परन्तु विभिन्न दलों के कार्य-क्रम में शक्ति का अपव्यय अनुचित। साथ ही विभिन्न चुनाओं में योग्यता का अनादर एवं वलिदान कदापि न हो।

लक्ष्मी और सरस्वती—प्रस्तुत शिक्षा-प्रणाली में 'लक्ष्मी' के बिना 'सरस्वती' का दर्शन ही सम्भव नहीं; भारतीय विशेषताओं को घोर धक्का; शिक्षा को भक्ति-मूलक रूप देने में इस दुर्व्यवस्था को मिटाने के लिए विशेष प्रयत्न आवश्यक; फलतः छात्र जीवन से ही इसकी तैयारी। निर्धन छात्रों के प्रति आदर तथा सहानुभूति अपेक्षित; निःशुल्क छात्रों का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष—किसी प्रकार भी तिरस्कार नहीं। भिक्षा माँगकर अध्ययन करना इस समय सम्भव नहीं परन्तु धन-धान्य के बलपर छात्रों का अपने को सहपाठियों से बड़ा समझना कदापि उचित नहीं।

अध्याय ६

भावी-शिक्षा-योजना में स्त्री-शिक्षा

सिंहावलोकनः—भारतवर्ष में भारतीयता के पुनरुद्धार तथा उसे पुनः स्थापित करने में सबसे बड़ी कठिनाई भारतीय महिलाओं से सम्बन्धित उपस्थित होगी। पिछले दो-तीन अध्यायों में शिक्षकों, अभिभावकों, छात्रों, आदि को भाँति-भाँति से उच्च तथा नियंत्रित जीवन व्यतीत करने का अनुरोध किया गया है। कोई पुरुष ऊँचा जीवन तब तक नहीं व्यतीत कर पायेगा जब तक कि वह घर से प्रेरित न हो। भारतवर्ष के वर्तमान घरों की दशा दयनीय है। लगभग सभी वर्ग की सभी महिलाएँ अपने-अपने पतियों पर किसी न किसी रूप और मात्रा में हावी हैं। सामूहिक परिवार की परम्परा छिन्न-भिन्न हो गई है और यूरोप की भाँति किसी स्थान, गाँव, नगर, आदि में दम्पतियों और परिवारों की संख्या लगभग समान है। प्रत्येक स्त्री-पुरुष अपने परिवार की रक्षा में दिन-रात व्यग्र है। पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क से यहाँ के यथा-कथित हरिजन तथा महिलाओं का दृढ़ विश्वास हो गया है कि प्राचीन भारतवर्ष में उनके साथ घोर अन्याय हुआ है। पाश्चात्य रंग में रँगे हुए अन्य लोग भी लगभग ऐसा ही कहने में अपने को न्याय-सङ्गत पाते हैं। इसकी प्रतिक्रिया की प्रस्तुत लहरें इतनी तीव्र, विस्तृत तथा व्यापक हैं कि इनके प्रतिकूल बढ़ने का साहस विरला ही कोई कर पावेगा। इन लहरों के प्रतिकूल तनिक भी जबान खोलने वाले तथा लेखनी चलानेवाले व्यक्ति को असभ्य, असामयिक, अनुदार, अदूरदर्शी, आदि अनेक उपाधियों से अचिरात् विभूषित होना पड़ता है।

कुछ भी हो—भारतवर्ष, भारतीयता, भारतवासियों एवं समस्त मानव जाति के कल्याण के निमित्त इस प्रसङ्ग पर विधिवत् विचार न करना देश-द्रोह एवं समाज-द्रोह से किसी प्रकार भी कम नहीं। यथाकथित हरिजनों के सम्बन्ध में यहाँ प्रत्यक्ष रूप से कुछ न कहा जायगा परन्तु महिलाओं से ही सम्बन्धित समस्या पर विचार करने से उनकी गुत्थी भी बहुत कुछ सुलझ

जायगी। प्रसंगानुसार पिछले अध्यायों में कई बार कहा जा चुका है कि (अ) यूरोप की संस्कृति व्यक्तित्व अथवा व्यक्ति-प्रधान है और भारतवर्ष की कर्म-प्रधान, (ख) यूरोपीय संस्कृति में प्रस्तुत जीवन ही सब कुछ है परन्तु भारतीय में प्रस्तुत से महत्वपूर्ण पूर्व-जीवन तथा पुनर्जीवन हैं और (ग) यूरोप का जलवायु ठण्ढा है और भारतवर्ष का अपेक्षाकृत गरम। इन अन्तरों पर यदि ठीक से विचार कर लिया जाय तो भारतीय परम्परा की उपयोगिता कम से कम भारतवासियों के लिए स्वतः सिद्ध हो जाय। पाश्चात्य संस्कृति व्यक्ति प्रधान है; महिलाओं का कम से कम वाह्य व्यक्तित्व पुरुषों से अधिक आकर्षक होता है। उनकी उपस्थिति से पुरुषों का व्यक्तित्व अधिक अलंकृत तथा प्रच-लित हो जा सकता है। प्रस्तुत जीवन में ही सबकुछ भोग लेने के उद्देश्य से उनके राग-रंग, धर्म-कर्म, आचार-व्यवहार, जीत-हार, पाप-पुण्य, आदि ऐसे निर्धारित हैं कि महिलाओं को लगातार अथवा अधिकाधिक साथ रखने से अथवा यों कहा जाय कि प्रयत्न करके उन्हें अस्वाभाविक रूप से आगे बढ़ाने से पुरुषों को प्रायः अनेक सुविधाएँ प्राप्त होती रहती हैं।

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के आदर्शों से पोषित हमारी कर्म-प्रधान संस्कृति में परिस्थिति सर्वथा भिन्न है। महिलाओं के प्रति स्वाभाविक आकर्षण और जलवायु की प्रतिकूलता से उनके सम्पर्क में अधिक रहने पर हम कर्म-च्युत् हो जा सकते हैं। दूसरे शब्दों में, इस अपेक्षाकृत गरम देश में महिलाओं से अधिक अथवा असामयिक सम्पर्क रखने से न तो हम स्वस्थ और दीर्घायु हो सकेंगे और न ऊँचे-ऊँचे कार्य कर सकेंगे। यहाँ यह शंका हो सकती है कि सम्पर्क यदि सीमित और नियंत्रित करना ही था तो महिलाओं को ही अधिक त्याग करने की व्यवस्था क्यों की गई। पहली बात तो यह है कि पुरुषों का ही जीवन हमारे यहाँ अधिक कठोर, संघर्षमय तथा नियंत्रित रहा है। यदि किसी दृष्टिकोण से इसमें कुछ तथ्य हो भी तो उसका दायित्व 'प्रकृति' पर है। पुरुष अपने कृत्यों या अपनी क्रियाओं को यदि परमेश्वर से नहीं तो पंचो से छिपा ही सकता है परन्तु कोई स्त्री अपने कृत्यों को अधिक समय तक नहीं छिपा सकती। साथ ही, स्त्रियों का सौन्दर्य अधिक वाह्य होता है और अपेक्षाकृत शीघ्रता से विकसित होता है और ढलता है। इन्हीं कारणों से स्त्रियों का जीवन हमारे यहाँ, कुछ विचारों से, उन्हीं के कल्याणार्थ न्यूनाधिक नियंत्रित रहा है। संक्षेप में यदि स्त्रियों का जीवन सीमित तथा नियंत्रित न किया जाता तो पुरुष ब्रह्मचर्य का पालन न कर पाते, और यदि पुरुष ब्रह्मचर्य

द्वारा शक्ति और प्रेरणा न प्राप्त करते तो इस गरम देश में इतने ऊँचे-ऊँचे और अमिट कर्म न हो पाते।

कर्म-प्रधान संस्कृति में प्रत्येक व्यक्ति को उसकी सामर्थ्य के अनुसार कार्य मिलना स्वाभाविक और उपयोगी दोनों ही था। स्त्रियों को प्रकृति से ही पुरुषों की अपेक्षा अत्यधिक महत्वपूर्ण कर्म और दायित्व प्राप्त हैं; इन्हीं दायित्वों के सुसम्पादन में उनका पर्याप्त समय तथा स्वास्थ्य लगता है। फलतः मानवी और सामाजिक दायित्वों को उन पर अकारण लादना यदि अन्याय नहीं तो और क्या है। व्यक्ति-प्रधान समाज में तो यह आवश्यक प्रतीत होता है कि अपने व्यक्तित्व को आगे बढ़ाने के लिए अथवा आगे दिखाने के लिए अथवा प्रचार करने के लिए प्रस्तुत जीवन-काल में ही प्रत्येक व्यक्ति को कठिन से कठिन तथा यथा-कथित ऊँचे से ऊँचे काम में लगे रहने का प्रयत्न करना चाहिए। परन्तु भारतवर्ष की कर्म-प्रधान संस्कृति में तो ऐसी बात नहीं थी। यहाँ की छोटाई-बड़ाई किसी कर्म पर निर्भर न होकर किसी भी कर्म के सुसम्पादन पर निर्भर थी। जिस आनन्द और गौरव का अनुभव कोई ब्राह्मण यज्ञ, वेद-पाठ, आदि प्रतिदिन कर लेने पर करते थे उसी का अनुभव कोई स्त्री अपने गृह को व्यवस्थित करके तथा कोई शूद्र ग्राम या नगर की सफ़ाई करके, करते थे। पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के अस्तित्व से अपने प्रस्तुत जीवन में कोई भी भारतवासी बड़ा से बड़ा त्याग सहर्ष कर जाता था। फलतः पाश्चात्य विद्वानों और नई रोशनी के भारतवासियों को भारतीय विशेषताओं का विधिवत् अध्ययनऔर मनन करना चाहिए। पूर्वजन्म और पुनर्जन्म हों अथवा न हों परन्तु उनकी आशा में प्रस्तुत जीवद तो अभाव रहित, संघर्ष हीन तथा सुख-पूर्ण हो ही जाता था।

भारतीय महिलाओं के नियंत्रित जीवन की उपयोगिता की भी व्याख्या अप्रासङ्गिक न होगी। नियंत्रित-जीवन में युवतियाँ अपने पतियों के सम्पर्क में यदि कम आ पाती थीं और उनको इस प्रकार कुछ त्याग करना पड़ता था अथवा यों कहा जाय कि उन्हें सम्भवतः कष्ट होता था तो इस त्याग से संचित समय और शक्ति एक ओर उनके प्राकृतिक दायित्वों के सुसम्पादन में अर्थात् संतानोत्पत्ति तथा उसके लालन-पालन में और दूसरी ओर माताओं, दादियों, आदि की सेवा-शुश्रूषा में लग जाती थीं। साथ ही, परम्परा इतनी दृढ़ और स्पष्ट हो गई थी कि भारतीय महिलाएँ अपने पतियों के कल्याण और मान के लिए कठिन त्याग सहर्ष करती थीं। इतिहास साक्षी है कि पाश्चात्य प्रभाव के स्थापित होने तक जौहर व्रत का पालन भारतीय ललनाएँ हँसते-

खेलते करती थीं। 'उनके साथ अन्याय होता था; उनका जीवन कष्टमय था; उन्हें समाज में कोई स्थान नहीं था; आदि' धारणाएँ विदेशी सम्पर्क और वर्तमान शिक्षा की देन हैं। हाँ, संस्कारों के छिन्न-भिन्न हो जाने पर तितलियों की भाँति चहकती हुई यूरोपीय महिलाओं के साक्षात्कार से भारतीय रमणियों का भी मन उद्विग्न हो उठा; अब तो वे पूर्ण स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न-शील हैं। फिर भी उनका दोष इसमें कम ही है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि युवा अवस्था में भारतीय महिलाएँ जो त्याग करती थीं वह उनकी वृद्धावस्था में चक्रवृद्धि ब्याज के साथ वसूल हो जाता था; जब वे वृद्धा तथा दुर्बल हो जाती थीं तो उनकी बेटी-बहुएँ सहर्ष उनकी सेवा करती थीं। परन्तु पाश्चात्य परम्परा में इसके लिए स्थान ही नहीं है। युवतियाँ जब अपने-अपने पतियों के साथ हो जाती हैं तो वृद्धाओं की समुचित सेवा करेगा ही कौन ? आँकड़ों से सिद्ध है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ शीघ्र वृद्धा होती हैं और अधिक दिन तक जीवित भी रहती हैं। सेवा और सहारा की आवश्यकता विशेष रूप से वृद्धावस्था में पड़ती है न कि युवावस्था में। यदि ध्यान से देखा जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय परिवारों की रूप-रेखा में लोगों का-विशेषतया स्त्रियों का वृद्धावस्था के लिए 'सेवा-बीमा' एकत्र होता रहता था। जब उनमें शक्ति तथा बल की अधिकता थी तो उन्हें कुछ त्याग और दान करने पड़ते थे परन्तु ज्यों-ज्यों उनकी स्वाभाविक शक्ति क्षीण होने लगती थीं त्यों-त्यों उन्हें सहारा तथा अधिकार मिलते जाते थे। दूसरे शब्दों में उनका 'पत्नी जीवन' कुछ अधिक नियंत्रित अवश्य था परन्तु 'मातृ, दादी-नानी' जीवन अधिकाधिक गौरव तथा अधिकारों से पूर्ण था। वृद्ध और वृद्धाओं का जीवन जितना सुखी, सम्पन्न तथा शान्तिमय भारतीय परिवारों में रहता था उतना संसार के किसी भी देश में न रहा है और न है। अन्य देशों के विद्वान और समाज-सुधारक भारतीय व्यवस्था का छिद्रान्वेषण न करके यदि इसे समझने का प्रयत्न करें और यथासम्भव इसे अपनायें तो समस्त विश्व का कल्याण हो सकता है। खेद है कि प्रस्तुत काल में भारतीय परिवारों की ही दशा अत्यन्त दयनीय हो गई है।

अधिकांश भारतीय विद्वान अपनी वर्तमान दयनीय दशा का मूल कारण निर्धनता मानते हैं। परन्तु उनकी यह धारणा ठीक नहीं प्रतीत होती। स्मरण रहना चाहिए कि भारतीय परम्परा में धन को कोई विशेष महत्त्व न था—साधन-मात्र से अधिक होने का गौरव इसे उस समय न प्राप्त था। यदि धन को आवश्यकता से अधिक महत्त्व रहता तो हमारी परम्परा में लक्ष्मी और

सरस्वती का वैमनस्य कदापि न दिखाया जाता और न तो ब्राह्मणों का धन केवल भिक्षा होती। दूसरे शब्दों में, धनाभाव अथवा धनाधिक्य के आधार पर यहाँ सुख-दुःख कदापि निर्भर न थे। 'दरिद्र' और 'दरिद्रता' की हमारी व्याख्या भिन्न थी। 'दरिद्र' को वर्तमान 'निर्धन' का पर्याय मानना भारतीय संस्कृति के साथ अन्याय करना है। यहाँ का सर्वोच्च धन 'सन्तोष' रहा है। सन्तोष का अभाव होने पर धनवान को भी हम दरिद्र ही मानते थे। गोस्वामी तुलसी दास जी ने स्पष्ट लिखा है कि—

'बिन सन्तोष कुबेरहू दारिद दीन मलीन।'

भाव स्पष्ट है कि सन्तोष का अभाव होने पर कुबेर (धन के देवता) भी दरिद्र ही कहे जाते थे। फलतः 'दरिद्र' और 'दरिद्रता' के पर्याय हमारे यहाँ क्रम से 'असन्तोषी' और 'असन्तोष' हैं तथा हमारे वर्तमान दुःख का कारण सांस्कृतिक संघर्ष एवं वृद्ध और वृद्धाओं का तिरस्कार और अनादर है।

वृद्ध और वृद्धाओं के तिरस्कार और अनादर का दुष्परिणाम बहुत तीव्र और गहरा है। यूरोप की केवल सरल और चटपटी पद्धतियों का अनुकरण हमारे यहाँ हो पाया है। उनकी व्यवस्था में परिवार की रूप-रेखा सीमित और संकुचित है। उस रूप-रेखा में स्त्री-पुरुष अथवा पति-पत्नी के सम्बन्ध जितने लुभावने, सजीव और सफल जीवन के पूर्वार्द्ध में प्रतीत होते हैं उतने उत्तरार्द्ध में नहीं। इसकी पूर्ति उनके यहाँ होटलों से होती है। वहाँ पर वृद्ध, वृद्धाएँ तथा अन्य लोग भी चाव से अपना समय होटलों में बिताते हैं। हमारे यहाँ ऐसी बात नहीं है—तिरस्कृत और अपमानित होने पर भी वृद्ध और वृद्धाएँ परिवार में ही रह रही हैं। नव दम्पतियों की सोचने और समझने वाली सन्तानें प्रायः इन्हीं वृद्ध और वृद्धाओं की गोद और देख-रेख में पलती हैं। उनके अनादर, तिरस्कार, अपमान, आदि का कुप्रभाव उन सन्तानों के विकास पर पड़ता है। प्रतिकूल भावों से सम्बन्धित भाषा ये सन्तानें अनायास ही सीख जाती हैं। वर्तमान अनुशासन-हीनता के अंकुर इन छात्रों के मन में यहीं से उगते हैं। पंच और परमेश्वर के डर से लोग वृद्धों और वृद्धाओं को घर से बिलकुल निकाल देने का साहस तो नहीं कर सकते परन्तु कुटेवों के वशीभूत हो जाने से अपने को सँभाल भी नहीं पाते। यदि ध्यान से देखा जाय तो वर्तमान भारतवर्ष के अधिकांश परिवार इसी कुचक्र से पीड़ित हैं।

कर्म प्रधान संस्कृति के विकास और उसकी दृढ़ता के लिए परिवारों का विस्तृत और अधिकाधिक सामूहिक होना परमावश्यक है। इस संसार में प्रत्येक जीव अकेला जन्म लेता है और अकेला ही अपनी लीला समाप्त कर देता

है। समाज की परम्परा के अनुसार बहुत से पदार्थ अपने हो जाते हैं और कहे भी जाते हैं। परन्तु ये अधिकार मानवी नियमों पर निर्भर होते है। जो पदार्थ आज हमारा है वह कल दूसरे का हो जा सकता है। यदि ध्यान से विचारा जाय तो इस सृष्टि में यदि कोई ऐसा वर्ग है जिसे किसी पर अपना एम मात्र और स्वाभाविक अधिकार प्राप्त हो तो वे स्त्रियाँ ही हैं। सन्तानें उन्हीं के शरीर से पैदा होती हैं और उन्हीं की होती हैं। 'अपने' और 'पराये' का अन्तर जितना उन्हें निश्चित और स्पष्ट है उतना पुरुषों को नहीं। फलतः स्त्रियों के माया-बन्धन पुरुषों की अपेक्षा अत्यधिक स्वाभाविक, प्रत्यक्ष तथा निश्चित होते हैं। उनकी इसी प्राकृतिक माया पर विजय पाने के विचार से उनके जीवन के पूर्वार्द्ध को कुछ अधिक नियमित तथा नियंत्रित किया गया। पाश्चात्य देशों के संक्षिप्त और संकुचित परिवारों के लिए तो यह माया ठीक ही है। अपनी सन्तानों और अपने पति को ही प्यार करने से उन संक्षिप्त परिवारों में सुख और शान्ति का साम्राज्य रहता है परन्तु सामूहिक परिवार का काम इससे एक दिन भी नहीं चल सकता।

खेद और दुःख के साथ यह स्वीकार करने में तनिक भी संकोच नहीं होना चाहिए कि उपर्युक्त चित्रित सामूहिक परिवार सम्भवतः अब नहीं रह गये हैं। कहीं-कहीं और किसी-किसी सुसंस्कृत परिवार में उनके कुछ सिद्धान्त भग्नावशेष के रूप में मिल जाते हैं। सामूहिक परिवारों की मालकिनों के दायित्व और अधिकार असीमित थे। लेखक का दृढ़ विश्बास है कि गौरव, उदारता, परोपकार, न्याय, त्याग, अध्यवसाय, उत्साह, प्रेरणा, आदि के जितने सजीव तथा प्रत्यक्ष प्रमाण उस समय की भारतीय मालकिनों की अपनी छोटीसी दुनिया में मिलते थे उतने वर्तमान भारतीय महिलाओं अथवा अन्य देशों की महिलाओं की यथाकथित ऊँची से ऊँची सार्वजनिक नियुक्तियों में कदापि नहीं मिलते। ऊँचे-ऊँचे पदों पर महिलाओं की वर्तमान नियुक्तियाँ प्रायः पुरुषों की कृपा से हो रही हैं; परन्तु तत्कालीन मालकिनों को अधिकाधिक दायित्व तथा अधिकार देने के लिए पुरुष विवश थे। आजकल जिन-जिन सार्वजनिक पदों पर महिलाएँ नियुक्त की जा रही हैं उनमें से अधिकांश को पुरुष सुविधा पूर्वक कर सकते हैं। परन्तु भारतीय मालकिनों के दायित्व का सम्पादन पुरुष कदापि न कर सकते थे। उन अधिकारों और दायित्वों को वे अनेक कर्तव्यों, त्यागों और यातनाओं के फलस्वरूप धीरे-धीरे एकत्र करती थीं। फलतः पुरुष उन कार्यों के लिए अयोग्य थे।

सामूहिक परिवारों में विभिन्न स्थानों से आई हुई सगे, चचेरे तथा अन्य भाइयों की पत्नियाँ, बच्चे, बच्चियाँ और फिर उन सबकी बहुएँ, बेटियाँ, नाती, पोते, आदि अनेक होते थे। प्रत्येक की भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति, इच्छाएँ, आदि होती ही थीं। इन सबमें समुचित सामञ्जस्य स्थापित करना मालकिनों का ही दायित्व था। इसमें सन्देह नहीं कि तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था तथा परम्परा इसी के अनुकूल थी; फिर भी उनका दायित्व ऊँचा और महत्त्वपूर्ण था। घर का प्रत्येक वयस्क, बालक, बच्चे, बच्चियाँ, आदि छोटे-बड़े सभी कामों के लिए क्रम से पत्नियों, माताओं, आदि के पास न जाकर केवल मालकिनों के पास आते थे। मालकिनें अपने बच्चों, बहुओं, पोतों, आदि से अधिक ध्यान अन्य बच्चों और बहुओं का वास्तविक रूप से रखती थीं। घर की शेष महिलाएँ निश्चिन्त होकर काम-काज में लगी रहती थीं। वर्तमान भारतीय महिलाएँ इस व्यवस्था की प्राय: खिल्लियाँ उड़ाती हैं; वे कहती हैं कि तत्कालीन भारतीय महिलाओं की युवावस्था परतंत्रता में व्यतीत हो जाती थी। चाहे इसे स्वतंत्रता मानी जाय अथवा परतंत्रता परन्तु इतना निश्चय है कि वे स्त्रियाँ जितना स्वस्थ, नियमित, निश्चिन्त तथा संस्कार-पूर्ण जीवन व्यतीत करती थीं और स्वस्थ सन्तानें उत्पन्न करती थीं उतना व्यवस्थित जीवन तथा स्वस्थ वातावरण आजकल की भारतीय महिलाओं को कदापि उपलब्ध नहीं है।

स्त्रियों का माया-बन्धन (सन्तान सम्बन्धी) वास्तविक, स्वाभाविक तथा प्रत्यक्ष होने के कारण प्रत्येक काल के प्रत्येक समाज ने इनसे कुछ अधिक सावधान रहने के लिए प्रेरित किया है। विश्व-विख्यात अंगरेज नाटककार शेक्सपियर ने भी एक प्रसङ्ग में लिखा है—

'फ्रेलिटी इज़ दाई नेम ओमन'

अर्थात् 'स्त्रियों में दुर्बलता होती ही है।'

इस प्रकार की उक्तियाँ संसार के लगभग सभी साहित्यों में मिलती है। परन्तु गोस्वामी तुलसीदास जी को इससे अधिक स्पष्ट होना पड़ा। उन्हों ने एक प्रसङ्ग में लिखा है—

"ढोल गँवार शूद्र पशु नारी।
ये सब ताड़न के अधिकारी॥"

गोस्वामीजी की इस उक्ति से वर्तमान भारतीय महिलाओं और नई रोशनी के अनेक पुरुषों के मन में उनके प्रति कभी-कभी श्रद्धा का अभाव सा हो जाता है। कुछ विद्वान अपने तर्क से गोस्वामीजी के ऐसा लिखने का उद्देश्य

और मन्तव्य बनाते हैं। परन्तु पाश्चात्य विद्वानों की घोर आपत्तियों का समाधान कहाँ हो पाता है। उन महानुभावों ने यदि भारतीय विशेषताओं को समझने का प्रयत्न नहीं किया तो कोई बहुत बड़ा अपराध नहीं किया परन्तु यहाँ के विद्वानों का भी वही राग अलापना कहाँ तक क्षम्य है? जब केवल प्रस्तुत जीवन को ही महत्त्व देने वाली व्यक्तित्व-प्रधान पाश्चात्य संस्कृति में शेक्सपियर ने ऐसा कह कर स्त्रियों के व्यक्तित्व को ही दूषित घोषित कर दिया तो पूर्वजन्म और पुनर्जन्म से नियंत्रित भारतीय कर्म-प्रधान संस्कृति में तो गोस्वामीजी ने कुछ भी नहीं किया। जब उनके यहाँ प्रस्तुत जीवन ही सब कुछ है तो स्त्रियों को सामूहिक रूप से 'दुर्बलता-प्रधान' कह देने से उनका व्यक्तित्व और महत्त्व ही समाप्त हो गया। परन्तु हमारे यहाँ 'ताड़ना' का कारण उनका वर्त्तमान ही जीवन नहीं हो सकता।

यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो स्पष्ट है कि शेक्सपियर और गोस्वामी तुलसीदास जी—दोनों ही ने स्त्रियों के व्यक्तित्व की आलोचना की है। व्यक्तित्व पर आक्षेप होने पर व्यक्तित्व-प्रधान संस्कृति में अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। परन्तु कर्म-प्रधान संस्कृति में व्यक्तित्व पर आक्षेप होने से कुछ भी नहीं बिगड़ता। ताड़ना-प्राप्त व्यक्ति ऊँचा से ऊँचा कर्म करके सम्मानित हो सकता है। साथ ही यहाँ पर 'ताड़ना' की संक्षिप्त व्याख्या भी अप्रासंगिक न होगी। 'ताड़ना' का तात्पर्य 'शारीरिक दण्ड' ही नहीं है। ताड़ना के अन्तर्गत 'कम सम्पर्क रखना,' 'कुछ समय तक बिलकुल सम्पर्क न रखना,' 'कुछ बनावटी क्रोध करना' इत्यादि हैं। उनकी माया का आधार अपेक्षाकृत प्रत्यक्ष और वास्तविक होने से स्त्रियों के मनोविज्ञान का भी स्वाभाविक विश्लेषण सरल नहीं। पाश्चात्य संस्कृति में भी कहा गया है—

'ट्रू लव्ह नेव्हर रन्स स्मूथली'

अर्थात् 'सच्चा प्रेम निर्विवाद कभी भी नहीं होता'

सम्भवतः इसी प्रकार की गुत्थियों पर विजय प्राप्त करने के विचार से भारतीय संस्कृति में इस प्रकार की व्यवस्था है। इस शंका के लिए अब स्थान नहीं है कि यह अनुपान स्त्रियों के ही सम्बन्ध में क्यों निर्धारित किया गया; इसकी व्याख्या की जा चुकी है।

इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले क्षणिक सुख सभी योनियों में प्राप्त होते हैं। जहाँ तक इनका सम्बन्ध है मनुष्य और पशु लगभग समान हैं। बालभक्त प्रह्लाद जी ने अपने सहपाठियों को (राक्षसों के बच्चों को) उपदेश देते हुए श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध के छठें अध्याय के तीसरे श्लोक में कहा है—

सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम् ।
सर्वत्र लभ्यते दैवाद्यथा दुःखमयत्नतः ॥

अर्थात् 'इन्द्रियों से जो सुख भोगा जाता है, वह तो जीव चाहे जिस योनि में रहे—प्रारब्ध के अनुसार सर्वत्र वैसे ही मिलता रहता है, जैसे बिना किसी प्रकार का प्रयत्न किये, निवारण करने पर भी, दुःख मिलता है।' पशुता से मनुष्यता की ओर अग्रसर होने में जिस व्यक्ति या वर्ग या देश या समाज ने इस प्राकृतिक अथवा पाशविक लिप्सा से जितना ही अपने को नियंत्रित करके शक्ति-सञ्चय किया और उसे पश्वेतर अर्थात् ऊँचे-ऊँचे कामों में लगाया वह व्यक्ति या वर्ग या देश या समाज उतना ही श्रेष्ठ हो सका। यह सर्वमान्य है कि इस दृष्टि से भारतवर्ष अद्वितीय है। अपनी कर्म-प्रधान संस्कृति के अनुरूप पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का निरूपण करके इस देश ने मानव का कार्य-काल अनन्त कर दिया। इस संस्कृति के अनुसार मनुष्य को अपने प्रस्तुत जीवन में दु:खी तथा असफल होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

अन्य संस्कृतियों में प्रस्तुत जीवन अर्थात् पशु-जीवन को ही अधिकाधिक व्यवस्थित, सरस, अलंकृत, सुसज्जित, विविध तथा वैभवपूर्ण बनाने का प्रयत्न हुआ और हो रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय समाज में भी उच्च-कोटि के राग-रंग, आमोद-प्रमोद, भोग-विलास, आदि की अधिकाधिक प्रचुरता रही और अन्य संस्कृतियों में भी उच्च से उच्च कोटि के त्याग, बलिदान, परोपकार आदि होते थे और हो रहे हैं। परन्तु सबसे बड़ा अन्तर यह है (पिछले अध्यायों में भी इसका उल्लेख हो चुका है) कि अन्य लोग अनुराग के माध्यम से त्याग पर आते थे तथा आ रहे हैं परन्तु हम लोग त्याग के माध्यम से अनुराग पर। इसी विशेषता को न समझने अथवा माया-वश समझने में असमर्थ होने के कारण विदेशी विद्वानों ने भारत के अतीत के साथ घोर अन्याय किया है। कर्म-प्रधान संस्कृति के उत्तरोत्तर विकास के निमित्त हमारे मनीषियों ने जो कुछ किया था वह सबका सब विदेशी विद्वानों को विचित्र, अस्वाभाविक और असुविधाजनक प्रतीत हुआ। उन महानुभावों ने हमारी मौलिक और अद्वितीय विशेषताओं का ऐसा कुत्सित निरूपण किया कि इस कर्म-भूमि का समस्त वातावरण ही क्षुब्ध हो गया है। अपने देश, जलवायु, धर्म, आदि तथा अपनी संस्कृति, परम्परा, मौलिक विशेषताओं, आदि का लेशमात्र भी ध्यान न रखते हुए यहाँ के नवयुवक और नवयुवतियाँ अपने जीवन में 'अनुराग' को अत्यधिक महत्व दे रही है।

'यहाँ-वहाँ', 'पूर्व-पश्चिम', 'कर्म-व्यक्तित्व' आदि के विवाद को छोड़कर यदि उपयोगिता की दृष्टि से भी देखा जाय तो 'त्याग' से 'अनुराग' में जाना हर प्रकार से 'अनुराग' से 'त्याग' पर जाने से अधिक कल्याणकारी प्रतीत होता है। 'पशुता' से 'अनुराग' का क्षेत्र मिला हुआ है परन्तु 'त्याग' का बिलकुल अलग है। अनुराग के चक्कर में पड़ जाने पर साधारण लोग एवं अधिकांश लोग त्याग तक पहुँच नहीं पाते एवं यथार्थ मनुष्य नहीं हो पाते। परन्तु त्याग से अनुराग में जाने पर साधारण कोटि के ल.ग भी त्याग का पर्याप्त अभ्यास कर लेते हैं। असाधारण 'भारतीय सहनशीलता' का रहस्य इसी में निहित है। इसी अनोखी विशेषता से विश्व-विख्यात उस भारतीय 'उदारता'' का प्रादुर्भाव हुआ, जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए भी अधिकांश वर्तमान विद्वान उसे समझने में असमर्थ हैं और जो अनादिकाल से विदेशी विशेषताओं को अपने में समेटते हुए आज भी खण्डहरों में से हमें सावधान ही नहीं कर रही है प्रत्युत समय-समय पर हमारा पथ-प्रदर्शन कर रही है। त्याग के अभ्यासों से व्यक्ति में संयम, विवेक, आत्मबल, आदि का समुचित और स्थायी विकास हो जाता है। ये विशेषताएँ किसी व्यक्ति को अनुराग में पड़ने से तो सम्भवतः नहीं रोक सकती परन्तु उसमें उसे लिप्त नहीं होने देती। अनुराग का चक्रव्यूह चाहे कितनाहू दृढ़ और व्यवस्थित क्यों न हो परन्तु त्यागी व्यक्ति प्रथम तृप्ति होते ही हट आता है। आवश्यकता पड़ने पर फिर जा सकता है परन्तु फिर हट आयेगा। इसी प्रकार आता-जाता रहेगा परन्तु लिप्त नहीं हो सकता।

'त्यागी व्यक्ति का त्याग उसे अनुराग में पड़ने से नहीं रोक सकता' — यह कथन कुछ लोगों को खटक सकता है। त्याग, तपस्या, संस्कृति, सभ्यता, आदि सभी कुछ पशु-जीवन पर सुन्दर से सुन्दर और टिकाऊ से टिकाऊ कलई हैं। यदि किसी प्रयत्न द्वारा इन्द्रिय-विशेष को नष्ट नहीं कर दिया गया है तो वह सुप्तावस्था में वर्तमान अवश्य रहती है। उपयुक्त प्रलोभन, आलम्बन, उद्दीपन, आदि के सम्पर्क से संबन्धित इन्द्रियों में संचार होना अथवा उनका सक्रिय रूप धारण करना असम्भव नहीं। यही कारण है कि प्राचीन भारतवर्ष में भी कभी-कभी बड़े-बड़े ऋषि-मुनि विषम परिस्थितियों में विचलित हो जाते थे; प्रसङ्गानुसार क्रोध, डाह, लोभ भोग-विलास, आदि सभी के शिकार वे हो जाते थे। परन्तु उन परिस्थितियों में वे लोग लिप्त कदापि न हुए। कभी-कभी अपने पूर्व-पद को प्राप्त करने में उन्हें घोर तपस्या करनी पड़ती थी और नाना प्रकार की यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। हाँ, त्याग

जितना ही ऊँचा होगा व्यक्ति उतने ही विलम्ब से प्रलोभनों के सम्मुख फिसलता है और शीघ्रता से सँभल जाता है और यदि त्याग साधारण है तो शीघ्रता से फिसलता है और विलम्ब से सँभलता है। नई रोशनी के भारतीय लोग अपनी दुर्बलता की पुष्टि उपर्युक्त ऋषि-मुनियों के फिसलने से तो करते हैं परन्तु खेद है कि उन लोगों के सँभलने की ओर उनका लेशमात्र भी ध्यान नहीं जाता।

लेखक का दृढ़ विश्वास है कि विभिन्न 'आदर्शों' पर विचार करने से वर्तमान भारतीय महिलाएँ यह स्वीकार करने में विलम्ब न करेंगी कि क) इस देश में उनके साथ अन्याय नहीं हुआ है, और उनकी तत्कालीन बहनें कर्म-प्रधान संस्कृति की रक्षा और उसके विकास के लिए सहर्ष विविध त्याग करती थीं, (ख) उस त्याग-प्रधान जीवन में स्त्रियों का कल्याण पुरुषों से भी अधिक होता था। तर्क और माया का इस समय हमारे देश में ऐसा तण्डव हो रहा है कि महिलाओं को कौन कहे, अनेक पुरुष ही इसके प्रतिकूल टीका-टिप्पणी करने में न चूकेंगे। कुछ भी हो, इस तथ्य को नहीं छिपाया जा सकता कि अधिकांश शिक्षित नव दम्पतियों को हम लोग प्रायः औषधालयों का चक्कर लगाते हुए देखते हैं। नाना प्रकार की ओषधियाँ निकल पड़ी हैं। एक 'मन' को वश में न कर सकने के कारण अनेक यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं। खेद का विषय है कि अधिकांश दवाइयाँ श्रीमती लोगों को ही प्रयोग में लानी पड़ती हैं। युवतियों का स्वास्थ्य प्रायः दूषित होता जा रहा है—प्रथम सन्तान के होते-होते उनमें कई बीमारियाँ घर कर जाती हैं। परन्तु ऐसी विदेशी परम्परा चल पड़ी है कि पेट काट-काट कर चाहे कितनी ही मँहगी से मँहगी ओषधियाँ खरीदनी पड़ें परन्तु इन लोगों का खाना-पीना, घूमना-फिरना, रहना-सोना, होता है प्रत्येक दशा में एक साथ ही।

पाश्चात्य विद्वानों ने यहाँ के पुरुषों के 'बहु-विवाह' और 'विधवा-विवाह-निषेध' की भी तीव्र आलोचना की है। उनकी आलोचनाओं से तो हमें उद्विग्न नहीं होना है परन्तु अपनी विभिन्न परम्पराओं की उपयोगिता हमें अवश्य आँकनी है। सम्भवतः बहु-विवाह की प्रथा सिद्धान्तः यहाँ स्त्री-पुरुष दोनों ही के लिए थी। द्रौपदी के पाँच पति अपवाद रूप में न थे। इस सिद्धान्त का आधार भी सामूहिक परिवार को प्रोत्साहन था। प्राकृतिक विशेषताओं पर यदि विधिवत् विचार किया जाय तो स्त्रियों के बहु-विवाह से पुरुषों का बहु-विवाह अधिक सुलभ तथा उपयोगी प्रतीत होता है। इसी से सिद्धान्तः निषेध न होते हुए भी, उपयोगी और सुलभ न होने के कारण स्त्रियों के बहु-

विवाह की प्रथा का क्रमशः लोप हो गया। हाँ इतना अवश्य मान लेना चाहिए कि पुरुषों के भी बहु-विवाह की सम्भावना, उपयोगिता और सुविधाएँ विधिवत् नियंत्रित तथा कर्माधारित केवल भारतीय परिवारों में ही हैं। वर्तमान जीवन को ही प्रधानता देने वाली पाश्चात्य संस्कृति में इस प्रकार के सामञ्जस्य की लेशमात्र भी सम्भावना नहीं। निस्सन्देह उनके यहाँ 'सम्बन्ध-विच्छेद' अथवा 'सम्बन्ध-सृजन' उतना ही सरल और साधारण है जितना कि वस्तुओं का क्रय-विक्रय।

'सम्बन्ध-विच्छेद' और 'सम्बन्ध-सृजन' में महिलाओं की परिस्थिति क्या होती है—ठीक-ठीक समझना कुछ कठिन है। भारतीय समाज के भी अधिकांश वर्गों में आज कल 'सम्बन्ध-विच्छेद' और 'सम्बन्ध-सृजन' की प्रथा है। परन्तु इसे अच्छा नहीं माना जाता। इसका आधार या तो प्रथम पति की मृत्यु अथवा अन्य पारिवारिक कठिनाइयाँ होती हैं। उनके यहाँ इसकी पूर्ति न्यायालयों में होती है और हमारे यहाँ बिरादरी-सभा द्वारा। पाश्चात्य व्यवस्था में वैधानिकता का पुट तो अधिक है परन्तु सत्य और स्वाभाविकता का प्रायः हनन होता है। साथही, हमारे यहाँ जिन स्त्रियों को सन्तानें होतीं हैं और जीविकोपार्जन की समस्या प्रायः विकट नहीं होती तो पुनर्विवाह के चक्कर में न पड़कर वे स्वयं भी गौरवान्वित होती हैं और समाज में भी उनकी प्रशंसा की जाती है। किसी अन्य गुत्थी के उलझने पर यदि हमारे यहाँ सम्बन्ध-विच्छेद होता है तो बिरादरी में इसकी पर्याप्त निन्दा होती है। परन्तु पाश्चात्य व्यवस्था में परिस्थिति भिन्न है। 'सम्बन्ध-विच्छेद' की शीघ्र पूर्ति के उद्देश्य से वहाँ पर न्यायाधीशों के सम्मुख स्त्री-पुरुष एक-दूसरे के ऊपर कुछ भी आरोप करने में नहीं हिचकते; उनकी बातों को सुनकर और पढ़कर ऐसा आभास होता है कि भूतपूर्व प्रेमालाप, स्नेह, राग-रंग, आदि का उनके हृदय से अचानक लोप सा हो जाता है। मानव हृदयों का इस प्रकार कोरी पटिया हो जाना समझ में नहीं आता।

पाश्चात्य तथा नवीन विचारावली के भारतीय विद्वानों से सादर अनुरोध है कि भारतीय परम्परा की विशेषताओं को विधिवत् समझने की कृपा करें। व्यापार, आविष्कार, राजनीति, कूटनीति, आदि क्षेत्रों की क्षणिक विजय अथवा सफलता से उन्मत्त न होकर वे मनुष्यता-प्रधान भारतीय संस्कृति के प्रत्येक अङ्ग का विश्लेषण और अध्ययन करने का कष्ट करें। स्त्रियों अथवा पुरुषों के वर्तमान व्यवहार से इस संस्कृति को कदापि नहीं जाना जा सकता। इस समय तो यहाँ के अधिकांश लोग पाश्चात्य-प्रेरित अनुराग-प्रधान आडम्बरों के

इन्द्रजाल में ऐसे चूर हैं कि पग-पग पर 'रामचरित मानस' का वह प्रसंग याद आता है जब कि शंकर जी को डिगाने के लिए कामदेव ने अपनो मायाजाल फैलाई थी। यदि इस समय मत-दान कराया जाय तो आश्चर्य नहीं कि लोग पाश्चात्य संस्कृति को ही अपनाने का निर्णय दे दें। भारतवर्ष की ही नहीं प्रत्युत लगभग सभी पूर्वी देशों की शिक्षिता महिलाएँ अपनी पाश्चात्य बहनों के जीवन पर मन ही मन लुभा रही हैं। पुरुषों के समान होने तथा उनसे और आगे बढ़ जाने के लिए बिना कुछ सोचे-समझे वे अपने-अपने देशों में विभिन्न योजनाएँ तैयार कर रही हैं। भारतवर्ष में भी इसकी विशेष चहल-पहल है। प्रत्येक हड़ताल, जलूस, क्षोभ-प्रदर्शन, स्वागत-सभाओं, तथा अन्य समारोहों में पुरुषों के आगे होने में वे अधिक गौरवान्वित होती हैं।

इस प्रसङ्ग में विचित्रता यह है कि भारतीय महिलाओं का अधिक दोष नहीं है। खेद का विषय यह है कि देश के कर्णधार और नेतागण ही उन्हें ऐसा करने और होने के लिए प्रत्यक्ष और परोक्ष-दोनों ही रूपों में प्रेरित कर रहे हैं। अभी-अभी सन् १९५७ के चुनाव में 'कांग्रेस' ने बड़े गर्व के साथ विभिन्न सदनों में सदस्याओं की संख्या बढ़ाई है। लोक-सभा तथा व्यवस्थापिका सभाओं में एक के उपरान्त दूसरी धाराएँ इसी उद्देश्य से लगातार पास होती जा रही हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जिस प्रकार हमें अन्य क्षेत्रों में अनेक सुधार करने हैं उसी प्रकार अपनी बहनों और माताओं के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ करना है। किन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति केवल 'हिन्दू-कोड-बिल, पास कर देने से न हो सकेगी। रोग का समुचित निदान किये बिना उत्तम से उत्तम औषधि भी यही नहीं कि उपयोगी सिद्ध नहीं होती प्रत्युत कभी-कभी घातक हो जाती है। स्वतंत्रता के उपरान्त जितनी भी धाराएँ इस प्रकार की पास की गई हैं उनसे विदेशियों की प्रशंसा भलेही प्राप्त हो रही हो परन्तु देश का विशेष कल्याण नहीं हो रहा है।

भारतीय महिलाओं को आजकल हमारे यहाँ जो अस्वाभाविक प्रोत्साहन दिया जा रहा है वह किसी सिद्धान्त पर अवलम्बित नहीं है। दूसरे शब्दों में उन्हें जो अधिकार दिये जा रहे हैं वे कर्तव्यों पर आधारित नहीं हैं। अधिकार और कर्तव्य के अनुपात में अन्तर पड़ते ही वास्तविक सुख लुप्त होने लगता है। पाश्चात्य संस्कृति का स्नेह, शिष्टाचार, व्यवहार, आदि ऐसे निर्धारित हैं कि वहाँ की महिलाएँ अपनी स्वतंत्रता एवं अपने अधिकारों के निमित्त विविध कठिनाइयों का सामना करती हैं। बचपन में माता-पिता के ऊपर, युवावस्था में पति के ऊपर और वृद्धावस्था में सन्तानों के ऊपर वे भार-स्वरूप कदापि नहीं

रहती। यदि ध्यान से देखा जाय तो हमारे देश में ऐसी बात नहीं है। आवेश में यहाँ के गुरुजन लोक-सभा, लोक-परिषद, व्यवस्थापिका-सभा, आदि में चाहे जैसी नवीन से नवीन धाराएँ पास करदें और अन्य समारोहों में चाहे जितना उदार से उदार भाषण देलें किन्तु अपनी संस्कृति का उनपर कोई ऐसा अमिट छाप है कि काम पड़ने पर न तो अपनी महिलाओं को वे अरक्षित छोड़ सकेंगे और न तो ये महिलाएँ निर्भीक होकर स्वयं विषम परिस्थितियों का सामना कर सकेंगी। अपनी अनोखी शिक्षा से प्रेरित होकर महिलाओं को लोग सभाओं में लेजाने के लिए प्रेरित तो होते हैंपरन्तु सुदृढ़ परम्परा से चेताये जाने पर उन्हें लगातार देखने-भालने के लिए विवश होते हैं। फल यह होता है कि उत्सवों और समारोहों का स्वाभाविक आनन्द न वे स्वयं पाते हैं, न वे महिलाएँ पाती हैं और न कुछ अन्य लोग पाते हैं।

पाश्चात्य रूप-रेखा का कुप्रभाव केवल शिक्षित परिवारों तक ही सीमित नहीं है। इसके चपेट में लगभग समस्त देश आगया है। 'मेम साहिबा' की देखा-देखी चपरासियों की पत्नियाँ भी 'पूर्ण स्वतंत्रता-प्राप्ति' के नारे ही नहीं लगा रही हैं प्रत्युत बहुत दूर तक सफल भी हो चुकी हैं। ग्रामीण वातावरण और भी क्षुब्ध है। वकील और वकीलाइनों के व्यवहार तथा रहन-सहन को सूँघ-सूँघ कर गाँव के लोग भी अपनी-अपनी पत्नियों को आगे बढ़ाने में प्रयत्नशील हैं। कलकत्ता, बम्बई तथा अन्य बड़े-बड़े नगरों के कल-कारखानों में काम करने वाले ग्रामीण लोग भी अपनी-अपनी पत्नियों को यथा-सम्भव 'अर्द्धाङ्गिनी' के बजाय 'बेटर हाफ़' बनाते जा रहे हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी की उक्ति अक्षरशः सत्य हो रही कि 'अचलालन' के देखते ही लोग माता-पिता भाई-बन्धु, आदि सभी नेह-नातों को लात मार रहे हैं। यद्यपि इस संस्कार-शून्य जीवन के फल गिरते हुए स्वास्थ्य और निकम्मी संतानों के रूप में शीघ्र मिल जाते हैं परन्तु ऐसे लोगों को बचपन और यौवन फिर तो मिलता नहीं कि अपने पहले अनुभवों के आधार पर नियमित जीवन व्यतीत करें। फलतः देखा-देखी सभी लोग इस विदेशी परम्परा के कुचक्र में एक-एक करके फँसते जा रहे हैं।

भावी-योजना में भारतीय महिलाओं के दायित्व—स्त्रियों की शिक्षा की रूप-रेखा तैयार करने के पूर्व उनके दायित्वों की व्याख्या सम्भवतः अप्रासङ्गिक न होगी। पिछले अध्यायों में शिक्षकों, अभिभावकों, शिक्षार्थियों, आदि के दायित्व यथा-सम्भव निर्धारित किये गये हैं। परन्तु उनकी पूर्ति तब तक न हो पायेगी अथवा बहुत प्रयत्न करने पर भी केवल अंशतः हो पायेगी, जब तक

कि महिलाएँ उचित त्याग के लिए सहर्ष कटिबद्ध नहीं हो जाती। हमारी परम्परा में उन्हीं से शक्ति और प्रेरणा प्राप्त करके पुरुष विभिन्न कार्य करते आये हैं। स्मरण रहना चहिए कि हमारे यहाँ पति-पत्नी के सम्पर्क नियमित और नियंत्रित होते हुए भी अधिक सजीव और उपयोगी होते थे। मनुष्य में स्वभाव से ही बुराइयाँ होती हैं। शिष्टाचार, संस्कृति, सभ्यता, आदि के आधार पर अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार औरों से मिलते समय उन्हें हम नियंत्रित किये अथवा छिपाये रहते हैं। परन्तु मेल-जोल जितना ही बढ़ता ज.ता है, कलई उतनी ही खुलती जाती है। पति-पत्नी एक-दूसरे की त्रुटियों को जितना ही अधिक जानते जायँगे उतनी ही दूषित सन्तानें उत्पन्न होंगी। फलतः सम्पर्क सीमित और नियमित कर देने से अन्य आदर्शों की रक्षा तो होती ही है, साथ ही यह सन्तान सम्बन्धी गुत्थी भी स्वतः सुलझ जाती है।

(क) <u>गुरुजन-सेवा</u>—भारतीय महिलाओं का सर्व-प्रथम दायित्व यह होगा कि वे तीस वर्ष की अवस्था तक गुरुजन अर्थात् परिवार के वृद्ध-वृद्धाओं की सेवा करें। सामूहिक परिवार का पुनरुद्धार और विकास वास्तव में महिलाओं की ही सेवा और उन्हीं के त्याग पर निर्भर है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इस अवस्था तक उनका पाणि-ग्रहण न होगा—कदापि नहीं। उचित अवस्था में उनका पाणि-ग्रहण तो हो ही जायगा। बिना इस संस्कार की पूर्ति हुए वे पर्याप्त और समुचित सेवा अथवा त्याग कर रहो न पायेंगी। भारतीय परम्परा में साधारण रूप में किसी स्त्री के कुमारी रह जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। उनका अधिकाधिक नियमित और नियंत्रित दाम्पत्य जीवन चलता रहेगा और सन्तानें भी उत्पन्न होती रहेंगी। आवश्यकता पड़ने पर यज्ञ, पूजा, आदि के अवसरों पर वे अपने पति से प्रासङ्गिक बात-चीत सबके सामने कर ककती हैं, योजनाएँ तैयार कर सकती हैं परन्तु उनकी योग्यता की कसौटी यही होगी कि उनके राग-रंग को यथासम्भव कोई भाँप न पाये। इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि वे लोग चोरों और बटपारों का जीवन व्यतीत करें, कदापि नहीं। इसका उद्देश्य केवल यही है कि मनसा, वाचा कर्मणा—वे अपने राग-रंग का यथा-सम्भव प्रचार न होने दें। इस व्रत के पालन से अनेक सुविधाएँ प्राप्त होती हैं परन्तु उनमें सबसे उपयोगी यह है कि परिवार के वे दम्पति जो किसी कठिनाई वश अपने राग-रंग को स्थगित करने अथवा न करने के लिए विवश हैं, उत्तेजित और अव्यवस्थित नहीं हो पाते। स्मरण रहना चाहिए कि 'प्रसव' में बड़ी पीड़ा होती है—फलतः किसी के इस अवसर पर ऐसे लोग उतना दुखी नहीं हो पाते जितना कि उसके राग-रंग को देख अथवा जान कर।

'त्याग-प्रधान' संस्कृति में सम्पन्न व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का ऐसा व्यवहार होना चाहिए कि साधन-हीन लोग यथा-सम्भव दुःखी न हो सकें।

वृद्ध और वृद्धाओं की सेवा की रूप-रेखा परिवार के विभिन्न सदस्यों की योग्यता, आवश्यकता, परिस्थिति, आदि पर निर्भर होगी। साधारण रूप में परिवार के वृद्धों और वृद्धाओं का झुकाव उन्हीं कामों में होता है जिनमें कि परिवार के प्रौढ़ और वयस्क लगे रहते हैं। फलतः इस सेवा के माध्यम से महिलाओं को हर प्रकार के कार्यों का निश्चिन्त अनुभव होगा। इसका सारा सौन्दर्य इसी 'निश्चिन्त' शब्द में निहित है। पाश्चात्य परम्परा की देखा-देखी सभी लोग आजकल अपनी-अपनी पत्नियों को साथ लिये हैं। इन महिलाओं को विभिन्न कार्यों के अनुभव तो होते हैं परन्तु उन्हें 'निश्चिन्त' कदापि नहीं कहा जा सकता। इसके आजकल अनेक कारण बताये जा रहे हैं परन्तु सबसे प्रधान कारण है 'सांस्कृतिक संघर्ष' अर्थात् इस प्रकार के जीवन के लिए परम्परा और वातावरण (विशेषतया जलवायु सम्बन्धी) से मान्यता प्राप्त नहीं है। अधिक सम्पर्क से मत-भेद अवश्यम्भावी है और अन्य गुत्थियों से इसका उग्र रूप होते ही पति-पत्नी तुरन्त धर्म, अतीत आदि से अपने मति की पुष्टि करने के लिए विवश और आतुर होते हैं। परन्तु इसमें आश्चर्य ही क्या कि तिरस्कृत धर्म, अतीत, आदि उनकी थोड़ी-बहुत सहायता भी नहीं कर पाते। 'धोबी' को न दूसरा जानवर और न 'गदहे' को दूसारा मालिक की कहावत प्रमाणित करते हुए शाम को लोग फिर मेल-जोल कर लेते हैं। दूसरे शब्दों में, आरम्भ से ही 'मालकिनें' बन जाने के कारण वर्तमान भारतीय महिलाओं का जीवन कई प्रकार की गुत्थियों से उत्तरोत्तर संतप्त हो जा रहा है।

वर्तमान काल में तीस वर्ष की अवस्था तक उपर्युक्त प्रकार का जीवन बिताने में भारतीय महिलाओं को विशेष कठिनाई न होगी। शिक्षा की रूप-रेखा जब सुधर जायगी और भक्ति-मूलक अभ्यासों को प्रोत्साहन मिलेगा तो ऐसे वातावरण का निर्माण होगा कि भारतीय महिलाएँ स्वतः उपर्युक्त व्यवहारों के लिए उत्सुक तथा प्रेरित होंगी। गुरुजन-सेवा का यह तात्पर्य नहीं है कि प्रत्येक दशा में पति-पत्नी को तीस वर्ष की अवस्था तक अलग रहना अनिवार्य है — कदापि नहीं। अलग रहना अथवा साथ-साथ रहना लोगों के स्वभाव, परिस्थिति, व्यवसाय, आदि पर निर्भर रहेगा। इस संसार में एवं भारतवर्ष में हर प्रकृति के लोग होते हैं। कुछ लोग संयोग में ही अर्थात् अनुराग के ही माध्यम से ऊँचे-ऊँचे कार्य करने में सफल हो पाते हैं। हो सकता है कि इस स्वभाव के लोगों के प्रति हमारी परम्परा विधिवत् उदार भले ही न रही

हो परन्तु हमारे प्राचीन और मध्यकालीन समाज में ऐसे अनेक विख्यात व्यक्ति हो चुके हैं। चकवा-चकई की भाँति रोते-विलपते अलग-अलग रहने में हित के बजाय अहित की सम्भावना अधिक होती है। सब कुछ उद्देश्य पर निर्भर होता है। यदि हमारे उद्देश्य और दृष्टिकोण में समुचित सुधार हो जाय तो सात-समुद्र पार जाकर साथ-साथ रहते हुए भी पति-पत्नी वहीं से अपने गुरुजनों, परिवार तथा अपनी जन्म-भूमि की विधिवत् सेवा कर सकती हैं। परन्तु किसी भी देश और समाज में ऐसे दृढ़ तथा सुसंस्कृत लोग इने-गिने होते हैं जो किसी भी विदेशी संस्कृति के सुन्दर से सुन्दर जलाशय में कमल का सा व्यवहार कर सकें।

सुदृढ़ तथा सुसंस्कृत व्यक्तियों के इने-गिने होने ही के कारण प्रत्येक समाज और देश के कर्णधारों और संस्थापकों ने अपनी संस्कृति और परम्परा की रक्षा के लिए ऐसे-ऐसे नियमों का निर्माण किया है जिनका पालन करने से सर्व साधारण लोग भी समाज के लिए उपयोगी हो जाते हैं। मनुष्य होने के नाते उच्च से उच्च कोटि के लोगों में भी कुछ न कुछ दोष रही जाते हैं। मुद्रण-कला के विकास से जहाँ अनेक लाभ हो रहे हैं वहाँ सबसे बड़ा घाटा यह हो रहा है कि केवल अपने ही देश के विभिन्न काल के महापुरुषों के नहीं प्रत्युत अन्य देशों की विभूतियों के जीवन-वृत्तान्त एवं उनके दोष लोगों को सुलभ हो गये हैं। फलतः निम्न से निम्न कोटि का मनुष्य भी अपने सभी दोषों की पुष्टि एवं उपयोगिता पाकर फूला नहीं समाता। अन्य लोग भी उसका आवश्यक तिरस्कार करने का साहस नहीं कर पाते। यहाँ पर दो बातें विचारणीय हैं। प्रथम तो यह है कि महान विभूतियों में दोष और गुण का वही अनुपात प्रायः रहता है जो कि गुलाब के फूल में काँटे और सुगन्ध का। दूसरे, किसी निम्न कोटि के व्यक्ति के सभी दोषों की प्रमाणिकता या पुष्टि किसी एक ही महान व्यक्ति की जीवनी से कदापि नहीं हो पाती। संक्षेप में महान व्यक्ति सर्वदा अपने दोषों के ऊपर रहते हैं परन्तु साधारण तथा निम्न कोटि के लोग उनसे घिरे तथा उनमें लिप्त रहते हैं।

१६ मई सन् १९५७ को प्रयाग के राजकीय उद्यान में अमर शहीद चन्द्रशेखर 'आजाद' की मूर्त्ति का बड़े समारोह के साथ उद्घाटन हो रहा था। संयोगवश गुप्तचर विभाग के अवकाश-प्राप्त कोई वृद्ध सज्जन हम लोगों के निकट आगये। उनकी आकृति से यही पता चलता था कि वे कुछ कहने के लिए व्यग्र तथा आतुर हैं। उन्होंने तुरन्त कहा—

"समय बड़ा प्रबल है। इन्हीं आँखों से मैंने वह भी देखा था और यह भी देख रहा हूँ। सन् १९३१ ई० में इसी स्थान पर वे वन्य पशुओं की भाँति घेर कर मारे गये थे और आज............।"

इतना कहते-कहते उनका गला रुँध गया और वे कुछ क्षण तक मौन रहे। स्वर्गीय चन्द्रशेखर जी की उन्होंने कई अनोखी विशेषताएँ बताईं। साधारण तथा निम्न कोटि के लोग शासन, समाज, कानून, आदि के प्रतिकूल भगकर जब कहीं पहुँचते हैं तो वे वहीं के हो जाते हैं। इस प्रकार के लोगों को प्रायः किसी स्वार्थ-सिद्धि के निमित्त भगना पड़ता है और उसकी न्यूनाधिक पूर्ति सर्वत्र हो जाती है। फलतः उन्हें लौटने का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु परमार्थ में तल्लीन महान व्यक्तियों के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं हैं।

मनुष्य ज्यों-ज्यो स्वार्थ में लीन होता है त्यों-त्यों उसका आत्म-बल क्षीण होने लगता है परन्तु परमार्थ में अग्रसर होने पर उसी अनुपात से बढ़ता जाता है। इसी आत्म-बल की घटती-बढ़ती पर निम्नता या उच्चता निर्भर है। उस समय (फरवरी १६३१) चन्द्रशेखर जी को प्रयाग में एकत्र नेताओं से परामर्श करना परमावश्यक था। वे यह भी जानते रहे होंगे कि ऐसे अवसरों पर उन्हें पकड़ने के लिए पुलीस कितनी सावधान तथा तत्पर रहेगी। उद्देश्य की महानता और पवित्रता से आत्म-बल उनमें असीमित था। कर्तव्य की पूर्त्ति के लिए वे प्रयाग आये और वीर-गति को प्राप्त हुए। 'आजाद' जी की जीवनी पढ़ कर यदि कोई डाकू या चोर या हत्यारा अपना छिपना, भगना, आदि प्रमाणित करे तो कहाँ तक न्यायसंगत हो सकता है? खेद है कि व्यावहारिक जीवन के अस्त-व्यस्त हो जाने से अपने दोषों को यथासम्भव छिपाने अथवा महान लोगों की जीवनी से उपयोगी प्रमाणित करने में हम लोग आजकल अधिकाधिक प्रयत्नशील हैं।

किसी की सेवा करने का मूल उद्देश्य उसे यथासम्भव हर प्रकार से सन्तुष्ट रखना होता है। अपनी संस्कृति की कुछ ऐसी विशेषता है कि हमारे गुरुजन इस वर्तमान वातावरण में तिरस्कृत होने पर भी अपनी सन्तानों को विधिवत् पुष्पित तथा विकसित देखना चाहते हैं। यदि नवयुवकों और नवयुवतियों के विचार सुसंस्कृत हो जायँगे तो उनके गुरुजन अपनी ही सन्तुष्टि के लिए उनमें अधिक वियोग न होने देंगे। यह अनुराग अधिक उपयोगी तथा कल्याणकारी इस लिए होगा कि इसकी स्वीकृति गुरुजनों से प्राप्त रहेगी। दूसरे शब्दों में इसके आधार सेवा, परमार्थ, त्याग, आदि रहेंगे और ऐसा होने से दम्पतियों के आत्म-बल में उत्तरोत्तर वृद्धि होगी। पाश्चात्य परम्परा का अनुकरण करके आज कल के भारतीय पति-पत्नी जो इतने निकट हो गये हैं उसमें स्वार्थ की दुर्गन्ध है। वातावरण और परम्परा से पुष्टि न होने ही के कारण इन लोगों का जीवन विधिवत् सुखी तथा सम्पन्न नहीं है। पूर्व-

जन्म और पुनर्जन्म के प्रतिपादन से मानव का मानव के प्रति एवं सभी जीवों के प्रति जितना स्वाभाविक स्नेह हमारी परम्परा में था सम्भवतः उतना अन्यत्र नहीं है। यदि ध्यान से विचारा जाय तो भारतीय महिलाओं के तीस वर्ष की अवस्था तक सेवा-धर्म-पालन से उनके अनुराग का क्षेत्र अधिक व्यापक तथा विस्तृत हो जायगा।

भारतीय आदर्शों के अनुसार महिलाओं को शासन, व्यापार, प्रचार आदि कार्यों में नहीं लगना चाहिए। परन्तु देश, काल और पात्र के सिद्धान्त के अनुसार कुछ न कुछ महिलाओं को इन नवीन परिस्थितियों में लगना ही पड़ेगा। कन्याओं का अध्यापन तो बहुतअंशों में यथासम्भव इन्हीं लोगों को करना पड़ेगा। परन्तु ऐसी महिलाओं को भी उसी प्रकार गुरुजन-सेवा-धर्म का पालन करना पड़ेगा। इनकी सेवा की मात्रा और रूप-रेखा में परिस्थितियों के अनुसार कुछ हेर-फेर भले ही हो जाय परन्तु सिद्धान्त में कोई व्यतिक्रम नहीं हो सकता। ऐसी महिलाओं के गुरुजनों की संख्या विस्तृत हो सकती है। उनका दायित्व अपेक्षाकृत कुछ अधिक कठोर परन्तु रोचक होगा उनकी सेवा का क्षेत्र परिवार तक ही सीमित नहीं रहेगा। फलतः उनका दायित्व कठोर होगा। चूँकि व्यक्तियों की अपेक्षा सिद्धान्तों की रक्षा उन्हें अधिक करनी पड़ेगी, फलत उनका कार्य रोचक और सजीव होगा। महिलाओं में माया का रूप प्रत्यक्ष होने से उन्हें परिवारेतर व्यवहारों और दायित्वों में अधिक हाथ बँटाना उचित नहीं। व्यक्तियों को तो परिस्थिति के अनुसार अपनी सेवाओं से वे तुष्ट कर सकती हैं परन्तु सिद्धान्तों की रक्षा उनके लिए साधारणतः सम्भव नहीं है। कन्याओं का शिक्षण तो ये महिलाएँ सुविधापूर्वक इसलिए कर पायेंगी कि उनके पाठ्य-क्रम में पर्याप्त हेर-फेर हो जायगा। इस प्रकार सिद्धान्तों की रक्षा में निहित रोचकता और सजीवता के आनन्द-अनुभव का उसके सम्बन्ध में प्रश्न ही नहीं उठता।

महिलाओं की साधारण स्थिति यही है। जिस प्रकार पुरुषों का रङ्ग-रूप पूर्ण रूप से प्राप्त करने पर भी कुछ पुरुष कभी-कभी पुरुषोचित स्वभाव से वंचित रहते हैं उसी प्रकार कुछ महिलाएँ भी ऐसी ही होती है। ऐसे लोगों का दाम्पत्य जीवन भी ठीक ही रहता है और प्रचुर संख्या में उनके सन्तानें भी उत्पन्न होती हैं। परन्तु इनके हाव-भाव, अंग-संचालन, चाल-ढाल, आदि लिंगानुकूल प्रायः नहीं होते। इनके व्यवहार में यदि पुरुष हैं तो दृढ़ता, धैर्य, त्याग, उदारता, आदि पुरुषोचित गुणों का और यदि महिला हैं तो कोमलता, संकोच, सेवा-भाव, आदि का अभाव सा रहता है। इस प्रकार की महिलाओं

में यदि अन्य अपेक्षित विशेषताएँ विद्यमान हों तो शिक्षण के अतिरिक्त अन्य विभागों में भी उन्हें नियुक्त किया जा सकता है। इनकी शिक्षा-दीक्षा आरम्भ से ही प्रायः उसी रूप की होनी चाहिए जैसी कि पुरुषों के लिए हो। यह उल्लेख प्रसङ्गवश कर दिया गया है कि अन्यथा भारतीय महिलाओं को साधारणतः परिवार और शिक्षा-संस्थाओं तक ही अपने को सीमित रखना चाहिए। यदि परिवार और शिक्षा-संस्थाओं की सेवा सुचारू रूप से की गई तो भारतवर्ष के पुनरुत्थान में भारतीय महिलाओं का योग अन्य देशों की तुलना में अद्वितीय होगा। सामूहिक परिवारों में इस दायित्व का सम्पादन सुगम नहीं। इसकी पूर्ति में पर्याप्त तत्परता, त्याग और सावधानी से अग्रसर होना पड़ेगा।

गुरुजनों के अन्तर्गत माता, पिता, दादी, नानी, दादा, नाना, जेठानी, जेठ, आदि, अनेक लोग आते हैं। विशेष परिस्थिति में महिलाओं को अपनी माता-पिता की भी देख-रेख करनी पड़ सकती है। हो सकता है कि कुछ गुरुजन अवस्था में छोटे भी हों। अधिक अवस्था वाले गुरुजनों का विवेक कभी-कभी कुण्ठित हो जाता है। उन्हें सन्तुष्ट रखने में अनेक बाधाएँ खड़ी हो सकती हैं। कुछ वृद्ध-वृद्धाएँ स्वभाव से ही उग्र होती हैं। कुछ गुरुजन मादक पदार्थों का सेवन करने वाले अथवा किसी अन्य छोटे-मोटे दुर्व्यसन के आदी हो सकते हैं। इस प्रकार महिलाओं को अत्यन्त धैर्य के साथ कार्य करना पड़ेगा। गुरुजन-सेवा पुरुषों का भी दायित्व है परन्तु अधिकांश गुरुजनों के घर में ही रहने के कारण इसका पूर्ण भार महिलाओं पर ही पड़ता है। अधिकाधिक त्याग और कर्तव्यपरायणता के आधार पर हमारी महिलाएँ इस व्रत में अवश्य सफल हो सकेंगी। वर्तमान काल में अधिकांश गुरुजनों का इतना अधिक तिरस्कार हो रहा है कि उपर्युक्त बातें लोगों को केवल आदर्श-मात्र प्रतीत हो सकती हैं। भक्ति-मूलक शिक्षा का पुनरुत्थान हो जाने पर ये अभ्यास सुगम तथा स्वाभाविक प्रतीत होंगे।

गुरुजन-सेवा के प्रसङ्ग में भारतीय महिलाओं को उनकी आवश्यकताओं की यथासम्भव पूर्ति प्रसन्नता-पूर्वक करनी पड़ेगी। वाता-वरण के सुधर जाने पर इस सीमा तक अधिकांश महिलाएँ सुविधा-पूर्वक पहुँच जायँगी। उपयोगी और अनोखी सेवाएँ उन महिलाओं की सिद्ध होंगी जो अपने विवेक-पूर्ण व्यवहार से गुरुजनों को दुर्व्यसन, कुटेवों, आदि के प्रति क्रमशः उदासीन करती जायँ। कहा जाता है कि कांग्रेस को इतना ऊँचा योग देने की प्रेरणा स्वर्गीय पं० मोती लाल जी को अपने अद्वितीय पुत्र पंडित जवाहर लाल जी ही से मिली थी। अपने सादे, ऊँचे, त्याग-पूर्ण, जीवन द्वारा महिलाएँ गुरुजनों

को सुधार की ओर प्रेरित कर सकती हैं। इस व्रत में पूर्ण रूप से सफलता बहुत कम महिलाओं को मिल सकेगी परन्तु परिस्थितियों के अनुसार सभी को थोड़ा-बहुत इस ओर अग्रसर और प्रयत्नशील होना चाहिए। सेवा के इस रूप से गुरुजनों का स्वास्थ्य, आदि तो सुधर जायगा ही; साथ ही परिवार के शिशुओं का सर्वाधिक कल्याण होगा। माता-पिता की अपेक्षा उनके गुरुजनों के सम्पर्क में भारतीय बच्चे इस वर्तमान दशा में भी अधिक रहते हैं। बच्चों के अनुकरण-प्रिय होने के कारण कतिपय कुटेव गुप्त रूप में बच्चों द्वारा अपनाये जा सकते हैं।

गुरुजन-सेवा में एक बात का ध्यान और होना चाहिए कि माता-पिता की अपेक्षा चाची-चाचा का ध्यान अधिक रखना चाहिए। इसका संकेत पिछले अध्यायों में भी यथा-स्थान हो चुका है। ऐसा करने से किसी को न तो कोई असुविधा होगी और न किसी का काम रुकेगा। बड़े परिवार में किसी न किसी के चाची-चाचा सभी लोग हो जायँगे। हाँ, सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि पशुता से मनुष्यता की ओर अग्रसर होने में एक ऊँची सीढ़ी स्वतः पार हो जायगी। इस प्रकार व्यवहार करने से प्रकृति-सृजित अन्तर को अनायास ही मिटाया जा सकता है। इस देश के लिए यह व्यवस्था नवीन नहीं है। लगभग पचास वर्ष पूर्व तक अनेक ऐसे भारतीय परिवार मिल सकते थे जिनमें इसी आदर्श का पालन होता था। आजकल भी नखलिस्तान की भाँति कहीं-कहीं ऐसे परिवार मिल ही जाते हैं। भतीजी के पाणि-ग्रहण के सम्बन्ध में एक ऐसे ही परिवार के सम्पर्क में मैं आया। ईश्वर की कृपा से वे लोग तन, मन, धन, आदि सब कुछ से सम्पन्न हैं। भतीजी के पिता जी मेरे सगे भाई ही नहीं है (मैं अकेला हूँ) प्रत्युत गोत्र में भी भिन्न हैं। परन्तु गाँव में मकानों के बिलकुल मिला हुआ होने से हम लोग बचपन से ही अभिन्न मित्र हैं और आपस में सहोदर ही का सा व्यवहार है। लाड़-प्यार के आधिक्य से वे कुछ अधिक पढ़-लिख न सके और मेरे शिक्षा-विभाग में लग जाने पर वे भी पुलीस में सिपाही हो गये और आज भी हैं। अपनी जन्म-जात विशेषताओं तथा हम लोगों के सम्पर्क से पुलीस में होते हुए भी वे लोगों के साथ यथा-सम्भव अच्छा व्यवहार करते हैं।

सन् १९४२ की हलचल में उपर्युक्त परिवार के एक सदस्य और हमारा यह भाई एक-दूसरे से बहुत प्रभावित हुए थे। इसी आधार पर सर्व प्रथम हम दोनों उन्हीं के पास गये। संयोगवश परिवार के जिस लड़के के ब्याह की बारी थी वह उन्हीं का एकलौता पुत्र है। १९४२ को बीते तो ८-१० वर्ष

हो चुके थे परन्तु बाबू साहब हम दोनों से जिस स्नेह से मिले उसमें किसी पूर्व-कृतज्ञता की झलक स्पष्ट थी। मेरे मन में उनके प्रति श्रद्धा हुई। लड़की की शिक्षा के सम्बन्ध में उन्होंने पूछा। मैंने कहा कि उसे जूनियर हाई स्कूल पास किये एक वर्ष हो गया। उन्होंने फिर कहा कि उसे और पढ़ाइए। मैंने कहा कि लड़कियों को यह वर्तमान शिक्षा अधिक देना सम्भवतः उपयोगी नहीं। किसी शिक्षक के मुँह से ऐसा सुनकर वे कुछ समय तक मौन रह गये। उन्होंने फिर कहा कि इनसे (भाई से) सम्बन्ध स्थापित करने में मुझे अपार आनन्द होगा परन्तु पिताजी और भाइयों के सम्मुख अपने ही पुत्र के ब्याह के सम्बन्ध में मैं कुछ भी नहीं कह सकता; हाँ भतीजों में से कोई भी होता तो मैं अवश्य कर लेता। हम लोगों को उन्होंने अपने पिताजी तथा छोटे भाई-प्रिंसिपल साहब के पास जाने को कहा। वे कुल चार भाई हैं—दो बड़े भाई दो गाँवों में कृषि की देख-रेख करते हैं। पिताजी के पथ-प्रदर्शन में प्रिंसिपल साहब ही परिवार की व्यवस्था करते हैं। इस बात-चीत से भाई तो कुछ चिन्तित हुआ परन्तु मुझे बड़ा सन्तोष हुआ। हाँ, सन् १६४२ की ही हलचल में उस क्षेत्र के एक अत्यन्त सम्मानित मिश्रजी भाई से बहुत प्रभावित हुए थे। उनकी बाबू साहब से भी पूरी दोस्ती थी। वे तथा उनके पुत्र वकील साहब इस कार्य में हम लोगों की वास्तविक सहायता कर रहे थे और प्रायः वे लोग बाबू साहब से निवेदन करते रहते थे।

कुछ समय के उपरान्त हम लोग प्रिंसिपल साहब और उनके पिता जी से मिले और कुछ ऐसे ढंग से बात-चीत हुई कि पूर्ण विश्वास हो गया कि सम्बन्ध शीघ्र ही स्थापित हो जायगा। परन्तु यह विदित होते ही कि वे लोग लड़के का व्याह कर रहे हैं कुछ सगे-सम्बन्धी लोगों ने दबाव डाल कर उसका (लड़के का) 'वर-रक्षा-संस्कार' अन्यत्र करवा दिया। प्रिंसिपल साहब ने हम लोगों को उससे कुछ छोटे लड़के का व्याह करने को कहा। चूँकि बड़े लड़के का केवल 'वर-रक्षा' संस्कार कराकर व्याह एक वर्ष के लिए टाल दिया गया था अस्तु हम लोग भी जान बूझकर मौन हो गये। बाबू साहब, प्रिंसिपल साहब, उनके पिता जी तथा अन्य भाइयों के पास जोगियों की भाँति हम लोग फेरी लगाया करते थे। वकील साहब प्रायः हमलोगों के साथ रहते थे। बाबू साहब की प्रेरणा से भतीजी को पढ़ाने के विचार से मैं अपने साथ रखने लगा। एक तो उसकी पढ़ाई छूटे डेढ़ वर्ष से अधिक हो गया था और दूसरे बिना किसी उद्देश्य के उसे स्कूल भेजना मुझे स्वीकार न था। हाई स्कूल की अग्रिम

परीक्षा के लिए प्राइवेट विद्यार्थिनी के रूप में घर पर ही उसकी पढ़ाई आरम्भ हुई। वर्तमान शिक्षा की उपयोगिता में विश्वास न होने से मैं अपने बच्चों की शिक्षा के प्रति कुछ उदासीन सा रहा और इससे वे सभी पढ़ने में अच्छे नहीं है। भतीजी का भी पथ-प्रदर्शन मैं समुचित रूप से न कर सका और वह बिचारी परीक्षा में असफल रही। उसकी असफलता से कष्ट तो मुझे भी हुआ परन्तु मैंने निर्णय कर लिया था कि उस परिवार में सम्बन्ध हो जाने पर ही उसे विद्यालय भेजूँगा।

परिस्थितियों में ऐसा हेर-फेर हुआ कि उस छोटे लड़के का भी व्याह अन्यत्र करने के लिए प्रिंसिपल साहब विवश हुए और वह सम्बन्ध बड़ी ही शीघ्रता में सुसम्पादित भी हो गया। बड़े लड़के का 'वर रक्षा-संस्कार' अन्यत्र हो ही चुका था और छोटा लड़का इस प्रकार उठ गया। अन्य लड़के अधिक छोटे थे। लग-भग दो-ढाई वर्ष के प्रयत्न पर पानी फिर गया। उधर भतीजी भी परीक्षा में में असफल हो चुकी थी। फिर क्या था! गाँव हमारा भी वैसा ही है जैसा कि अन्य वर्तमान गाँव हैं; तरह-तरह की टीका-टिप्पणी होने लगी। भतीजी के मामा ने कहा कि "लड़की के व्याह के लिए पचास घर देखा जाता है परन्तु होता है एक ही स्थान पर। ये लोग (मैं और भाई) व्यर्थ में एक ही स्थान पर अड़े हुए हैं। जब तक मास्टर का (मेरा) हाथ रहेगा तब तक लड़की का (भतीजी का) व्याह हो ही नहीं सकता।" हमें और भाई को बहुत कुछ सुनना और सहना पड़ा। अन्य-अन्य स्थानों के प्रस्ताव होने लगे। केवल मिश्रजी और वकील साहब सच्चे हृदय से हम लोगों का साथ दे रहे थे। मेरी विवशता यह थी कि अपने आन्तरिक और शुद्ध आदर्शों के अनुरूप उस परिवार का व्यवहार होने से उससे हटने में मैं असमर्थ था। संयोगवश बड़े लड़के की 'वर-रक्षा' करने वाले महाशय इस विलम्ब से ऊब रहे थे। वह 'वर रक्षा-संस्कार' रद्द हो गया। बड़े लड़के के इस प्रकार खाली हो जाने से हम लोग फिर प्रयत्नशील हुए। कुछ अन्य लोग फिर उसके व्याह के लिए आये-गये परन्तु हमलोगों के सत्याग्रह का समाचार पाते ही वे कृपया हट जाते थे।

विविध वाद-विवाद; शास्त्रार्थ, आदि के उपरान्त चौथे वर्ष उसी बड़े लड़के के साथ भतीजी का सम्बन्ध स्थापित हुआ। वाद-विवाद का मूलाधार यही था कि शीघ्रता में छोटे लड़के के उठ जाने पर उसी बड़े लड़के का सम्बन्ध हमारे यहाँ हो सकता था। भाई के सिपाही होने से बाबू साहब (विधिवत् परिचित होने से) जितने ही अनुकूल थे उनके पिता जी, प्रिंसिपल साहब, आदि (अपरिचित होने से) उतने ही हिचकते थे। बड़ा लड़का

बाबू सहब का ही पुत्र था अस्तु भाई की विशेषताओं को उन लोगों तक विधिवत् पहुँचाने में वे संकोच करते थे। इसी संकोच एवं 'आदर्श-पालन' में अधिक समय व्यतीत हुआ। उन लोगों को ज्यों ही स्पष्ट संकेत मिला कि बाबू साहब इस सम्बन्ध को वास्तव में चाहते हैं, वे सब लोग सहर्ष तैयार हो गये। परन्तु सम्बन्ध निश्चित होने से कुछ ही दिन पूर्व एक ऐसी बात कह दी गई कि विवाहोत्सव में मिश्र जी तथा वकील साहब उपस्थित न हो सके थे; इसका मुझे आजीवन खेद रहेगा। व्याह और बारात के अवसर पर उस परिवार ने जिस उदारता, सज्जनता, सहनशीलता और मनुष्यता का परिचय दिया उसका चित्रण कठिन है। लड़की वाले लोग चाहे कितनाहूँ सावधान और तैयार क्यों न हों परन्तु जब तक लड़के वालों का सहयोग और उनकी कृपा न हो तबतक कोई भी विवाह आनन्द पूर्वक सम्पादित कदापि नहीं हो सकता। उन लोगों की सादगी और सहानुभूति से किसी ऐसे वातावरण का निर्माण उस समय होगया था जिसमें हम लोगों को पता ही न चला कि लड़की का व्याह ऐसे परिवार में हो रहा है जो लोग हम लोगों से हर प्रकार से बहुत ऊँचे हैं।

किसी इतनी व्यक्तिगत घटना का उल्लेख यहाँ योंही नहीं किया गया है। यदि ध्यान से देखा जाय तो इस पुस्तक के कई सिद्धान्त इसमें प्रत्यक्ष रूप में निहित हैं। भाई इस कठिन व्रत में इसलिए अड़ा रहा कि उसे मुझ पर पूर्ण विश्वास है। मैं इसलिए टिका रहा कि मेरे सिद्धान्तों और विचारों की घोर परीक्षा थी। बाबू साहब क्रमशः इसलिए दृढ़तर होते गये कि वे एक प्रकार से बचनबद्ध थे। प्रिंसिपल साहब, उनके पिता जी, आदि इसलिए हिचकते थे कि बाबू साहब ने उन लोगों को अपने निर्णय से यथा-समय अवगत नहीं कराया था। वास्तव में बाबू साहब को आरम्भ में कुछ करने की आवश्यकता ही न थी। धनी-मानी लोगों के दबाव से जब बड़े लड़के का 'वर रक्षा-संस्कार' स्वीकार कर लेने के लिए प्रिंसिपल साहब, आदि विवश हुए थे तो उन्होंने स्वयं कहा था कि छोटे लड़के का सम्बन्ध हमारे यहाँ होगा। बाबू साहब इसी छोटे लड़के के लिए वचन-बद्ध थे। छोटे लड़के से उचित अवधि के अन्तर्गत सम्बन्ध न कर लेने का हठ और अपराध मेरा था। मैंने भी जान-बूझ कर यह भूल नहीं की थी। उन लोगों की सजन्नता में मेरा अटल विश्वास था और है। मैं उन लोगों से निवेदन करता था कि हम पहले के आये हुए हैं अस्तु बड़ा लड़का हमें दीजिए और छोटा उन सज्जन को जिन्होंने कि दबाव द्वारा बड़े को ऐंच लिया है। मेरे इस अनुरोध से वे सभी लोग प्रभावित होते थे और कभी-कभी

उनकी आकृतियों से धर्म-संकट स्पष्ट झलकता था। यही उन लोगों की विशेषता है और इसी पर मैं मुग्ध हूँ। मैंने यही सोचा था कि बड़े लड़के का सम्बन्ध वहाँ स्थापित हो जाने पर छोटे लड़के को स्वीकार कर लूँगा यद्यपि पहले पहुँचने पर भी पहले लड़के को न पा सकने का आघात मेरे हृदय पर आजीवन बना रहता।

यदि छोटा लड़का शीघ्रता में न उठ गया होता तो उस परिवार की विशेषताओं की पूरी परीक्षा न हो पाती। भारतीय संस्कृति की आंशिक रक्षा वहाँ पर उसी महान वृद्ध पिता जी की निजी विशेषताओं के फल-स्वरूप है। उनके सभी बच्चे स्वस्थ, सुशील, तथा सुसंस्कृत हैं। उस वातावरण में पल कर उन बेचारों को इस वर्तमान शिक्षा में अच्छे होने का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु इतना निश्चय है कि जिस समय भारतवासी अपनी वास्तविक भारतीयता की ओर लौटेंगे तो उस समय उस परिवार का बच्चा-बच्चा (वर्तमान परीक्षाओं को किसी भी श्रेणी में पास करते हुए) उसमें समुचित और ठोस योग देगा। डर यह है कि अन्य परिवारों से आई हुई नव-वधुओं से उस परम्परा को धक्का पहुँच सकता है। उस विषम परिस्थिति में ज्यों-ज्यों सम्बन्ध स्थापन की आशा बढ़ती जाती थी त्यों-त्यों मैं मन ही मन दृढ़-प्रतिज्ञ होता गया कि भतीजी को अधिक से अधिक ऊँची शिक्षा दूँगा। वह पढ़ेगी तो इन्हीं स्कूल-कालेजों में परन्तु यथासम्भव मेरे विचारों को ग्रहण करती चलेगी। अपने पूर्व निर्णय के अनुसार विवाहोपरान्त उसे विद्यालय भेजता हूँ। अभी मुझे अधिक सन्तोष नहीं है। समय के हिसाब से तो वह बहुत ही अच्छी लड़की है परन्तु मेरी सब बातों में उसका विश्वास कम जमता है। मेरी आज्ञा से वह सर्वदा सफेद धोती पहन कर विद्यालय जाती है। एक बार धोबी के आने में असाधारण विलम्ब हुआ। मेरे कहने से कुछ गन्दी सी सफेद धोती पहन कर विद्यालय चली तो गई परन्तु लौटने पर माताजी से (मेरी पत्नी से) उसने कहा "अम्मा जी! स्कूल में सभी लड़कियाँ रंग-बिरंग की धोतियाँ पहनती हैं।"

उपर्युक्त घटना के उल्लेख से विषयान्तर दोष इसलिए नहीं लगना चाहिए कि विश्वास, कृतज्ञता, वचन-पालन, आदर्श-पालन, धर्म-रक्षा, आदि का इतना प्रत्यक्ष और सजीव उदाहरण वर्तमान भारतवर्ष में अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। रुपये के नाम पर विवाहों के कटने-छँटने के उदाहरण तो घर-घर और गाँव-गाँव में मिल सकते हैं परन्तु इस प्रकार के नहीं। फलतः अपने की अपेक्षा यदि हम दूसरों का कल्याण करें तो अपने हितों की रक्षा स्वतः हो

जाती है। अपने से अपना कल्याण हो तो जाता है परन्तु उसमें एक बड़ा दायित्व और बढ़ जाता है; अपने ही से अपने हितों की रक्षा भी करनी पड़ती है। जहाँ हर एक व्यक्ति का उद्देश्य परोपकार है वहाँ रक्षा करने का प्रश्न ही नहीं उठता। महिलाओं की सेवा की रूप-रेखा कुछ विस्तृत अवश्य हो गई परन्तु इससे बातें स्पष्ट हो गई हैं। इन लोगों में जब तक सच्चा सेवा-भाव अंकुरित और विकसित न होगा तब तक भारतीयता का पुनरुद्धार सम्भव नहीं। मध्यकाल ही से हमारी महिलाओं की स्थिति में कुछ ऐसे विकार उत्पन्न होने लगे कि आज दिन यही नहीं कि उनसे भारतीयता को योग नहीं मिल रहा है प्रत्युत (पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से) प्रत्यक्ष और परोक्ष—दोनों प्रकार से उसे क्षति पहुँच रही है। उपर्युक्त परिवार में भारतीयता की आंशिक रक्षा इसीलिए हो पा रही है कि भिन्न-भिन्न परिवारों से आई हुई महिलाओं को पारिवारिक व्यवस्था में आवश्यकता से अधिक हस्तक्षेप नहीं करने दिया जाता परन्तु साथ ही वह रक्षा भी आंशिक इसीलिए रह गई है कि उसको परिवार की महिलाओं से समुचित योग नहीं मिल पाता। यदि उस परिवार की व्यवस्था में महिलाओं का भी समुचित सहयोग रहा होता और इधर हम लोगों की महिलाएँ हम पर आवश्यकता से अधिक हावी न होती तो उपर्युक्त सम्बन्ध-स्थापन में न तो इतना विलम्ब हो पाता और न कई अप्रिय तथा कड़े-कड़े वाद-विवाद के ही अवसर आते और न मिश्र जी तथा उनके सुपुत्र वकील साहब विवाहोत्सव से तटस्थ हो ही पाते।

समय की पुकार, अपनी योग्यता तथा समाज की आवश्यकता के अनुसार जो महिलाएँ परिवार से बाहर शिक्षा संस्थाओं अथवा अन्य विभागों में लगेंगी इनका भो दायित्व तीस वर्ष की अवस्था तक सेवा ही होगा। अंग्रेजी के 'सर्विस' शब्द का अनुवाद भी सेवा ही किया गया है। यहाँ तात्पर्य उस सेवा से नहीं है। 'सर्विस' का आधार अनुराग है परन्तु भारतीय सेवा का त्याग। प्रसंगानुसार त्याग और अनुराग के अन्तर पिछले अध्यायों में स्थान-स्थान पर स्पष्ट किये गये हैं। त्याग और सादगी को ये महिलाएँ जितनी शीघ्रता और रुचि से अपनाने का प्रयत्न करेंगी उतनी ही गति से हमारी भारतीयता का पुनरुद्धार होगा। बच्चे और बच्चियों पर जितना प्रभाव उनके शिक्षक और शिक्षिका का पड़ता है उतना अन्य व्यक्तियों का नहीं। इन महिलाओं को सिद्धान्तःकुमारी नहीं होना चाहिए। स्वास्थ्य, आदि के कारण यदि किसी महिला को कुमारी रहना ही पड़े तो उन्हें शिक्षण में नहीं लगना चाहिए। महिलाओं को सेवा और त्याग के लिये पर्याप्त अवसर विवाहित

होने पर मिलते हैं उतने कुमारी रहने पर नहीं। कुमार रहने का स्वांग पुरुष कुछ समय तक रच सकते हैं परन्तु महिलाओं के लिए सम्भव नहीं; उन्हें इसमें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कुमारी शिक्षिकाओं के व्यक्तित्व से प्रतिभा-सम्पन्न लड़कियों के मस्तिष्क में संघर्ष उत्पन्न होता है। अध्ययन-काल तक कन्यायें कुमारी रह सकती है परन्तु यह भी बहुत उपयोगी नहीं।

शिक्षण में लगी हुई महिलाओं की सबसे बड़ी सेवा यही है कि विभिन्न परिवारों से विद्यालयों में आई हुई लड़कियों में एक दूसरे के प्रति सच्ची सहानुभूति उत्पन्न करें। आर्थिक कठिनाइयों से लड़कियों की वेश-भूषा में अन्तर होता है। अपनी वेश-भूषा, अपने विचार, व्यवहार, प्रोत्साहन, आदि द्वारा सादगी का महत्व सब बच्चियों के मन में अध्यापिकाएँ जमा दें तो उनकी सेवा वास्तव में सच्ची और उपयोगी हो जायगी। दूसरे, शारीरिक सौन्दर्य तथा रंग-रूप की अपेक्षा स्वच्छता को अधिकाधिक महत्व देना चाहिए। वर्तमान भारतीय बच्चे-बच्चियों में इसका बड़ा अभाव है। यों इसके बहुत से कारण हैं परन्तु हम अध्यापकों और अध्यापिकाओं की उपेक्षा भी कम नहीं है। भिन्न-भिन्न स्वभाव, स्तर, अवस्था तथा स्थिति की बच्चियों में एक दूसरे के प्रति यदि उदारता और सहनशीलता का भाव विकसित होने लगता तो सामूहिक परिवारों का हम पुनरुद्धार ही नहीं कर पाते प्रत्युत प्राचीन काल से भी अधिक उपयोगी उन्हें बना देते। कहा जाता है कि महिलाएँ जितनी शीघ्रता से जान-पहचान कर लेती हैं उतनी ही शीघ्रता से आपस में लड़ भी जाती हैं। अपने वर्ग पर आरोपित इस दोष को दूर करने में हमारी अध्यापिकाएँ जहाँ तक सफल होंगी वहीं तक उनका सेवा-व्रत सफल माना जायगा। अन्य विभागों में लगने वाली महिलाएँ अपने कार्य को ऐसी सादगी, सचाई, निष्ठा तथा तत्परता से करेंगी कि उनके निर्णय और प्रयत्नों में सन्देह के लिए तनिक भी स्थान न रहे।

प्राचीन व्यवस्था में कर्म के सुसम्पादन के लिए हम लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभक्त थे। शिक्षा की रूप-रेखा उच्च और कठोर होने से केवल ब्राह्मण और कुछ क्षत्रिय (राज-वंश) इसे प्राप्त करते थे। शेष वर्ग के लोग अपनी-अपनी आवश्यकता और क्षमता के अनुसार उन्हीं लोगों के जीवन का अनुसरण करते थे। महिलाओं का अधिकांश समय प्रकृति-प्रदत्त दायित्वों की पूर्ति में लग जाता था—फलतः वे किसी भी वर्ग की क्यों न हों परन्तु सक्रिय रूप से शिक्षा में लगने का उन्हें अवसर ही नहीं मिलता था। हाँ, अपने कु-

परिवार की परम्परा तथा सुविधा के अनुसार कुछ पढ़ती-लिखती थीं। वर्तमान परिस्थिति सर्वदा भिन्न है। इस विशाल राष्ट्र में कई धर्मों के अनुयायी हैं। जाति-पाँति, ऊँच-नीच, राजा-प्रजा, आदि भी वैधानिक रूप से समाप्त हो गये हैं। अब कर्म विशेष का जाति अथवा वर्ग अथवा धर्म विशेष से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है। इस प्रकार 'कर्म' का क्षेत्र प्राचीन काल से बहुत विस्तृत हो गया है परन्तु इस क्षेत्र-विस्तार में घोर अस्वाभाविकता है! इस सम्बन्ध में जितने भी वैधानिक कदम उठाये गये हैं अर्थात् धाराएँ पास की गई हैं अथवा की जा रही हैं वे सभी पाश्चात्य आदर्शों से प्रेरित हैं। दूसरे शब्दों में कर्म का यह क्षेत्र-विस्तार कर्म की प्रगति के उद्देश्य से न होकर व्यक्तियों के उत्कर्ष के विचार से हुआ है। देश, काल और पात्र के सिद्धान्त पर कर्म के इस क्षेत्र-विस्तार को तो हमें सहर्ष स्वीकार ही नहीं करना है प्रत्युत यथा-सम्भव इसे और आगे बढ़ाना है परन्तु उद्देश्य की रूप-रेखा में आमूल परिवर्तन शीघ्रातिशीघ्र आरम्भ करना है।

पाश्चात्य परम्परा में (उसके व्यक्ति-प्रधान होने से) यदि कोई व्यक्ति अपनी रुचि, सुविधा, आदि के अनुसार किसी भी काम में विधिवत् लग जाता है तो साधारणतः उसे सफल नागरिक मानने में किसी को आपत्ति नहीं होती। वे तो रुचि को महत्व देनेवाली परम्परा बड़ी उपयोगी प्रतीत होती है परन्तु व्यक्ति-प्रधान संस्कृति और ज्ञान-मूलक शिक्षा के फलस्वरूप एक तो वहाँ के लोगों की रुचि में साधारणतः दृढ़ता नहीं हो सकती और दूसरे रुचि और योग्यता में सामञ्जस्य नहीं हो सकता। भारतवर्ष की कर्म-प्रधान परम्परा का वैसा तारतम्य कदापि नहीं हो सकता। कर्म के सुसम्पादन के लिए जाति-पाँति अथवा अन्य किसी वर्ग-भेद को तो कोई महत्व न दिया जायगा परन्तु कर्मों का वितरण व्यक्तियों की योग्यता के अनुसार अवश्य होगा। सच्चरित्र तथा प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों को धर्म, उपदेश, शिक्षा, अनुसन्धान, आदि में; व्यवहार-कुशल तथा प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों को राजनीति, शासन आदि में दृढ़ तथा हृष्ट-पुष्ट व्यक्तियों को देश-रक्षा में; अध्यवसायी परन्तु अदूरदर्शी लोगों को कृषि, आदि में; भीरु तथा आज्ञाकारी लोगों को विभिन्न उद्योग धन्धों तथा व्यवसायों में; चतुर, सहनशील तथा कृपिण व्यक्तियों को वाणिज्य में और महिलाओं को गृह-व्यवस्था में सिद्धान्ततः रूप से लगना पड़ेगा। इस आधार पर शिक्षिकाएँ तो अपने निर्धारित कर्म-क्षेत्र (गृह-व्यवस्था) से दूर न हो पयेंगी परन्तु शासन तथा अन्य विभागों में कार्य करने वाली महिलाओं का दायित्व बहुत बढ़ जायगा।

व्यक्ति-प्रधान परम्परा में अपने लिए कर्म निर्धारित करने के लिए व्यक्ति स्वतंत्र सा है परन्तु कर्म-प्रधान संस्कृति में इसकी व्यवस्था समाज द्वारा होती है। शासन तथा अन्य कामों में लगने वाली महिलाएँ अपने गृह-व्यवस्था के दायित्व से मुक्त नहीं हो सकतीं। जिस प्रकार अपने निर्धारित कर्म को सुसम्पादित करते हुए गुरु द्रोण और एकलव्य ने बाण-विद्या में तथा विश्वामित्र ने तपस्या में सिद्धि प्राप्त की थी उसी प्रकार भारतीय महिलाएँ भी गृह-व्यवस्था के दायित्व को पूरा करते हुए अन्य कामों में लग सकेंगी। इसी लिए कहा गया है कि भारतीय परम्परा में महिलाओं के कुमारी रह जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, विवाहोपरान्त भी कोई ऐसी महिला यदि यह अनुभव करती हैं कि दाम्पत्य जीवन से उनके कार्य-विशेष में कठिनाई हो रही है तो उन्हें चहिए कि सहर्ष पति का दूसरा विवाह करा दें तथा उस नव-दम्पति की संरक्षिका के रूप में परिवार में बनी रहें और चाव से अपना कार्य करें। यदि इतनी उदारता और हृदय-विशालता का प्रदर्शन होता रहेगा तो भारतवर्ष ही नहीं प्रत्युत सम्पूर्ण विश्व का कल्याण हो सकता है। जिस अनुपात से भारतीय महिलाओं में इस प्रकार की विशेषताओं का प्रादुर्भाव होगा उसी से उपर्युक्त 'आमूल-परिवर्तन' में प्रगति होगी और उनकी गुरुजन-सेवा की उपयोगिता बढ़ेगी।

(ख) गृह-व्यवस्था—भारतीय महिलाओं का दूसरा तथा सर्वोच्च दायित्व गृह-व्यवस्था है। तीस वर्ष की अवस्था तक सेवा-व्रत का पालन कर चुकने पर उनमें धैर्य, उदारता, विशालता त्याग, आदि का समुचित विकास और सामञ्जस्य हो जायगा। गुरुजन-सेवा के प्रसङ्ग में संचित शक्ति और अर्जित आत्मबल उन्हें सुगृहिणी होने में सहायक होंगे। उनका दायित्व गुरुतर हो जायगा। उन्हें परिवार की नव-वधुओं और वृद्धाओं के मध्य की सजीव कड़ी होना पड़ेगा। पिछले अध्यायों में शिक्षकों, अभिभावकों, छात्रों, आदि के जो दायित्व निर्धारित किये गये हैं उनके अनुरूप घर की व्यवस्था करनी पड़ेगी। बड़े परिवारों में तीस वर्ष से अधिक अवस्था की महिलाएँ कई होंगी। फलतः मालकिन का गुरुतर भार तो किसी एक ही को वहन करना पड़ेगा परन्तु बिना सबके सक्रिय सहयोग के वातावरण में सुख और शान्ति का साम्राज्य स्थापित न हो पायेगा। यदि गृह की हर महिला अपनी सन्तानों और अपने पति से अधिक ध्यान अन्य बच्चों और पुरुषों का रखने का सच्चा अभ्यास कर लें तो परिवार के सभी बच्चे, पुरुष, स्त्रियाँ, आदि सुखमय जीवन व्यतीत कर सकती हैं। ऐसा करने से कोई किसी का छूट नहीं जाता परन्तु

किसी प्रकार के संघर्ष की सम्भावना नहीं रहती। यों भाग्यवान् वह परिवार है जिसकी मालकिन विधिवत् विशाल हृदया हो।

भारतीय परिवारों में इस समय सबसे अधिक आवश्यकता धर्म तथा आचार-व्यवहार सुधारने की है। उच्चकोटि तथा सम्पन्न मध्य-कोटि के परिवारों में इस ओर कुछ ध्यान दिया जाता है। सुबह-शाम धूप, बत्ती, आदि का नियमित रूप से प्रयोग होता है। परन्तु इसका उद्देश्य स्वच्छता तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी अधिक और धर्म सम्बन्धी कम होता है। वृद्ध और वृद्धाओं का यह विशेष रूप से दायित्व माना जाता है—अन्य वयस्क, बच्चे, आदि अप्रभावित से रहते हैं। साधारण एवं अधिकांश परिवारों में आजकल कोई परम्परा नहीं है। प्रातःकाल के स्वागत और संध्या की विदाई के चित्रण कुछ न कुछ सभी धर्मों के मूल ग्रन्थों में मिलते हैं। फलतः इनसे सम्बन्धित संक्षिप्त उत्सव प्रतिदिन सभी परिवारों में नियमित रूप से होने चाहिए। पिछले अध्यायों में शिक्षकों की दिन-चर्या निर्धारित की गई है और उसमें गुरुजन-अभिवादन की व्यवस्था विशेष रूप से है। इन दायित्वों की पूर्त्ति महिलाओं के समुचित सहयोग बिना कदापि नहीं हो सकती। इसमें धन, ऐश्वर्य, आदि का कोई महत्त्व नहीं है। वैभव-हीन परिवारों में ये अभ्यास अधिक सुविधा पूर्वक किये जा सकते हैं। ऐसे अभ्यासों को नियमित रूप से करने से वृद्धों, वयस्कों, आदि की मानसिक शुद्धि होती है और बच्चों में सद्व्यवहार के बीज अंकुरित तथा विकसित होते हैं।

पिछले अध्यायों में शिक्षकों को अपने अग्रजों तथा अनुजों के प्रति विशेष उदारता दिखाने के लिए प्रेरित किया गया। साथ ही अन्य लोगों से भी अनुरोध किया गया है कि वे लोग भी इसी आदर्श का पालन करें। यदि परिवार की व्यवस्था इसके अनुकूल रहेगी तभी इस व्रत में पुरुषों को सफलता प्राप्त हो सकेगी। महिलाओं का अनुचित रूप से तिरस्कार कर के भी लोग काम चला सकते हैं। परन्तु इसमें कई दोष हैं। प्रथम, साधारण पुरुष ऐसा करने में समर्थ न होंगे। दूसरे, परिवार का वातावरण क्षुब्ध तथा आतंकित रहेगा। तीसरे सन्तानों के पथ-प्रदर्शन के लिए समुचित सामग्री प्राप्त न हो सकेगी। माता-पिता के साधारण से साधारण मत-भेद का प्रत्यक्ष और परोक्ष-दोनों ही प्रभाव सन्तानों पर पड़ता है। यह अकाट्य सत्य है कि पत्नी की अनुमति से जितने भी कार्य पति करते है उनमें उन्हें दुगुनी सफलता प्राप्त होती है। हमारे भारतीय परिवारों की भावी व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि अपने सभी समुचित, उदार तथा त्याग-प्रधान दायित्वों की पूर्ति में पुरुष-

गए, स्त्रियों का पूर्ण तथा सक्रिय सहयोग प्राप्त कर सकें। ऐसे वातावरण का निर्माण तभी सम्भव होगा जब कि महिलाएँ अपनी कई स्वाभाविक दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त कर लें।

प्रथम दुर्बलता 'अपने और पराए' सम्बन्धी है। इसका उल्लेख किया जा चुका है कि महिलाओं की माया स्वाभाविक तथा प्रत्यक्ष है। इसी से त्याग, परोपकार, आदि के प्रसंग में वे प्रायः फिसल जाती हैं। साथ ही, पति को अपने सगे-सम्बन्धियों की ओर अधिक झुकते देखकर अधिक उदार महिलाएँ अपने भाई-बन्धुओं की ओर झुक सकती हैं। सिद्धान्ततः इसमें कोई दोष नहीं है—प्रत्युत आवश्यकतानुसार इस परम्परा को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। इससे महिलाओं में उदारता, विशालता, आदि का अधिक विकास हो सकता है। परन्तु डर यह है कि इससे कालान्तर में पति-पत्नी एवं परिवार में छल, छद्म, कपट, चोरी, आदि के व्यवहार न होने लगें। साधारणतः इतना अच्छा है कि अधिकांश भारतीय परिवारों में लड़कियों के धन-दौलत को लोग छूते भी नहीं। यदि हम भारतवासियों को अपने आदर्शों, नियमों, उपनियमों, आदि की उपयोगिता और व्यवहारिकता बढ़ानी है तथा संसार के सम्मुख मनुष्यता की कोई अधिक उपयोगी रूप-रेखा खींचनी है, तो महिलाओं द्वारा कठिनाई में पड़े हुए अपने भाई-बन्धुओं की सहायता सहर्ष उचित माननी पड़ेगी। इतना ही नहीं, उन्हें ऐसा करने के लिए प्रेरित और उत्साहित करना चाहिए। किसी भी तीस वर्ष से अधिक महिला के ऐसे प्रस्ताव पर उसके सभी गुरुजन प्रेम और सहानुभूति के साथ विचार करेंगे और अन्त में मालिक तथा मालकिन उसके मैके के लोगों की यथाशक्ति समुचित सहायता अधिकाधिक गुप्त रूप से करेंगी।

द्वितीय दुर्बलता पति की अर्थोर्जन-क्षमता से सम्बन्धित है। तीस वर्ष की अवस्था पार करते-करते सामूहिक परिवार में सबसे अधिक धन कमाने वाला एवं साधन एकत्र करने वाला व्यक्ति स्पष्ट हो जाता है। हमारा आदर्श यह होगा कि सभी प्रकार के साधन मालिक और मालकिन के नियंत्रण में निश्चित रूप से रहेंगे। अधिक कमाने वाले व्यक्ति की पत्नी क्षुब्ध तथा उद्विग्न हो सकती है। कुछ समय तक तो इस प्रसङ्ग से पारिवारिक व्यवस्था को घोर धक्का पहुँचेगा। पिछले अध्यायों में शिक्षकों को इस सम्बन्ध में विशेष उदार होने का अनुरोध किया गया है। सर्वाधिक साधन अर्जित करने वाले व्यक्ति और उनकी पत्नी यदि परिवार में ही रहेगा तो सम्भवतः विशेष कठिनाई न होगी। यदि वह व्यक्ति अपना कार-बार अन्यत्र करता है और उसकी पत्नी

भी साथ है तो समस्या विकट हो जा सकती है। तीस वर्ष की अवस्था पार कर चुकने पर आवश्यकतानुसार महिलाएँ अपने-अपने पति के साथ जा सकेंगी; गुरुजन-सेवा का भार अन्य वधुओं पर रहेगा। हमारी प्राचीन और मध्य-कालीन परम्परा साधारणतः कृषि को ध्यान में रखते हुए निर्धारित और विकसित हुई थी। वर्तमान नौकरियों, व्यवसाय, उद्योग-धन्धों, आदि में इसे पर्याप्त सावधानी से अपनाना पड़ेगा। पारिवारिक आदर्शों के समुचित पुनरुद्धार के उपरान्त महिलाओं के दृष्टिकोण में स्वतः परिवर्तन हो जायगा और लगातार साथ रहते हुए भी अपने पति के पारिवारिक-सहयोग-दान में वे साधारणतः बाधक न होंगी।

पारिवारिक व्यवस्था के छिन्न-भिन्न हो जाने से विधवाओं, दुर्बल व्यक्तियों की पत्नियों, आदि तथा उनकी सन्तानों के साथ सगे-सम्बन्धी लोग आजकल अच्छा व्यवहार नहीं करते। इसी से सभी साधन-युक्त लोग भविष्य की अनिश्चितता से आतंकित हैं तथा अपनी ही पत्नी और सन्तानों के लिए सब कुछ करने के लिए विवश हैं। जब लोगों को पूरा विश्वास हो जायगा कि किसी भी दुर्घटना के घटने पर परिवारों से उनकी तथा उनके बाल-बच्चों की समुचित रक्षा हो सकेगी तो जो पैसा वे पेट काट-काट कर बैंक, पोस्ट आफिस, बीमा, आदि में जमा करते हैं उसे वे सहर्ष परिवार की उन्नति तथा उसके विकास में लगायेंगे। महिलाओं में माया का अंश अधिक और प्रत्यक्ष अवश्य होता है परन्तु वे साधारणतः भोली-भाली होती हैं। आगा-पीछा के चक्कर में वे विशेष नहीं पड़तीं। प्रकृति के सभी व्यापार सुन्दर तथा उपयोगी हैं। माया की मूर्त्ति बनाने के साथ-साथ यदि प्रकृति ने उन्हें पर्याप्त दूरदर्शिता भी दी होती तो आज समाज का रूप हमें कुछ और ही मिलता। यदि पुरुष सभी अपेक्षित विशेषताओं से अलंकृत होता है तो स्त्री अपनी विभिन्न दुर्बल-ताओं पर सुविधा पूर्वक विजय पाती रहती है। परन्तु कठिनाई यह है कि इस विजय में स्थिरता नहीं होती। जिस महिला में इस स्थिरता की मात्रा जिस अनुपात से बढ़ती जाती है उसी से उसे हम गुणवती, विदुषी, आदि मानते हैं। फलतः महिलाओं को अपनी दुर्बलताओं पर विजय पाने का तात्पर्य यही है कि अपने में इस स्थिरता का वे ऐसा विकास करें कि किसी प्रकार का पति क्यों न हो परन्तु वे अपने दायित्व से च्युत् न हों।

भारतीय गृह-व्यवस्था की नींव सच्ची सादगी पर आधारित होनी चाहिए। सादगी की कुछ व्याख्या यथास्थान पिछले अध्यायों में हुई है। पुरुषों में सादगी का वास्तविक प्रादुर्भाव तभी होगा जब वे अपनी महिलाओं द्वारा

इसके लिए प्रेरित होंगे। सादगी का तात्पर्य यह नहीं है कि सजावट, शृङ्गार, आभूषण, आदि को तिलांजलि दे दी जाय—कदापि नहीं। इसका उद्देश्य यही है कि इन्हें इतना महत्त्व न मिलने पावे कि हम वास्तविकता का तिरस्कार करने लगें। स्थिति इतनी भयावह हो गई है कि लोग वेश-भूषा के आधार पर अपने गिरे हुए स्वास्थ्य को छिपा लेते हैं। यदि ध्यान से विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि इससे, दूसरों को कम और अपने ही को अधिक धोखा होता है। वेश-भूषा, आभूषण, आदि को उतना ही महत्त्व मिलना चाहिए जितने से लोगों के मन में यह धारणा न जमने पावे कि ये सब सभी के लिए आवश्यक हैं। प्रकृति से सभी पदार्थ (अच्छे अथवा बुरे) सीमित मात्रा में प्राप्त हैं। यदि किसी पदार्थ को संसार के सभी लोग समान रूप से चाहेंगे तो संघर्ष अवश्यम्भावी है। हमारे मनीषियों ने सम्भवतः इसीलिए धन को अधिक महत्त्व नहीं दिया। विभिन्न प्रकार की वेश-भूषा तथा विविध आभूषणों के होते हुए भी उनका अधिक प्रयोग इसलिए भी नहीं करना चाहिए कि साधन-हीन लोगों को कष्ट न होने पावे। साथ ही, सजावट से शरीर की स्वाभाविकता तथा स्वतंत्रता को धक्का पहुँचता है। काम करने में नाना प्रकार की वाधाएँ खड़ी होती हैं। फलतः वास्तविक सादगी के लिए भारतीय महिलाओं को उत्तरोत्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए।

पिछले अध्यायों में अतिथि-सत्कार, आश्रित-पालन, पड़ोसियों के प्रति उदारता, आदि पर विशेष ध्यान देने का अनुरोध किया गया है। ये ऐसे हैं जिनका पालन महिलाओं के समुचित सहयोग बिना पूर्ण हो ही नहीं सकते। सांस्कृतिक संघर्षों के फलस्वरूप आज-कल महिलाएँ वास्तव में इनकी पूर्ति में वाधक हो रही हैं। पाश्चात्य देशों की अनुराग-प्रधान शिक्षा और परम्परा के प्रभाव से हमारे देश में भी माया का अनुचित रूप से पोषण हो रहा है। महिलाओं में माया का अंश स्वभावतः अधिक तथा प्रत्यक्ष होने से वे इस विषाक्त वातावरण को अपनी प्रकृति के अनुकूल पा रही हैं। अपने और पराए की सीमा निश्चित तथा निर्धारित होने से यदि वे अतिथि, पड़ोसी, आश्रित आदि के साथ समुचित व्यवहार नहीं करती तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? भावी सुधारों के कार्यान्वित हो जाने पर महिलाओं को इस ओर भी अधिकाधिक उदार होने की प्रेरणा मिलेगी। परन्तु ऐसे स्वाभाविक विकास में अभी समय लगेगा। वर्तमान महिलाओं को तो व्रत, अनुष्ठान, आदि के रूप में इस ओर अग्रसर होना पड़ेगा। पड़ोसियों और आश्रितों को ओर तो शीघ्रातिशीघ्र उन्हें ध्यान देने की आवश्यकता है।

ऐसा न करने से हमारी सन्तानों के कतिपय उपयोगी संस्कार नष्ट-भ्रष्ट हो जा रहे हैं।

भारतीय गृह-व्यवस्था में यथासम्भव कूटनीति, कपट, छल-छद्म, आदि को लेशमात्र भी स्थान नहीं मिलना चाहिए। माया को प्रोत्साहन मिलने से छोटे-मोटे परिवारों में भी महिलाएँ पुरुषों से छल-कपट करके पैसा जोड़ने में बुरी तरह व्यस्त हैं। कभी-कभी तो ऐसा देखने में आता है कि पुरुष लोग तो ऋण से दबे रहते हैं और स्त्रियों के पास पैसा रहता है। यह कुटेव नगरों से अधिक ग्रामों में संक्रामक रूप धारण किये हुए है। किसानों की महिलाएँ दिल खोलकर ग्रामीण बनियों को छिप-छिपकर अपेक्षाकृत सस्ते भाव से अन्न बेचती हैं। पर्याप्त अन्न पैदा होने पर भी ऐसे परिवारों में फिर खरीदना पड़ता है। इस छीना-झपटी, क्रय-विक्रय, आदि के फलस्वरूप घर में मनोमालिन्य, अविश्वास, कलह, आदि अपना स्थायी अड्डा जमाये हुए हैं। पाशविकता की प्रेरणा से पति-पत्नी सन्तानें उत्पन्न तो कर लेती हैं परन्तु मनुष्यता के अन्य महत्वपूर्ण व्यवहार उनमें कदापि नहीं हो पाते; यही कारण है कि अधिकांश भारतीय सन्तानें जन्म से ही निकम्मी हो जाती हैं। इसी प्रकार की विषम परिस्थितियों में उनका जन्म होता है, इसी में वे पलती हैं और होश सँभालती हैं तथा माता-पिता के ही कुचक्रों से उनकी भाषा, आदतें; आदि निर्मित तथा विकसित होती हैं। भारतीय महिलाओं से सादर अनुरोध है कि अपनी सन्तानों की रक्षा के लिए इन कुटेवों का शीघ्राति-शीघ्र त्याग करें।

अभाग्यवश कुछ महिलाएँ इससे भी आगे बढ़ी हुई हैं। छिपकर अर्जित धन को दीन-दुःखी व्यक्तियों, पड़ोसियों तथा अन्य व्यक्तियों को ऊँचे से ऊँचे ब्याज पर उठाती हैं। ऐसे गुप्त तथा चोखे व्यवसाय के मुख्य दलाल उनके बड़े लल्ला अथवा मुन्ना ही प्रायः होते हैं। ऐसे लल्ला या मुन्ना की शिक्षा-दीक्षा वर्तमान विद्यालयों में भी सम्भव नहीं। पाश्चात्य परम्परा में इतनी गन्दगी कहीं नहीं है। उनकी परम्परा में यदि अनुराग की प्रधानता है तो उनके 'होम' में स्थिरता नहीं होती। किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव होते ही पति-पत्नी सम्बन्ध-विच्छेद के लिए स्वतंत्र हैं। किसी भावी आपत्ति के लिए न वे लोग विशेष आतंकित होते हैं और न उसकी कल्पित रक्षा के निमित्त अनुचित रूप से धन-संग्रह ही करते हैं। हमारे यहाँ 'गृह' एवं सम्बन्ध में यदि स्थिरता है तो त्याग के अभ्यासों से हम गुत्थियों को उलझन न देते थे। आज कल हमने 'अनुराग' तो वहाँ से ले लिया है और गृह-स्थिरता एवं

सम्बन्ध-स्थिरता अपना ही लेने के लिए विवश हैं। इसी द्वन्द्व के कुचक्र में कभी-कभी सामूहिक परिवारों में भीरु पुरुष लोग भी अपनी-अपनी पत्नियों के इस प्रकार के अनुचित धन-संग्रह को छिपाते ही नहीं प्रत्युत उन्हें प्रेरित भी करते हैं। फलतः एक ओर परिवार छिन्न-भिन्न हो जाता है और दूसरी ओर प्रथम लल्ला या मुन्ना का ऐसा वलिदान हो जाता है कि वह आजीवन स्वयं दुःखी रहता है और माता-पिता की वृद्धावस्था में उनकी भी पूरी मरम्मत करता है।

पड़ोसियों और आश्रितों के प्रति अपने दायित्व को भारतीय महिलाएँ तभी सम्पादित कर पायेंगी जब कि वे उपर्युक्त कुत्सित धनार्जन का तुरन्त त्याग कर दें। प्रायः इन्हीं लोगों को जब वे अधिक व्याज पर गुप्त रूप से ऋण देती हैं तो उनकी रक्षा और सहायता वे क्या कर पायेंगी। यदि सावधानी से विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि भारतीय परम्परा का निर्धारण इतना नाप-तौलकर किया गया है कि इसके अनुसार चलने से अपने से अधिक दूसरों का और दूसरों से अधिक अपना कल्याण होता है। परोपकार और सहायता का बाना धारण कर लेने पर व्याज का घाटा तो अवश्य होगा परन्तु पड़ोसियों और आश्रितों के व्यवहार और दृष्टिकोण में ऐसा परिवर्तन आयेगा कि उससे अनेक आर्थिक सुविधाएँ भी प्राप्त होंगी और हमारी महिलाओं को व्याज की प्रामाणिकता के लिए पग-पग पर झूठी शपथ खाते हुए अपनी सन्तानों के सम्मुख अपमानित भी न होना पड़ेगा। इस प्रकार धनार्जन करने वाली महिलाओं का कोई न कोई निश्चित रूप से क्षेत्र खण्डित रहता है - यदि स्वास्थ्य है तो सन्तान नहीं, यदि सन्तान भी हैं तो पति नहीं और यदि सन्तान, पति, आदि अपने-अपने कर्मों के आधार पर सकुशल हैं तो स्वास्थ्य ही साथ छोड़ देता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण गाँव-गाँव, मुहल्ले-मुहल्ले तथा नगर-नगर में प्राप्त किया जा सकता है।

माया के वश में अधिक होने के कारण भारतीय महिलाओं को धन-दौलत से अधिक सम्पर्क नहीं रखना चाहिए। उन्हें हमारी परम्परा में साक्षात् 'लक्ष्मी' ही माना गया है। फलतः कृत्रिम लक्ष्मी के लिए उन्हें प्रयत्न-शील होना उचित नहीं दीखता। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे हाथ से पैसा छूयें ही नहीं। पुरुषों द्वारा निर्धारित आँकड़ों के अनुसार वे परिवार का आय-व्यय सम्पादित और नियंत्रित कर सकती हैं परन्तु तोड़ने-जोड़ने के पचड़े में उन्हें नहीं पड़ना चाहिए। दूसरे शब्दों में धन को साधन रूप में महिलाएँ ले सकती हैं परन्तु साध्य रूप में नहीं। पिछले अध्यायों में स्पष्ट किया गया

है कि वास्तविक तथा मूल भारतीय परम्परा में 'धन' को साध्य रूप में महिलाओं को कौन कहे, पुरुषों को भी नहीं लेना चाहिए। लेकिन 'देश, काल और पात्र' के सिद्धान्तका अक्षरशः पालन करने की दोहाई इस पुस्तक में पग-पग पर दी गई है। वर्तमान युग में वैज्ञानिक आविष्कारों से समस्त भूमण्डल सम्बन्धित हो गया है। अन्य देशों और राष्ट्रों में चूँकि धनसाध्य रूप में लिया जा रहा है फलतः भारतवर्ष को भी, यदि विस्तार के विचार से नहीं तो रक्षा के उद्देश्य से, इस सिद्धान्त को वाह्य रूप से तब तक अवश्य अपनाना पड़ेगा जब तक कि अपने आदर्शों की विशेषताएँ हम समस्त संसार को स्पष्ट नहीं कर देते। परन्तु हमारी महिलाओं को साधारणतः इससे तटस्थ रहना चाहिए।

गृह-व्यवस्था के एक और मुख्य पहलू पर भारतीय महिलाओं को ध्यान देना है। चाहे किसी स्तर की महिलाएँ क्यों न हों परन्तु उन्हें शारीरिक श्रम पर्याप्त करना चाहिए। पाश्चात्य सम्पर्क से यहाँ के धनी-मानी लोग अपने-अपने परिवारों में प्रत्येक कार्य के लिए नौकर तथा नौकरानियाँ लगा लिये हैं। पाश्चात्य परम्परा में महिलाएँ स्वतंत्रता पूर्वक सर्वत्र विचर सकती हैं, खेलती-कूदती तथा घूमती हैं। उनकी व्यवस्था में 'होम' से अधिक चहल-पहल होटलों में तथा अन्यत्र रहती है। यदि उनके घर का काम-काज नौकर कर देते हैं तो उनकी महिलाएँ पर्याप्त परिश्रम के कार्य प्रति दिन घर से बाहर कर लेती हैं। परन्तु भारतवर्ष में परिस्थिति भिन्न है। यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि हम लोगों ने अपनी क्षमता के अनुसार विदेशी परम्परा की केवल लुभावनी तथा सरल परिपाटियों को अपनाया है। हमारे घरों में भी उनकी देखा-देखी नौकर ही सब कार्य करने लगे। इस प्रकार हमारी महिलाएँ घर के बाहर अधिक जाती नहीं और घर में काम पाती नहीं। फलतः यथा कथित उच्च परिवारों की अधिकांश महिलाएँ नवीन-नवीन रोगों का शिकार होती जा रही हैं। आवश्यक शारीरिक श्रम न करने से और खाने-पीने की पर्याप्त सुविधा होने से उनकी पाचन शक्ति बिगड़ने में तनिक भी समय नहीं लगता। कुटीर उद्योग-धन्धों के समुचित विकास के लिए स्वर्गीय महात्मा गान्धी जहाँ अन्य कारणों से प्रेरित थे वहाँ पर यह भी मुख्य था।

'होम' की रूप-रेखा इतनी संक्षिप्त तथा निर्धारित होती है कि नौकरों द्वारा उन्हें सुविधा पूर्वक सम्पादित कराया जा सकता है। वहाँ का सभी तारतम्य प्रस्तुत जीवन तथा कुछ प्राणियों से सम्बन्धित होता है। प्रत्येक कदम इतना प्रत्यक्ष और स्पष्ट होता है कि एक-दो बार भी समझा देने से साधारण

से साधारण नौकर भी तेली के बैल की भाँति सभी परिस्थितियों में काम चला सकता है। परन्तु भारतीय 'गृह', इस वर्तमान जीर्ण-शीर्ण अवस्था में भी, इतना विस्तृत तथा व्यापक है कि इसके कतिपय अंग तथा उपांग नौकरों को कौन कहे बहुत से इसके सदस्यों द्वारा भी सम्पादित नहीं हो पाता अथवा कठिनाई से होता है। पूर्व जन्म तथा पुनर्जन्म के आधार पर देव-पितृ सम्बन्धी ऐसे-ऐसे विचित्र तथा महत्त्वपूर्ण अभ्यास हैं जिनके सम्पादन में सदस्यों को अधिकाधिक सावधान तथा धर्मनिष्ठ रहने की आवश्यकता है; भला नौकरों के किये उनमें क्या हो सकता है? इस प्रकार वर्तमान भारतीय गृहों एवं परिवारों में पश्चिम की देखा-देखी नौकरों पर सब-कुछ छोड़ देने से हमारे अनेक उपयोगी तथा आवश्यक संस्कार तिरस्कृत हैं। इसकी पूर्त्ति के लिए भी भारतीय महिलाओं को नौकरों से कई काम सहर्ष अपने लिए ले लेने पड़ेंगे। आरम्भ में कुछ कठिनाई का अनुभव हो सकता है; फिर तो उन अभ्यासों के अधिकाधिक उपयोगी, रोचक तथा क्रमिक होने से उनमें ऐसा मन लग जायगा कि उन्हें छोड़ने का जी न करेगा।

गृह व्यवस्था के सम्बन्ध में भारतीय महिलाओं को अधिकाधिक 'सन्तोष' का भी अभ्यास करना पड़ेगा। यों तो संतोष की मात्रा सभी भारत वासियों में, चाहे वे किसी भी लिंग, धर्म तथा समुदाय के क्यों न हों, प्रचुर मात्रा में होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति में जिस अनुपात से सन्तोष की सच्ची भावना विकसित रहेगी, उसी से वह इस अनोखी संस्कृति की विशेषताओं का आनन्द प्राप्त कर सकता है। भारतीय 'सन्तोष' की अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों ने, न समझ सकने के कारण, अनुचित व्याख्या की है। स्वर्गीय महात्मा गान्धी ने अपने जीवन में इसे पर्याप्त महत्त्व दिया परन्तु उनका समस्त जीवन ऐसे राष्ट्र के राजनीतिक कुचक्रों का विरोध करने में व्यतीत हुआ जिसकी परम्परा में 'सन्तोष' लगभग 'कायरता' अथवा 'पराजय' का पर्याय माना जाता है। 'सन्तोष' की व्याख्या कठिन है भी परन्तु संक्षेप में कहा जा सकता है कि यह निर्बलों का 'रक्षक' और सबलों का 'तप' है। महिलाओं को यह सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिए कि उन्हें 'अबला' ठीक ही कहा गया है। खेद का विषय है कि कुछ स्वार्थी पुरुषों से प्रेरित होकर भारतीय महिलाएँ भी अन्य उपयोगी कार्यों से तटस्थ हो गई हैं और सभी प्रसंगों में पुरुषों की बराबरी करने के लिए प्रयत्नशील हैं। इसका उल्लेख पिछले अध्यायों में भी हुआ है और यह भी पाश्चात्य सम्पर्क का ही प्रसाद है।

मायावश यूरोपीय महिलाएँ इसे मानें या न मानें परन्तु उनके यहाँ भी समाज में पुरुषों से उनकी वैधानिक समानता लगभग वैसी ही है जैसे कि वर्तमान 'संयुक्त राष्ट्र परिषद्' में छोटे-बड़े सभी राष्ट्रों के वैधानिक अधिकार लगभग समान हैं। वैधानिक अधिकारों की व्याख्या तथा उनका निर्धारण व्यक्तियों के बजाय समूह को लक्ष्य करके होता है और दूसरे उनकी रूप-रेखा में सबल वर्ग अथवा सबल राष्ट्र का प्रभाव स्पष्ट प्रतिबिम्बित होता है। फलतः वैधानिकता से व्यक्तिगत एवं दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा गुत्थियों का समाधान कठिन है। यही कारण है कि पाश्चात्य परम्परा में वैधानिकता को कुछ अधिक महत्त्व दे देने से जीवन वाह्य रूप में तो कुछ सुविधाजनक अवश्य दीखता है परन्तु स्वाभाविक स्नेह तथा पारस्परिक सहानुभूति का अभाव पग-पग पर खटकता है। पुरुष-स्त्री, पति-पत्नी, माता-पिता, भाई-बहन, मित्र-मित्र अधिकारी-मातहत, दुकानदार-ग्राहक, गुरु-शिष्य, आदि सभी लोग ऊपर से 'हल्लो' 'हल्लो' करते हुए हाथ मिलाते हैं परन्तु भीतर से एक-दूसरे के प्रति नाना प्रकार के व्यूह तथा कुचक्र रचते रहते हैं। अपनी संस्कृति और परम्परा के पुनरुद्धार तथा विकास के उद्देश्य से भारतीय महिलाओं को समानता-प्राप्ति की मृगतृष्णा एवं मरीचिका से बचना चाहिए। यह सहर्ष स्वीकार करने में और तदनुकूल अपना संस्कार करने में उन्हें तनिक भी शक तथा हिचक नहीं होनी चाहिए कि वे अबला हैं।

निर्बलों एवं अबलाओं या महिलाओं का रक्षक एवं एकमात्र सहारा 'सन्तोष' ही है। धन, पुत्र (सन्तान) दाम्पत्य प्रेम, दुर्घटना, आदि अनेक प्रसङ्गों से सम्बन्धित गुत्थियाँ उलझ सकती हैं और ऐसे अवसर पर जिस महिला में सन्तोष का विकास जितना ही अधिक होगा वह उतना ही अपने तथा परिवार—दोनों ही के लिए उतनी ही उपयोगी प्रमाणित होगी। इस बाना का धारण करना सरल नहीं है। विवश लोग तो प्रत्येक वर्ग, समाज तथा देश में किसी न किसी रूप में इसे धारण करने का ढोंग रचते हैं। सन्तोष का यह रूप वाह्य तथा कम उपयोगी होता है और कभी-कभी वास्तव में कायरता तथा अकर्मण्यता का द्योतक होता है। त्याग और परोपकार का वास्तविक महत्व ग्रहण किए बिना किसी व्यक्ति में स्वाभाविक सन्तोष का सञ्चार तथा विकास सम्भव नहीं होता। लगातार तीस वर्ष की अवस्था तक गुरुजन-सेवा निश्चित कर चुकने पर भारतीय महिलाओं में इस विशेषता का विकास कठिन नहीं। उपर्युक्त अन्य प्रसङ्गों में वाह्य सन्तोष से भी काम चल सकता है परन्तु दाम्पत्य प्रेम के व्यतिक्रम को सहर्ष वहन करना कठिन होगा; इसके

लिए वास्तविक तथा उच्चकोटि का सन्तोष अपेक्षित है। यों तो जीवधारी होने के कारण स्त्री-पुरुष सभी विभिन्न विकारों तथा दुर्बलताओं से परिपूर्ण हैं। स्त्री-पुरुष का दाम्पत्य सम्बन्ध समाज द्वारा स्थापित होता है न कि प्रकृति द्वारा। केवल इसके स्थापन मात्र से ही व्यक्तियों की स्वाभाविक चञ्चलता एवं 'नवीन-प्रियता' समाप्त नहीं हो जाती। साथ ही, इस स्थापन में व्यक्तियों की प्रकृति और उनके स्वभाव का ध्यान न्यून परन्तु अन्य सामाजिक बातों का प्रायः अधिक रहता है।

भारतीय सम्बन्ध-स्थापन में फिर भी जन्म-कुण्डली, टिप्पणी, आदि के आधार पर पर्याप्त गणना-मनना की व्यवस्था थी परन्तु पाश्चात्य सम्पर्क से सुसंस्कृत परिवारों से भी इस परम्परा की विदाई सी हो चली है। यह सब कुछ होते हुए भी व्यक्तियों की सच्चरित्रता हमारे यहाँ भी कुल-मर्यादा, आत्म-सम्मान, धार्मिक नियंत्रण, कर्म की प्रधानता, आदि बाह्य उपकरणों द्वारा ही सुरक्षित रह पाती थी। सम्बन्ध-स्थापन की विविधता तथा उसके विस्तार से व्यक्तियों की स्वाभाविक दुर्बलताओं का शोधन बहुत कम हो पाता था। अपने राग-रंग को दाम्पत्य क्षेत्र तक ही सीमित न रखने के लिए स्त्री-पुरुष दोनों ही प्रयत्नशील हो सकते हैं। परन्तु ध्यान से विचार यदि किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि महिलाओं को ऐसा करने में प्राकृतिक और सामाजिक दोनों प्रकार की कठिनाइयाँ हैं। दूसरे शब्दों में जैसा कि इसी अध्याय में पीछे कहा गया है कि पुरुष अपने कृत्यों को छिपा सकता है परन्तु महिलाओं को ऐसा करना कठिन ही नहीं प्रत्युत असम्भव सा है। पति-पत्नी की मूल प्रवृत्तियों में यदि अधिक अन्तर है तो आरम्भिक जीवन (विवाहोपरान्त पन्द्रह-बीस वर्ष तक) प्रेम-पूर्ण होते हुए भी कालान्तर में पति की चञ्चलता अन्यत्र प्रज्वलित हो सकती है। ऐसे अवसरों पर भारतीय महिलाएँ यदि पर्याप्त सन्तोष और त्याग से काम न लेंगी तो पारिवारिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जायगी। इन्हीं कठिनाइयों को लक्ष्य करके भारतीय परम्परा में पुरुषों को बहु-विवाह की व्यवस्था रही है। पाश्चात्य परम्परा से प्रभावित होकर वर्तमान भारतीय सरकार तथा शिक्षित समाज की ओर से इसे आज-कल प्रोत्साहन नहीं मिल रहा है।

पुरुषों का बहु-विवाह विशेष परिस्थितियों में उपयोगी तथा आवश्यक हो जाता है। या तो सिद्धान्ततः इसे मान लिया जाय अथवा यहाँ के समाज और व्यवहार को भी वहीं की भाँति ढीला-ढाला तथा सुविधाजनक कर दिया जाय। वैधानिकता के निर्वाह के निमित्त इस प्रसङ्ग में भी वास्तविकता पर

पाश्चात्य संस्कृति में गहरा पर्दा डाल दिया गया है। समाज का दर्पण साहित्य है। पाश्चात्य साहित्य में कहा गया है—

(१) "ए मैन इज़ यंग ऐज़ लांग ऐज़ ही फील्स।" अर्थात् कोई पुरुष तब तक युवक है—

जब तक कि वह अपने को युवक समझता है।

(२) "ए ओमन इज़ यंग ऐज़ लांग ऐज़ शी लुक्स।" अर्थात् कोई स्त्री तब तक युवती है—

'जब तक कि वह (युवती) दिखाई दे।'

उपर्युक्त कथन, कहावत अथवा लोकोक्ति में वास्तविकता का पर्याप्त संकेत है। इसी अध्याय में पीछे कहा जा चुका है कि स्त्रियों का सौन्दर्य अधिक बाह्य होता है और अपेक्षाकृत शीघ्रता से विकसित होता है और ढलता है। वास्तव में पाश्चात्य परिवारों की रूप-रेखा इतनी सीमित, संकुचित तथा संकीर्ण है कि कोई पुरुष एक साथ एक से अधिक पत्नी के साथ निर्वाह कर ही नहीं सकता। उन परिवारों में पति के अन्यत्र लग जाने पर पत्नी के लिए कोई आश्रय रही नहीं जाता। भारतीय परिवारों की सामूहिक रूप-रेखा में यदि संयोगवश किसी स्त्री को इस विषम परिस्थिति का सामना करना पड़ता है तो वह आश्रय-हीन कदापि नहीं हो पाती। एक ओर अपनी सन्तानों की देख-रेख में अधिक ध्यान, शक्ति तथा समय लगा पाती है और दूसरी ओर परिवार की व्यवस्था में अधिक योग देती है। साथ ही, परिवार के मालिक मालकिन तथा अन्य सदस्य उस स्त्री के साथ अधिकाधिक उदारता और-सहानुभूति का व्यवहार करते हैं और उसके पति का यथासम्भव पग-पग पर तिरस्कार किया जाता है।

यहाँ पर इस प्रकार के प्रसंग के छेड़ने का केवल यही उद्देश्य है कि हमारी महिलाएँ पुरुषों की इस हठधर्मी को यथासम्भव सहन करने के लिए कटिबद्ध रहें। उनके इतना त्याग किये बिना भारतीय परिवारों की कर्म-प्रधानता तथा उनका सामूहिक रूप सुरक्षित नहीं रह सकते। इसके निमित्त सन्तोष का वे जितना ही अधिक अभ्यास करेंगी देश, समाज तथा उनका उतना ही अधिक कल्याण होगा। पाश्चात्य परम्परा की कामचलाऊ तथा वाह्य व्यवस्था को देख कर उन्हें उद्विग्न तथा विचलित नहीं होना चाहिए। साथ ही वर्तमान परिस्थितियों में ऐसी समस्याएँ अधिक उपस्थित न हो सकेंगी। शिक्षा और सेवा के सामञ्जस्य से वे ऐसा वातावरण उत्पन्न कर सकतीं है कि अधिकांश

लोग अपनी प्रथम पत्नी को यों ही तिरस्कृत करने का साहस न करेंगे। वर्तमान भारतीय सरकार तथा समाज पुरुषों को इस दुर्बलता से ऊपर उठाने के लिए विविध प्रकार से जागरूक तथा प्रयत्नशील हैं।

स्त्री शिक्षा की रूप-रेखा—प्रथम पाँच वर्ष की शिक्षा के सम्बन्ध में विशेष लिखना या सोचना नहीं है। जो रूप-रेखा बालकों के लिए होगी वही लगभग बालिकाओं के लिए। इस स्तर तक बालक-बालिका साथ-साथ पढ़ सकती हैं। चूँकि इतनी शिक्षा यथासम्भव सभी बालक-बालिकाओं को मिलनी चाहिए अस्तु साधारण गाँवों तथा मुहल्लों के सभी बच्चे एक ही विद्यालय में सुविधापूर्वक नहीं जा सकते। यदि एक से अधिक विद्यालय खोलना ही हैं तो बालकों और बालिकाओं के लिए अलग-अलग विद्यालय स्थापित कर देना उपयोगी प्रतीत होता है। छोटे-मोटे गावों तथा मुहल्लों में बालक बालिकाएँ साथ-साथ पढ़ सकती हैं। इस स्तर की अन्तिम दो कक्षाओं में बालिकाओं की अवस्था लगभग दस-ग्यारह वर्ष की हो जाती है। अच्छा हो यदि ऐसे विद्यालयों में एक-दो अध्यापिकाएँ भी नियुक्त रहें। इनकी नियुक्ति से अनेक सुविधाएँ प्राप्त हो सकती हैं। जिन विद्यालयों में बालक-बालिकाओं को साथ-साथ शिक्षा दी जाती हो वहाँ के अध्यापक-अध्यापिकाओं को विशेष रूप से स्वस्थ, सुशील, चरित्रवान, कर्मठ तथा उदार होना चाहिए। ऐसी संस्थाओं में ये नियुक्तियाँ अधिकाधिक सावधानी से होनी चाहिए। इस प्रकार की संस्थाओं में सबसे बड़ी कठिनाई की सम्भावना यह है कि वातावरण पर बालकों और पुरुषों के हावी होने से बालिकाओं की गृह-व्यवस्था के अभ्यास सुचारु रूप से सम्पादित न हो सकेंगे। इसका कोई न कोई उपाय सोचना पड़ेगा।

कन्या-विद्यालयों की शिक्षा के सम्बन्ध में हमें विशेष रूप से जागरूक होना है। तीस वर्ष की अवस्था तक सफलतापूर्वक गुरुजन-सेवा के निमित्त जिन-जिन क्षमताओं की आवश्यकता है उनका बीजारोपण कन्याओं में विधिवत् करना पड़ेगा। इस उद्देश्य की पूर्ति में समय लगेगा। इस समय हम लोगों को सर्वसम्मति से केवल यह स्वीकार कर लेना है कि (क) कन्याओं की वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था पूर्णतया पाश्चात्य पद्धति पर आधारित है और (ख) इस व्यवस्था से कर्म-प्रधान संस्कृति एवं सामूहिक परिवार, पूर्वजन्म-पुनर्जन्म त्याग, आत्मनियंत्रण; आदि को यही नहीं कि प्रोत्साहन नहीं मिल रहा है प्रत्युत क्षति पहुँच रही है। यदि रोग का यह सच्चा निदान मान लिया जायगा तो इसकी औषधियाँ भी धीरे-धीरे तैयार हो ही जायँगी। इसमें

सन्देह नहीं कि अनेक वर्षों से साधारण से साधारण रोग से भी मुक्त होने के लिए विदेशी ही औषधियों का प्रयोग करते-करते हमारी औषधि-अन्वेषण की क्षमता भी तिरोहित है। उपर्युक्त बीजारोपण के निमित्त शारीरिक और मानसिक दोनों ही प्रकार के अभ्यास करने पड़ेंगे। नम्रता-विकास तथा शक्ति-संचय के उद्देश्य से कन्याओं की दृष्टि यथासम्भव पृथ्वी की ओर रहे। अकेली हों अथवा समूह में परन्तु इस आदर्श का पालन होना चाहिए। उनके भोजन में सादगी तथा सात्त्विकता होनी चाहिए। इसका अधिकांश दायित्व तो माता-पिता तथा परिस्थितियों पर निर्भर है परन्तु कन्या-विद्यालयों में प्रत्येक स्तर के परिवार के अनुकूल भोजन की व्याख्या, आदि होती रहे।

कन्या विद्यालयों में सादगी के सभी अंगों और उपांगों को महत्त्व देना आवश्यक है। ऐसे वातारण का निर्माण हो कि धनी से धनी व्यक्तियों की कन्याएँ भी साधारण से साधारण वेश-भूषा में आने के लिए प्रेरित तथा उत्सुक हों। परन्तु स्मरण रहना चाहिए कि साधारण वेश-भूषा का स्वच्छता से अटूट सम्बन्ध है। अपनी कन्याओं में स्वच्छता का प्रचार हमें विशेष रूप से करना है। आजकल की पढ़ी-लिखी लड़कियाँ प्रायः अच्छे घरों की होती हैं और दूर से वे साफ सुथरी भी दिखाई पड़ती हैं। उनकी यथाकथित स्वच्छता चमक-दमक में उनका निजी योग नहीं के बराबर होता है। दूसरे शब्दों में माता-पिता के पैसों से उनके वस्त्र तो स्वच्छ तथा चमकीले-चटकीले अवश्य होते हैं परन्तु उनका शरीर प्रायः स्वच्छ नहीं रहता। स्वच्छता की प्रथम कसौटी शरीर ही है। साथ ही साथ कन्याओं को स्वच्छता-प्रिय भी होना चाहिए। बहुत सी लड़कियां अपना शरीर और वस्त्र तो स्वच्छ रखती हैं परन्तु पड़ोसियों तथा अड़ोस-पड़ोस की स्वच्छता का ध्यान नहीं रखतीं। भावी कन्याओं को इस ओर विशेष जागरूक करना है। स्वच्छता का विशेष प्रचार तथा प्रसार ग्रामीण वातावरण में करना है। वहाँ की दशा इस समय वास्तव में शोचनीय है। स्वच्छता का कोई सस्ता से सस्ता और अच्छा से अच्छा ऐसा नुस्खा तैयार करना है कि उसके अनुसार सुविधापूर्वक चलकर भारतीय कन्याएँ अपना और अपने गाँवों का जीवन स्वच्छता-प्रधान व्यवस्थित कर सकें।

भारतीय कन्याओं के हृदय और मस्तिष्क में स्वच्छता की ऐसी रूप-रेखा अंकित करनी है कि इसे वे आत्म-प्रचार का साधन समझने के वर्तमान भ्रम से मुक्त होकर आत्मसंस्कार की प्रथम सीढ़ी मानने लगें। कार्य सुगम तथा सरल नहीं है। आदर्शों की भिन्नता से हमारी मौलिक परम्परा में स्त्रियों की

सामूहिक शिक्षा सम्भव तथा आवश्यक न थी। फलतः इस कार्य के लिए अपनी संस्कृति से हमारा कुछ भी पथ-प्रदर्शन न हो सकेगा। यदि भारतीय कन्याएँ स्वच्छता को आत्मसंकार की प्रथम सीढ़ी विधिवत् स्वीकार कर लेती हैं तो विश्व सांस्कृतिक विकास में यह हमारा कोई मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण योग होगा। स्वच्छता और सजावट में (कम से कम वर्तमान भारतवर्ष में) इस समय इतना अधिक तथा अस्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित हो गया है कि वास्तविक तथा उपयोगी स्वच्छता तिरस्कृत सी है। पैसे के बल पर शीघ्र से शीघ्र और अनोखे से अनोखे सजावट के ऐसे ऐसे इन्द्रजाल उपस्थित कर दिये जाते हैं कि वास्तविक स्वच्छता के कठिन चक्कर में पड़ने की आवश्यता ही नहीं दीखती। पढ़े-लिखे तथा धनी-मानी लोगों के इसी सरल मार्ग का अनुसरण करने से अपार धन-हीन जनता के पथ-प्रदर्शन के लिए उपयोगी तथा सच्ची स्वच्छता का कोई उदाहरण ही नहीं दीखता। साधारण लोगों का यह विश्वास है कि स्वच्छता केवल धनिकों का दायित्व है। कन्याओं की भावी शिक्षा के माध्यम से देश को इस भ्रम से मुक्त करना सरल होगा।

किशोरी-विद्यालयों के तारतम्य में हमें विशेष रूप से सावधान तथा जागरूक होना है। कन्याओं के वर्तमान उच्चतर विद्यालयों के वातावरण में आमूल परिवर्तन करना पड़ेगा। इस समय विवाहिता लड़कियों की शिक्षा के लिए सिद्धान्ततः कोई विशेष बाधा नहीं दीखती परन्तु कुमारियों के सम्मुख उन्हें झेंपना पड़ता है। दूसरे शब्दों में यदि किसी लड़की को पर्याप्त शिक्षा देनी है तो उसे कुमारी रखना अनिवार्य सा हो गया है। एक ओर शिक्षा और समाज में सामञ्जस्य न होने से और दूसरी ओर कुमारी रहने के लिए बाध्य होने से लड़कियों की शिक्षा के सम्बन्ध में अनेक गुत्थियाँ उलझती रहती हैं। फिर इसमें आश्चर्य ही क्या कि किसी लड़की को जितनी ही अधिक वर्तमान शिक्षा दी जा रही है वह अपने समाज और अपनी संस्कृति से उतनी ही दूर होती जा रही है। अन्य उन्नतिशील देशों में उनके आदर्शों और उनकी आवश्यकताओं के अनुसार चाहे जो कुछ भी हो रहा हो परन्तु भारतवर्ष की शिक्षा की भावी रूप-रेखा हमें ऐसी बनानी है कि किशोरी-विद्यालयों में विवाहिता लड़कियों की शिक्षा के लिए अधिकाधिक सुविधाएँ तथा प्रोत्साहन प्राप्त हो सकें। पाश्चात्य परम्परा के अनुराग-प्रधान होने से वहाँ के विद्यार्थियों को कुमार या कुमारी रहना अथवा रहने का स्वांग रचना आवश्यक है। विवाह हो जाने पर राग-रङ्ग में लगातार लिप्त होने से एवं अध्ययन अथवा अन्य ऊँचे कर्मों से च्युत होने से उन्हें रोकने के

लिए उनके समाज में कोई विशेष व्यवस्था नहीं है। परन्तु भारतवर्ष की त्याग-प्रधान परम्परा के सामूहिक परिवारों में नव-दम्पतियों के आवश्यक नियंत्रण की पग-पग पर व्यवस्था है।

विवाह के फल-स्वरूप लड़कियों के जीवन में आमूल परिवर्तन हो जाता है। माता-पिता के घर से विदा होकर उन्हें नवीन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। जीव होने के नाते राग-रङ्ग का आकर्षण असाधारण अवश्य है परन्तु सामाजिक जीव होने से उनकी अनेक अन्य आवश्यकताएँ भी महत्त्व-पूर्ण तथा गुरुतर होती हैं। पति की प्रथम सुविधा प्रकृति-प्रदत्त है अर्थात् वह अपेक्षाकृत बलवान् होता है और दूसरे अपने ही वातावरण में वह बना रहता है। राग-रङ्ग के प्रसंग में वह पत्नी के चाहे जितना निकट तथा वश में हो जाय परन्तु अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रश्न उठते ही वह प्रायः उस पर हावी हो जाता है। यदि इस तार-तम्य में कहीं अपवाद या व्यतिक्रम मिलता है तो उसके अन्य कारण होते हैं। अवस्था ढलने के साथ-साथ राग-रङ्ग में तो उत्तरोत्तर ह्रास होने लगता है परन्तु सन्तानोत्पत्ति तथा गृहस्थी के विस्तार के साथ-साथ अन्य आवश्यकताएँ विस्तृत तथा जटिलतर होती जाती हैं। इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्त्ति में पति-पत्नी में जितना ही सामञ्जस्य स्थापित तथा सम्भव हो उतना ही उनका जीवन पूर्ण तथा सुखी हो पाता है। पाश्चात्य परम्परा में 'सम्बन्ध-विच्छेद' की व्यवस्था इतनी स्पष्ट तथा व्यापक होने से यह लिखना तो उचित नहीं दीखता कि उसके प्रवर्तकों का इन बारीकियों की ओर ध्यान नहीं गया था परन्तु इतना लिखने में संकोच भी नहीं होना चाहिए कि वहाँ के दाम्पत्य जीवन में वास्तविक सुख तथा शान्ति निहित करने में वे लोग सफल नहीं हो सके हैं।

यहाँ पर एक भ्रम को स्पष्ट कर देना परमावश्यक है। प्राचीन भारतवर्ष में विद्यार्थी पच्चीस वर्ष की अवस्था तक अविवाहित रहकर ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते थे। इससे यह निष्कर्ष निकालना भूल होगी कि वर्तमान काल में जब स्त्रियों की शिक्षा की इतनी व्यापक व्यवस्था की जा रही है तो चौदह या सोलह या अठारह वर्ष की अवस्था तक उन्हें भी कुमारी क्यों न रहने दिया जाय। उस समय शिक्षा के आदर्श और सिद्धान्त सर्वथा भिन्न थे। उस ब्रह्मचर्य के सफल होने का कारण यही था कि उसका पालन बस्ती से दूर जङ्गलों में स्थापित गुरुकुलों में होता था। पाश्चात्य संसर्ग से अस्वा-भाविक रूप में अर्जित वर्तमान कुमार—कुमारी के स्वांग को प्राचीन आदर्शों से प्रमाणित करना कदापि उचित नहीं। भावी योजना में भी यदि कोई लड़की

कुछ समय तक कुमारी रहकर शिक्षा ग्रहण करती है तो इसमें किसी को लेश मात्र भी आपत्ति न होगी। हाँ; यह स्पष्ट करने का प्रयत्न अवश्य किया जा रहा है कि शिक्षा की रूप-रेखा में ऐसे हेर-फेर किये जाँय कि एक ओर लड़कियाँ अकारण कुमारी रहने के लिए प्रेरित न हों और दूसरी ओर विवाहिता लड़कियाँ अधिकाधिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए उत्सुक हों। शिक्षा को ज्यों-ज्यों वास्तविक जीवन के निकट लाया जायगा त्यों-त्यों इस ओर भी प्रगति होगी।

भावी किशोरी-विद्यालयों में विवाहिता लड़कियों की शिक्षा पर विशेष ध्यान देने का निवेदन किसी माया अथवा कट्टरता के वशीभूत होकर नहीं किया जा रहा है। विवाहोपरान्त प्राप्त की हुई शिक्षा उन्हें अपने नवीन वातावरण की गुत्थियों को सुलझाने में सहायक होगी। राग-रङ्ग के अतिरिक्त जिन अन्य महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं का ऊपर संकेत हुआ है उन्हीं की पूर्ति की एवं गुरुजन-सेवा की विधियाँ विवाहिता लड़कियों को विधिवत् बताई जायँगी। विज्ञान तथा जनतंत्र के विकास से प्राचीन अथवा मध्यकालीन सामूहिक परिवारों का पूर्णरूप से पुनरुद्धार सम्भव नहीं। कितना ही प्रयत्न करने पर भी भविष्य में संगठित होनेवाले सामूहिक परिवारों में मालिक और मालिकिनों द्वारा सभी वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्त्ति न हो पायेगी। फलतः सभी महिलाओं को उचित योग देना सीखना है। इसमें सन्देह नहीं कि इस शिक्षा के ग्रहण करने में प्राकृतिक, सामाजिक, व्यावहारिक, आदि अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं। ग्रामीण वातावरण में तो विवाहिता लड़कियों की शिक्षा और भी कठिन है। परिस्थितियों की प्रतिकूलता से हताश नहीं होना है। भावी शिक्षा-योजना ज्यों-ज्यों विस्तृत तथा व्यवस्थित होती चलेगी त्यों-त्यों परिस्थितियों में भी सुधार होता चलेगा। वर्तमान शिक्षा से अधिकाधिक लोग इसीलिए उदासीन हैं कि इसमें व्यावहारिकता का सर्वथा अभाव है। शिक्षा और जीवन में ज्यों ही सामञ्जस्य स्थापित होने लगेगा त्यों ही लोग अपने आप इसके लिए लालायित तथा उत्सुक होंगे।

उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में विशेष नहीं कहा जा सकता। यदि किशोरी-विद्यालय तक की शिक्षा अपनी संस्कृति और परम्परा के अनुरूप विकसित तथा व्यवस्थित हो जायगी तो उच्च शिक्षा भी उसी रंग में स्वतः ढल जायगी। प्रतिभा-सम्पन्न तथा प्रयत्नशील महिलाएँ इस ओर अवश्य ही अग्रसर होंगी। साधारण परिस्थितियों में महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में सावधानी से सह-शिक्षा की भी व्यवस्था की जा सकती है। लड़के और लड़कियाँ अलग-

अलग तो पड़ेंगी ही परन्तु प्रत्येक ऊँची कक्षा में दो-एक वर्ग ऐसे हों जिनमें संयमी लड़के-लड़कियाँ (चाहे कुमार-कुमारी हों अथवा विवाहित-विवाहिता हों) एक साथ पढ़ें। ऐसे वर्गों के अध्यापक-अध्यापिकाओं का चरित्र भी सर्वोच्च तथा आदर्श होना चाहिए। किसी भी महाविद्यालय तथा विश्व-विद्यालय की सफलता एवं ख्याति की प्रथम कसौटी सह-शिक्षा की व्यवस्था ही होगी।

[निष्कर्ष]

सिंहावलोकन—भारतीयता के पुनरुत्थान में महिलाओं से सम्बन्धित कुछ विशेष गुत्थी; पाश्चात्य विचारधारा के प्रभाव से यह सर्वमान्य सा है कि प्राचीन भारतवर्ष में महिलाओं और हरिजनों के साथ जान-बूझकर घोर अन्याय; परन्तु तथ्य कुछ और ही; इस देश के जलवायु पर विजय प्राप्त करने के लिए त्याग-प्रधान जीवन; त्याग-अभ्यासों से च्युत होने में महिलाएँ सबसे बड़ा कारण; फलतः उनसे सम्पर्क सीमित एवं नियमित। साथ ही कर्म प्रधान परम्परा में प्रकृति से ही बहुत अधिक दायित्व पा जाने से सामाजिक व्यवस्था में उन्हें अधिक काम देना कहाँ सम्भव? साथ ही, युवावस्था में पति के सम्पर्क में काम एवं नियमित रूप से रहकर यदि त्याग करती थीं तो वृद्धावस्था में बहुएँ और बेटियाँ उनकी सेवा करती थीं; वृद्ध और वृद्धाओं का जीवन भारतीय परिवारों में सर्वाधिक सुखी तथा शान्त। पाश्चात्य परिवारों की रूप-रेखा संकुचित; होटलो में चहल-पहल; कर्म-प्रधान भारतीय परम्परा में विस्तृत एवं सामूहिक परिवार अपेक्षित; महिलाओं की माया वास्तविक और प्रत्यक्ष होने से सामूहिक परिवार की रक्षा के लिए भी कुछ नियंत्रण में रखना आवश्यक; महिलाओं की माया का चित्रण कुछ न कुछ सभी देशों और समाजों में; गोस्वामी तुलसीदास के साथ-साथ शेक्स-पियर भी महिलाओं की दुर्बलता के प्रति सतर्क एवं जागरूक। इन्द्रिय-जन्य सुख सभी योनियों में समान रूप से; बालभक्त प्रह्लाद का उपदेश। अन्य संस्कृतियों में प्रस्तुत जीवन एवं पशु-जीवन को ही महत्त्व; भारतीय परम्परा में भी उच्चकोटि का भोग-विलास परन्तु त्याग के माध्यम से; त्याग के माध्यम से अनुराग तर जाना उपयोगिता की कसौटी पर खरा। त्याग के माध्यम से अनुराग पर जाने से व्यक्तियों में किसी अनोखी विशेषता का प्रादुर्भाव और विकास; त्याग का मार्ग छोड़ देने से भारतवर्ष के वर्तमान दम्पतियों का जीवन दुखी एवं विपन्न; नाना प्रकार की औषधियों का प्रयोग—एक मन के वश में

न होने से अनेक यातनाओं का सामना। यहां के पुरुषों के बहु-विवाह और 'विधवा-विवाह-निषेध' की भी पाश्चात्य विद्वानों द्वारा तीव्र आलोचना ये भी सामूहिक परिवारोंके निमित्त। पाश्चात्यपरम्पराके'सम्बन्ध-विच्छेद' और'सम्बन्ध सृजन' की इसी प्रसंग में व्याख्या। भारतीय विद्वानों एवं कर्णधारों को सावधान होने की आवश्यकता; भारतवर्ष ही नहीं प्रत्युत सभी पूर्वी देशों की शिक्षित महिलाएँ अपनी पाश्चात्य बहनों से प्रत्येक बात में होड़ के लिए उद्यत; महिलाएँ ही नहीं प्रत्युत पुरुष भी इसके लिए प्रयत्नशील; अनेक धाराएँ पास की जा रही हैं; भारतीय महिलाओं को यह अस्वाभाविक प्रोत्साहन किसी आधार पर नहीं। यह कुप्रभाव शिक्षित परिवारों तक ही सीमित नहीं; सभी स्तर के परिवार और दम्पति इससे संतप्त तथा प्रभावित।

<u>भावी योजना में भारतीय महिलाओं के दायित्व</u>—(क) <u>गुरुजन-सेवा</u>—लगभग तीस वर्ष की अवस्था तक गुरुजन सेवा; उनका पाणी-ग्रहण उचित अवस्था में ही; इस संस्कार के बिना सेवा अधूरी; नियमित और नियंत्रित दाम्पत्य जीवन एवं सन्तानोत्पत्ति भी; भावी शिक्षा के कार्यान्वित होने पर वातावरण में पर्याप्त सुधार एवं परिवर्तन; मुद्रण कला के प्रभाव से सभी व्यक्तियों को उपयोगी होने का अहंकार; स्वर्गीय चन्द्रशेखर आजाद सम्बन्धी घटना। सेवा के ही माध्यम से उपयुक्त दाम्पत्य जीवन को भी पर्याप्त प्रोत्साहन मिलने की सम्भावना; शासन, व्यापार, प्रचार, आदि में महिलाओं का लगना उचित नहीं; कुछ विशेष प्रकार की महिलाएँ नियुक्त हो सकती हैं। गुरुजनों के अन्तर्गत अनेक लोग; कुछ का अत्यधिक तिरस्कार; सन्तानों के विकास पर इसका बुरा प्रभाव। भतीजी के पणि-ग्रहण सम्बन्धी घटना का उल्लेख; इस व्यक्तिगत घटना का उल्लेख इस लिए कि इससे कई आदर्शों की पुष्टि; विश्वास, कृत्तज्ञता, वचन-पालन, आदर्श-पालन, धर्म-रक्षा, आदि अनेक विशेषताओं की इस घटना में पुष्टि। शिक्षा, आदि कार्यों में लगनेवाली महिलाओं का भी तीस वर्ष की अवस्था तक मुख्य धर्म वही सेवा; 'सर्विस' का अनुवाद भी 'सेवा' ही किया जाता है परन्तु सर्विस का आधार अनुराग परन्तु सेवा का त्याग। प्राचीन वर्ग-भेद के लिए तो अब स्थान नहीं परन्तु 'कर्म' निश्चित रूप से योग्यता के अनुसार; व्यक्ति प्रधान समाज में कर्म-निर्धारण अपने अनुसार परंतु कर्म-प्रधान समाज में समाज के अनुसार; इसी लिए भारतीय परम्परा में कोई भी व्यक्ति कुमार अथवा कुमारी रह जाने के लिए स्वतंत्र नहीं।

(ख)—<u>गृह-व्यवस्था</u>—तीस वर्ष की अवस्था के उपरान्त सुगृहिणी; पारिवारिक एवं गृह व्यवस्था ऐसी कि पिछले अध्यायों में शिक्षकों, अभिभावकों

और छात्रों के लिए निर्धारित दायित्वों की पूर्त्ति सम्भव एवं सुलभ। शिक्षकों को अनुजों एवं अग्रजों के प्रति अधिकाधिक उदार होना है; पत्नी एवं गृहिणी के सहयोग बिना इस दायित्व की पूर्त्ति कठिन; 'अपने' और 'पराए' की दुर्बलता पर विजय पाना; अधिक धन कमाने वाले व्यक्तियों की पत्नियों में त्याग और सहनशीलता एवं उदारता की विशेष आवश्यकता; विधवाओं और दुर्बल व्यक्तियों की पत्नियों के साथ समुचित उदारता के साथ व्यवहार करना। सादगी को अधिकाधिक महत्त्व; अतिथि-सत्कार में समुचित रुचि एवं सहयोग। भारतीय गृह-व्यवस्था में कूटनीति, कपट, छल-छद्म, आदि को लेश मात्र भी स्थान नहीं; पड़ोसियों, आश्रितों, आदि के प्रति अधिकाधिक उदार। महिलाएँ स्वयं लक्ष्मी—फलतः कृत्रिम लक्ष्मी (धन-धान्य) के लिए उनका व्यग्र होना या रहना स्वाभाविक नहीं। शारीरिक श्रम परमावश्यक; नौकरों से 'होम' का भी काम नहीं चलता तो 'गृह' की व्यवस्था कहाँ तक सम्भव। जीवन में 'सन्तोष' को समुचित प्रोत्साहन; कठिन से कठिन और विषम से विषम परिस्थिति में इसका उपयोग। विशेष परिस्थितियों में पुरुषों का बहु-विवाह आवश्यक एवं उपयोगी। संक्षेप में महिलाओं को जीवन की कुछ विषमताओं के निमित्त कटिबद्ध रहना आवश्यक।

स्त्री शिक्षा की रूप-रेखा—प्रथम पाँच वर्ष की शिक्षा बालकों और बालिकाओं को समान रूप से; साथ-साथ पढ़ने में भी कोई विशेष कठिनाई नहीं। कन्या विद्यालयों में गुरुजन-सेवा (तीस वर्ष की अवस्था तक) की तैयारी आरम्भ; शारीरिक और मानसिक–दोनों ही प्रकार के अभ्यास। सादगी के अंगों और उपांगों पर विशेष ध्यान; वास्तविक स्वच्छता की ओर कन्याओं को आकर्षित करना। किशोरी-विद्यालयों के तार-तम्य में विशेष परिवर्तन; अधिकांश छात्राएँ विवाहिता; महिलाओं की शिक्षा यदि आवश्यक तो विवाहिता होने पर ही उनकी शिक्षा उपयोगी। प्राचीन काल में पुरुष पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य-व्रत में अस्तु किशोरियाँ भी कुमारी; यह विचार-धारा इस समय के लिए उपयोगी नहीं; शिक्षा के उद्देश्य और समाज के वातावरण में असीमित परिवर्तन। विवाहोपरान्त प्राप्त शिक्षा उनके जीवन की गुत्थियों के अनुरूप। उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में अधिक कहना अभी सम्भव नहीं; प्रतिभा-सम्पन्न महिलाएँ ऊँची शिक्षा अवश्य प्राप्त करेंगी; संयमी लड़के-लड़कियाँ साथ-साथ अध्ययन कर सकती हैं।

अध्याय १०

भावी शिक्षा-योजना में पाठ्य-क्रम तथा परीक्षा

(क) पाठ्य-क्रम

सिंहावलोकन—उपयुक्त पाठ्य-क्रम का निर्धारण साधारण परिस्थितियों में भी कठिन होता है। इसके निमित्त अनुभवी तथा प्रतिभा-सम्पन्न विद्वानों की समितियाँ बनाई जाती हैं और महीनों तक सतत प्रयत्न किये जाते हैं— फिर भी कोई ऐसा पाठ्यक्रम नहीं बन पाता है जिससे कि किसी समाज के सभी स्तर के छात्रों का समान रूप से समुचित कल्याण हो सके। यहाँ तो परिस्थिति ही सदा भिन्न है। इस योजना में कई ऐसे सुझाव दिये गये हैं जिनके कार्यान्वित होने पर शिक्षा और समाज में शान्तिपूर्ण क्रान्ति की स्थिति आजायगी। यह अनुमान लगाना अभी कठिन है कि देश के कर्णधार इन सुझाओं में से कितनों से और कहाँ तक सहमत होने की कृपा करेंगे। कुछ भी हो, देश के सभी उदार विद्वान इस बात पर एकमत हैं कि यहाँ के नवीनतम पाठ्य-क्रम भी विदेशी आदर्शों पर ही अवलम्बित हैं। इनके अस्थि-पंजर में जहाँ-तहाँ विकृत भारतीयता के जोड़-तोड़ भले ही देखने को मिल जायँ परन्तु इनके प्राण अभारतीय ही हैं। इस भावी योजना के अनुरूप पाठ्य-क्रम की व्याख्या में भी यही प्रयत्न किया जा रहा है कि भारतवर्ष की मौलिक समस्याओं एवं आवश्यकताओं पर विचार किया जाय।

शिक्षा एवं पाठ्यक्रम से सम्बन्धित प्रथम समस्या भाषा की है। बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा के सम्बन्ध में विशेष विवाद नहीं है। इस स्तर की शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होने में किसी को आपत्ति नहीं है। अभाग्यवश कुछ कठिनाइयाँ इसके सम्बन्ध में भी अंकुरित हो गई हैं। उत्तर प्रदेश में अनेक बच्चे ऐसे हैं जिनकी मातृभाषा उर्दू कही जाती है। भाषा सम्बन्धी विकट समस्या माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में खड़ी हो गई। इस महान देश तथा राष्ट्र की राष्ट्र-भाषा घोषित तथा स्वीकृत हो जाने से हिन्दी को वैधानिक प्रोत्साहन अवश्य प्राप्त हो गया है परन्तु किसी विषय अथवा भाषा का विकास, प्रसार, विस्तार, आदि केवल 'विधान' के ही बल पर उन देशों में भी सम्भव नहीं होता जिनके कि वातावरण में वैधानिकता पग-पग पर बिखरी हुई है। भारतवर्ष में तो इसका

अभी श्री गणेश हुआ है। किसी भी विषय अथवा भाषा का समुचित विकास उसकी उपयोगिता, उसमें लोगों की रुचि, उसके अध्यापन आदि कई प्रसंगों पर निर्भर है। यह रूप-रेखा साधारणतः उन विषयों के सम्बन्ध में चरितार्थ हो सकेगी जो सर्वमान्य तथा विवाद-रहित होते हैं। अभाग्यवश हिन्दी को यह गौरव पूर्ण तथा स्वाभाविक रूप से जब यथाकथित हिन्दी प्रान्तों में ही नहीं प्राप्त है तो अहिंदी प्रांतों के सम्बन्धमें कुछ कहने का प्रश्न ही क्या उठ सकता है? दूसरे शब्दों में हिन्दी भाषा तथा साहित्य के समुचित विकास के लिए उपयुक्त वातावरण का अभाव-सा है।

हिंदी भाषा तथा उसके साहित्य की उपयोगिता निर्धारित करना सरल नहीं। भाषा के सम्बन्ध में विशेष कठिनाई नहीं है; वास्तविक गुत्थी साहित्य से सम्बन्धित है। उपयोगिता का निर्धारण उच्चकोटि के विद्वानों एवं कलाकारों द्वारा किया जाता है। प्रसंगवश पिछले अध्यायों में कई बार उल्लेख हो चुका है कि जिस शिक्षा को प्राप्त करके हमारे वर्त्तमान विद्वान अपनी योग्यता और प्रतिभा को बढ़ाये हैं उसकी रूप-रेखा व्यक्तित्व प्रधान, उसका आधार ज्ञान-मूलक और उसका सन्देश अनुराग प्रधान है। वर्त्तमान काल एवं जीवन के सुख-दुख का न्यूनाधिक अनुभव साधारण से साधारण व्यक्ति ही नहीं प्रत्युत पशु-पक्षी भी करते रहते हैं। परन्तु विद्वानों से यह आशा की जाती है कि वे वर्त्तमानकाल तक ही सीमित न रहकर भूत का भी समुचित अध्ययन करें और अपनी प्रतिभा तथा विद्वता के बल पर भूत और वर्त्तमान की विशेषताओं में सामञ्जस्य स्थापित करके भविष्य का सुन्दरतम रूप-रेखा खींचे। भारतवर्ष की मौलिक तथा वास्तविक शिक्षा की रूप-रेखा भक्ति-प्रधान, उसका आधार कर्म-प्रधान और सन्देश त्याग-प्रधान होने से हमारे भारतीय विद्वान न तो यहाँ के भूत और वर्त्तमान की विशेषताओं का समुचित अध्ययन कर पा रहे हैं और न इनकी विशेषताओं में सामञ्जस्य स्थापित करके भविष्य के लिए कोई ठोस योजना ही प्रस्तुत करने में समर्थ हैं। पाश्चात्य विद्वान अपनी विद्वता और अपने अतीत में कोई मौलिक अन्तर नहीं पाते परन्तु भारतीय विद्वानों को इस प्रसंग में घोर से घोर संघर्षों का शिकार पग-पग पर होना पड़ता है।

भारतवर्ष के वर्त्तमान विद्वानों के ऊपर यहाँ के अतीत तथा यहाँ की संस्कृति का न तो कोई स्थायी प्रभाव प्रतीत होता है और न प्रत्यक्ष रूप से वे उसके ऋणी हैं। यही कारण है कि अपने वर्त्तमान प्रयत्नों में जब तक वे यथाकथित सफलता प्राप्त करते रहते हैं तब तक तो यहाँ के अतीत एवं यहाँ की संस्कृति की अनोखी विशेषताओं की आलोचना करते हैं परन्तु ज्यों-ज्यों कठिनाइयों से घिरने लगते हैं त्यों-त्यों यहाँ की अधिकाधिक विशाल परम्परा के निकट आने के लिए विवश होते हैं। भारतवर्ष के वर्त्तमान विद्वानों की तृप्ति एवं जिज्ञासा-पूर्ति के लिए यहाँ

के अतीत में कोई विशेष सामग्री है भी नहीं। यहाँ के अतीत एवं मौलिक संस्कृति की वास्तविक तथा विशुद्धतम प्रतीक होने के कारण हिन्दी-साहित्य की भी लगभग वही दशा है। 'माई कांट्री, माई नेशन, आदि' के ही लिए सब कुछ करने को प्रेरित करने वाले इस युग में 'वसुधैव कुटुम्बकं' का अस्थायी रूप से साहित्यिक आनन्द कुछ लोग भले ही ले लें परन्तु इसकी उपयोगिता में तनिक भी विश्वास करने की मूर्खता बिरला ही कोई विद्वान कर सकता है। पिछले पचास-साठ वर्षों का हिन्दी साहित्य तो नवीनता एवं पाश्चात्य आदर्शों के रंग में अस्वाभाविक रूप से विधिवत् रँगा हुआ अवश्य है और ऐसी ही रचनाओं को विविध प्रोत्साहन भी मिल रहा है परन्तु फिर भी जो नवीनता अथवा चमक-दमक बंगाली, मराठी, तमिल, तेलगू आदि भाषाओं के साहित्यों में उपलब्ध है वह हिन्दी में कहाँ मिल सकती है।

हिन्दी भाषा तथा उसके साहित्य को भारतीय संस्कृति एवं अतीत का प्रतीक किसी मायावश नहीं कहा जा रहा है। किसी भी अभारतीय दल का प्रवेश या तो पश्चिमोत्तर अर्थात् खैबर की घाटी से हुआ अथवा समुद्री मार्गों से। हिन्दी क्षेत्र अथवा हिन्दी क्षेत्र के केन्द्र तक विदेशी प्रभावों के पहुँचने में विलम्ब होता था। साथ ही, हिन्दी क्षेत्र तक पहुँचते-पहुँचते विदेशियों के विदेशीपन में पर्याप्त भारतीयता का समावेश हो जाता था। फलतः परिस्थिति यह है कि मध्यकाल में जो परिवर्तन पञ्जाबी भाषा अथवा भाषाओं एवं उनके साहित्यों में हुआ होगा वर्त्तमान काल में जो नवीनता अथवा चमक-दमक हमें बंगाली, मराठी, गुजराती, तमिल, तेलगू, आदि भाषाओं तथा उनके साहित्यों में प्राप्त है वह हिन्दी को न मिल सकी। भारतीय तथा अभारतीय विद्वान ठीक ही मानते हैं कि हिन्दी साहित्य का अन्य भारतीय भाषाओं के बराबर विकास अथवा विस्तार नहीं हो सका है। किसी भी हिन्दी-प्रेमी को ऐसी बातों के सुनने से हताश तथा खिन्न नहीं होना चाहिए। ऐसे विचारों का उपयोगिता के दृष्टिकोण से चाहे जितना तिरस्कार किया जाय परन्तु वास्तविकता से इन्हें दूर मानना उचित प्रतीत नहीं होता।

किसी भी वस्तु, व्यक्ति, प्रसंग, आदि को अनुचित एवं असामयिक प्रोत्साहन देने से लाभ की अपेक्षा हानियाँ अधिक होती है। ऐसे अवसरों पर माया के वशीभूत होकर प्रतिकूल प्रवृत्तियों को अस्वाभाविक रूप से दबा दिया जाता है। इससे क्षणिक अथवा अस्थायी कल्याण भलेहो हो जाता हो परन्तु उचित तथा उपयोगी सफलता की आशा स्वप्न में भी नहीं की जा सकती। इसे मान लेने में तनिक भी संकोच नहीं होना चाहिए कि एक ओर अनुराग पर आधारित तथा दूसरी ओर विज्ञान और जन तंत्र से आभूषित नवीन धाराओं का पोषण एवं

चित्रण हिन्दी भाषा तथा इसके साहित्य द्वारा उतना सुलभ नहीं है जितना कि भारतवर्ष की अन्य वर्त्तमान भाषाओं तथा उनके साहित्यों में हो रहा है। वर्त्तमान राष्ट्र, राष्ट्रियता, राष्ट्रभाषा, मातृभाषा, आदि की रूप-रेखा हमने पाश्चात्य परम्परा से ग्रहण की है। पाश्चात्य परम्परा के मूलाधार प्राचीन रोम और यूनान के आदर्श तथा सिद्धान्त हैं। उस समय राज्यों की भौगोलिक सीमा बहुत बड़ी नहीं होती थी। यूरोप के भी कोई वर्त्तमान राज्य भारतवर्ष के प्रान्तों से भी छोटे हैं। उनमें अधिकांश ऐसे हैं जिनकी मातृ-भाषा और राष्ट्र भाषा में कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकार पाश्चात्य परम्परा के वर्त्तमान सन्देशों एवं उपदेशों में मातृभाषा और राष्ट्रभाषा की विशद तथा लुभावनी व्याख्या तो पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है परन्तु इनसे सम्बन्धित किसी संघर्ष अथवा द्वन्द्व को सुलझाने की क्षमता या व्यवस्था नहीं है।

हमारी राष्ट्रियता अभी विकसित तथा व्यवस्थित अथवा यों कहा जाय कि परिमार्जित नहीं है। सन् १६४७ में स्वतंत्र हम कुछ अचानक हो गये। अचानक से यह शंका नहीं होनी चाहिए कि स्वतंत्रता के लिए हम अयोग्य थे -- कदापि नहीं। इसका रहस्य यह है कि जिस शान्ति और व्यवस्था के साथ हम मुक्त हुए वह संसार के इतिहास में अनोखी है और उसे पूर्ण रूप से ऐसी होने की आशा साधारणतः नहीं की जा सकती थी और अन्तिम समय तक (२५ अगस्त १६४७ की अर्द्धरात्रि तक) की भी नहीं जाती थी। चूँकि अनुकूल तथा प्रतिकूल सभी ग्रह भारतवर्ष को तत्काल स्वतंत्र करने के लिए स्वयं प्रयत्नशील हो गये अस्तु सत्तान्तर की कम से कम वाह्य रूप-रेखा वास्तव में शिष्टता तथा सद्भावना से ओत-प्रोत रही। परन्तु स्मरण रहना चाहिए कि इस प्रकार की असामयिक तथा अस्वाभाविक शान्ति, शिष्टता, सद्भावना, आदि का हमें असीमित मूल्य चुकाना पड़ रहा है। देश-विभाजन, विभाजन-कलह आदि से ही वह भुगतान पूरा न हो सका। समझौते के फल स्वरूप विदेशी सत्ता की अनेक ऐसी रूढ़ियों और उसके ऐसे दायित्वों को स्वीकार करना पड़ा जिनके सम्पादन से हमारी राष्ट्रियता को यही नहीं कि योग नहीं मिलता प्रत्युत घोर धक्का पहुँच रहा है। इन रूढ़ियों और दायित्वों की ही सुविधा के लिए अपने 'संविधान' के निर्माण में हमें फूँक-फूँक कर पैर रखना पड़ा और इसे अस्वाभाविक रूप से व्यापक तथा उदार बनाना पड़ा।

भारतीय 'संविधान' में हिन्दी को राष्ट्रभाषा बहुमत से घोषित किया गया है—न कि सर्वसम्मति से। बहुमत का भी यह निर्णय किसी तात्कालिक आवश्यकता अथवा उपयोगिता की कसौटी पर कसा हुआ नहीं है। चूँकि प्रत्येक राष्ट्र की एक राष्ट्रभाषा होनी चाहिए अस्तु अनेक वाद-विवाद के उपरान्त यह निर्णय हो सका था। फलतः वास्तविक परिस्थिति यह है कि राष्ट्रभाषा एवं मातृभाषा के प्रति

किसी नागरिक के जो दायित्व हैं उन्हें पूरा करने में अहिन्दी प्रान्तों के भारतीय नागरिक अपने मार्ग को कुछ कंटकाकीर्ण मान रहे हैं। राष्ट्रभाषा और मातृभाषा के वर्त्तमान संघर्ष से लोगों का उद्विग्न होना बहुत अनुचित नहीं। यह संघर्ष इसलिए और अधिक उग्र हो जाता होगा कि राष्ट्रभाषा में मातृभाषा से कम ही नवीनता एवं प्रगति दीख पड़ती है। 'संविधान' में प्रसंगानुसार राष्ट्रभाषा तथा मातृभाषा—दोनों ही को समुचित महत्त्व दिया गया है। साधारण स्थिति में यही उपयोगी तथा न्यायसंगत भी है। परन्तु देश और राष्ट्र की वर्त्तमान दशा में 'संविधान' की इस व्यापकता और उदारता का प्रायः दुरुपयोग हो रहा है। 'राष्ट्रभाषा' के विकास में 'मातृभाषाओं' से क्या, कितना और क्यों योग मिलना चाहिए—हमें न तो स्पष्ट हैं और न बताने के प्रयत्न हो रहे हैं। अहिन्दी प्रान्तों में 'मातृभाषा' और 'राष्ट्रभाषा' के क्षेत्र विधिवत् निर्धारित तथा निश्चित न होने से लोग आवश्यकता तथा सुविधानुसार कभी 'मातृभाषा' को और कभी 'राष्ट्रभाषा' को महत्त्व देने के लिए विवश तथा स्वतंत्र हैं। चूँकि मातृभाषा की आवश्यकता हमें पग-पग पर पड़ती है अस्तु उसकी ओर अधिक झुकना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार वर्त्तमान उपयोगिता की कसौटी पर हिन्दी खरी नहीं उतर पा रही है।

जहाँ तक 'रुचि' का सम्बन्ध है, स्थिति लगभग उतनी ही विषम है। रुचि आकाशलता नहीं है। इसके भी अनेक आधार होते हैं—उपयोगिता ही सबसे बड़ा आधार है। पाश्चात्य संस्कृति और समाज के सम्पर्क से उन सभी वस्तुओं, व्यक्तियों, स्थानों, आदि की ओर से हम उदासीन होते जा रहे हैं जो प्रत्यक्ष रूप से उपयोगी नहीं दीखते। भारतीय परम्परा में किसी की ओर से उदासीन होने का अथवा उसकी उपेक्षा करने का प्रश्न ही नहीं उठता था। प्रत्येक प्रकार के व्यक्ति के कर्त्तव्य और अधिकार लगभग निर्धारित हैं। 'कर्त्तव्य' और 'अधिकार' से तात्पर्य है 'कर्म' और उपयोगिता से। अवसरानुकूल सैनिक, तपस्वी, गृहस्थ, भिक्षुक, चोर, कोढ़ी, आदि सभी हमारी परम्परा में किसी न किसी रूप में उपयोगी रहे हैं। आज-कल के भारतीय शिक्षित वर्ग को भिक्षुकों के नाम-मात्र से जूड़ी आती है; साधु, सन्यासियों, आदि की निश्चिन्त होकर खिल्लियाँ उड़ाई जाती हैं; भारतीय परिवारों की सामूहिक रूप-रेखा का तिरस्कार किया जाता है और दधीचि, एकलव्य, आदि की इस त्याग-भूमि में अनुराग को अस्वाभाविक रूप से महत्त्व दिया जा रहा है। उपर्युक्त नवीनता तथा प्रगति के अभाव से हिन्दी साहित्य में अभी इतनी क्षमता नहीं है कि नई रोशनी के शिक्षित लोग आकर्षित किये जा सकें।

हिन्दी की जो कुछ प्रगति इस समय दिखाई दे रही है वह इसलिए नहीं है कि इसमें हमारी पर्याप्त रुचि है प्रत्युत इसलिए कि राष्ट्रभाषा घोषित कर चुकने पर

इसके प्रसार और प्रचार के लिए कुछ न कुछ किया ही जा रहा है। साथ ही पिछले पचास-साठ वर्ष की हिन्दी-साहित्य की रचनाएँ पाश्चात्य प्रवृत्तियों से ओत-प्रोत हैं। सभी वर्त्तमान रचनाओं को अस्वाभाविक रूप से पाश्चात्य-प्रधान किया जा रहा है। कल्पना के लिए साहित्य में पर्याप्त स्थान है परन्तु इसके निमित्त पृथ्वी और सीमा से पृथक नहीं हुआ जा सकता। हिन्दी की वर्त्तमान सभी रचनाएँ यहाँ की मौलिक परम्परा से सर्वथा भिन्न सी हैं। इनसे यदि कोई लाभ है तो केवल यह कि हिन्दी पुस्तकों के पढ़नेवालों की संख्या बढ़ रही है। अध्ययनशील लोग फिर भी हिन्दी की रूढ़ियों से ऊबे-ऊबे से रहते हैं। वर्त्तमान नवीनता को अन्य भारतीय भाषाओं की भाँति विधिवत् न अपना सकने की हिन्दी की क्षमता-न्यूनता पर जब हिन्दी क्षेत्र के ही लोग कभी-कभी नाक-भौं चढ़ाते हैं और कभी तरस खाते हैं तो अहिन्दी क्षेत्र के लोग यदि इस पर टीका-टिप्पणी करते हैं तो कोई अन्याय नहीं करते। इस प्रकार यह स्वीकार करने में तनिक भी संकोच नहीं करना चाहिए कि वर्त्तमान परिस्थितियों में हिन्दी-साहित्य में लोगों की पर्याप्त रुचि नहीं है।

जहाँ तक हिन्दी के शिक्षकों की क्षमता, कर्मण्यता, तत्परता, आदि का सम्बन्ध है, हमें और अधिक उद्विग्न होना पड़ता है। वैधानिक, आर्थिक, सामाजिक, आदि सुविधाएँ अब हिन्दी अध्यापकों को भी अन्य विषयों के अध्यापकों के समान ही हैं। उन्हें भी प्रशिक्षित होने के लिए प्रेरित तथा उत्साहित किया जा रहा है। वेतन-विषमता के मिट जाने से उच्च श्रेणियों में सफल होने वाले लोग भी हिन्दी-अध्यापन में लग रहे हैं। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी हिन्दी-अध्यापन की दोष-पूर्ण परम्परा में कोई परिवर्तन नहीं हो पा रहा है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के के उपरान्त हिन्दी का अध्यापन-क्षेत्र बहुत बढ़ गया है और बढ़ता ही जा रहा है। अन्य विषयों के पढ़ाने वाले अध्यापक भी हिन्दी पढ़ाने के लिए तथा हिन्दी की योग्यता बढ़ाने के लिए उत्सुक (शीघ्र पदोन्नति की आशा में) तथा प्रेरित (संस्थाओं में हिन्दी का काम अधिक बढ़ जाने से) हो रहे हैं। परन्तु ये लोग भी हिन्दी का अध्यापन या तो उसी ढंग से कर रहे हैं अथवा उससे भी संक्षिप्त और दोष-पूर्ण मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं। इस उपेक्षा और तिरस्कार के कारण बड़े गम्भीर तथा रहस्यपूर्ण हैं। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि जब तक मातृभूमि की सच्ची तथा वास्तविक सेवा की भावना भारतवासियों के हृदय में अंकुरित तथा विकसित न होगी तब तक विभिन्न मातृभाषाओं एवं राष्ट्र-भाषा तथा साहित्य का समुचित तथा क्रमिक विकास न हो पायेगा।

यह अप्रिय सत्य है कि अहिन्दी प्रांतों के लोग, हिंदी को हृदय से राष्ट्र-भाषा स्वीकार करने में इसलिए, आपत्ति नहीं करते कि उन्हें अपनी-अपनी क्षेत्रीय

एवं मातृभाषाओं से प्रगाढ़ प्रेम है—कदापि नहीं। हिंदी का उनका वर्त्तमान विरोध, पूर्ण रूपसे, अंग्रेजी के प्रति अस्वाभाविक परंतु सुदृढ़ माया पर अवलम्बित है। सभी भारतीय भाषाओं के साहित्यों की भित्ति त्याग, उदारता, बलिदान, आदि पर निर्मित है। पाश्चात्य सम्पर्क में कुछ पहले आ जाने से अस्वाभाविक नवीनता की कलई उनपर कुछ अधिक गाढ़ी तथा मोटी अवश्य हो गई है परंतु इसके नीचे मौलिक आदर्श ज्यों के त्यों अपने उद्धार की प्रतीक्षा कर रहे हैं। जिस समय वे लोग अपनी-अपनी भाषा और अपने-अपने साहित्य की ओर वास्तव में मुड़ेंगे तो हिंदी तथा इसके साहित्य का अधिकाधिक आदर करने के लिए वे स्वयं उत्सुक तथा आतुर होंगे। कारण स्पष्ट है—हिंदी भाषा तथा इसके साहित्य पर पाश्चात्य नवीनता की कलई उतनी गाढ़ी नहीं है; इसमें थोड़ा-बहुत प्रयत्न करते ही भारतीय आदर्श चमकने लगेंगे। हिंदी साहित्य से स्वाभाविक सम्पर्क बढ़ाकर अथवा उसका समुचित अध्ययन करके वे लोग अपने मूल आदर्शों को तिरोहित करने वाली अस्वाभाविक नवीनता का वैज्ञानिक तथा उपयोगी विश्लेषण करेंगे और अनावश्यक सामग्री तथा प्रतिकूल रचना-प्रणालियों का शीघ्रातिशीघ्र बहिष्कार करेंगे।

इस प्रकार यह प्रमाणित हो रहा है कि यदि वर्त्तमान स्थिति के ही अनुसार विचार किया जाय तो हिंदी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार कर लेना उपयोगी नहीं दीखता। परंतु इसमें भी सन्देह नहीं कि यदि हिन्दी इस योग्य नहीं है तो अन्य भारतीय भाषाएँ तो इस दौड़ में और भी पीछे रह जायँगी। हिन्दी के पक्षमें दो बातें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—प्रथम, इसके भाषियों की संख्या सर्वाधिक है और दूसरे इसका क्षेत्र देश के लगभग बीच में है। वर्त्तमान जन-तंत्र का सबसे ऊँचा आदर्श बहुमत का निश्चित रूपसे आदर तथा पालन करना है। सम्भवतः इसी सिद्धांत की मर्यादा रखने में हिन्दी को यह गौरव प्राप्त भी हो सका है। अन्य भारतीय भाषाओं के पक्ष में ऐसे कोई अकाट्य तथ्य नहीं मिलते। अभी तक सभी वाद-विवाद केवल अंग्रेजी और हिन्दी की तुलना करके हो रहे हैं। यह तो कहा जाता है कि अंग्रेजी के दायित्वों को हिन्दी सम्भवतः पूरा न कर पायेगी परंतु यह कहते नहीं सुना गया है कि हिंदी के बजाय अमुक अन्य भारतीय भाषा अंग्रेजी के दायित्व को पूरा कर सकती है। हिंदी और अंग्रेजी के वाद-विवाद में अहिंदी प्रांतके सभी उद्भट विद्वान एकमत हैं परंतु यह घोषित करने पर कि हिंदी के बजाय राष्ट्रभाषा कोई अन्य भारतीय भाषा स्वीकृत होगी तो उन लोगों की माया का भण्डाफोड़ शीघ्रातिशीघ्र हो जायेगा।

अंग्रेजी की माया से मुक्त होना भी सरल नहीं है। इस माया का आधार उपयोगिता है। अंग्रेजी भाषा और साहित्य से हमारी राष्ट्रीयता को बड़ा योग

मिला है। यदि निष्पक्ष निर्णय देना हो तो यह स्वीकार करने में तनिक भी संकोच नहीं होना चाहिए कि इतने विशाल और प्राचीन देश का एक सूत्र में वँध जाना केवल अंग्रेजी के ही प्रचार से सम्भव हो सका अंग्रेजी की इस सेवा के लिए भारतवर्ष को जन्म-जन्मान्तर तक आभारी रहना पड़ेगा। इसके अनुराग-प्रधान साहित्य से यहाँ की संस्कार-च्युत जनता को सुख और शांति का एक ऐसा नवीन स्रोत प्राप्त हो गया जो हर प्रकार से सरल, सरस तथा सप्रवाह प्रतीत हुआ। जिस स्फूर्ति का अनुभव किसी थके-माँदे यात्री को मदिरा-पान से होता है ठीक उसी का अनुभव भारतवासियों को अंग्रेजी भाषा तथा साहित्य के अध्ययन से होने लगा। जिस प्रकार दुर्वल, अस्वस्थ तथा आलसी लोग भी मदिरा के प्रभाव से प्रायः अधिक काम करते हुए पाये जाते हैं ठीक उसी प्रकार हमलोग भी इस अध्ययन से प्रभावित होकर अनेक ऊँचे कार्य करते आ रहे हैं। स्वत्रंता-संघर्ष, स्वतंत्रता-प्राप्ति, संविधान-रचना, आन्तरिक व्यवथा, परराष्ट्रनीति, आदि का सम्पादन हम अंग्रेजी भाषा और उसके साहित्य से ही प्रेरित होकर कर सके हैं तथा कर रहे हैं।

अंग्रेजी भाषा और उसके साहित्य की तुलना मदिरा से तुलना योंही नहीं की गई है। सुना जाता है कि मदिरा का प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ता है। मादकता की मौज में मस्तिष्क अन्य अंगों की वास्तविक क्षमता का लेशमात्र भी ध्यान न करके उनसे अधिकाधिक कार्य कराता है। फलतः व्यवित का स्वास्थ्य गिरता जाता है। अंग्रेजी भाषा और उसके साहित्य का प्रभाव भी भारतवर्ष के मस्तिष्क तक ही सीमित है। राष्ट्र के ऊँचे लोग ही इसका अध्ययन करते हैं और इसके सन्देश एवं मौज में मस्त होकर देश का शासन अथवा पथ-प्रदर्शन करते हैं। स्वतंत्रता के पूर्व वास्तविक वागडोर तो गौरांग प्रभुवों के हाथ में थी परन्तु देश के ऊँचे लोग या तो उनकी हाँ में हाँ मिलाकर ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त थे अथवा उनकी नीति का खण्डन करके विरोधी दलों का निर्माण करते थे। स्वतंत्रता के उपरान्त राष्ट्र को बागडोर उन्हीं खण्डन करने वालों के हाथ में आ गई है। इस खण्डन-मण्डन के आधार पर जिन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, औद्योगिक, धार्मिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय, आदि आदर्शों की स्थापना हुई है अथवा हो रही है उसका दायित्व देश के शिक्षित एवं ऊँचे लोगों ही पर है। इन्हीं लोगों को राष्ट्र का मास्तिष्क मानना उचित है। देश की साधारण जनता की क्षमता, तथा आवश्यकताओं का लेश मात्र भी ध्यान न करके विदेशी आदर्शों के अनुसार उनसे अधिकाधिक कार्य तथा परिश्रम करा रहे हैं परन्तु उस अनुपात से सफलता नहीं हो रही है। कारण स्पष्ट है कि देश के मस्तिष्क के मदिरा-प्रिय होने से समूचे राष्ट्र का स्वास्थ्य उत्तरोत्तर गिरता जा रहा है।

मदिरा से दुर्बल, वृद्ध तथा थके-माँदे लोगों को कुछ समय के लिए कृत्रिम विश्राम सम्भव होता है तथा वाह्य स्फूर्ति प्राप्त होती है। इससे ऐसे लोगों को कुछ समय के लिए कतिपय सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। दूसरे शब्दों में मदिरा ओषधि का कार्य भी करती है। ओषधि का प्रयोग सर्वदा करते रहना कदापि उपयोगी तथा आवश्यक नहीं होता। रोगों से मुक्त होते ही ओषधियों को त्याग देना पड़ता है। अंग्रेजी राज्य स्थापित होने के कई शताब्दो पूर्व से इस भूमि तथा वातावरण के अनुकूल निर्मित संस्कार विवादग्रस्त तथा तिरोहित हो चुके थे। मध्यकालीन भारतवर्ष में न तो मौलिक परम्परा में देश, काल और पात्र के अनुसार कोई परिवर्त्तन हो सका और न तो किसी अन्य परम्परा का क्रमिक तथा स्थायी देश-व्यापी प्रादुर्भाव हो सका। शासकों की व्यक्तिगत रुचि तथा योग्यता के अनुसार सुखी अथवा दुखी जीवन व्यतीत हो रहा था। फलतः आरम्भ में अंग्रेजी भाषा तथा साहित्य के अध्ययन से किसी विशेष अभाव की पूर्त्ति हुई। सहर्ष तथा सादर किसी को यह स्वीकार करने में तनिक भी आपत्ति न होगी कि तत्कालीन छिन्न-भिन्न भारतवर्ष को भाग्यवश कोई उपयुक्त तथा उत्तम ओषधि प्राप्त हो गई थी। अपने इस दायित्व को पूरा करने में अंग्रेजी भाषा और साहित्य को पर्याप्त सफलता मिली। परन्तु इसका प्रयोग जब आवश्यकता से अधिक होने लगा अथवा यह कहा जाय कि उत्तरोत्तर बढ़ने लगा तो ओषधि पूर्णरूप से मादकता में रूपान्तरित होती गई।

राष्ट्र की उपमा व्यक्ति से और किसी विदेशी भाषा तथा उसके साहित्य की ओषधि अथवा मदिरा से सभी प्रसंगों में सम्भव नहीं। राष्ट्र वृद्ध तो कहा जा सकता है परन्तु वह अमर-सा होता है। पराजित तथा परतंत्र राष्ट्रों की भी सभी विशेषताएँ लुप्त नहीं हो पातीं। कोई राष्ट्र अपने मौलिक रूप में ही देश, काल और पात्र के अनुसार बार-बार बाल, युवक तथा वृद्ध हो सकता है परन्तु किसी व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं। किसी वृद्ध व्यक्ति ने मदिरा को यदि ओषधि अथवा मादकता के रूप में अपना लिया है तो उसका त्याग करने से साधारणतः अहित होगा। परन्तु किसी यथाकथित वृद्ध राष्ट्र के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है; परिस्थितियों में अनुकूल परिवर्त्तन होते ही यदि आवश्यक त्याग नहीं कर दिये जाते तो भविष्य निश्चित रूप से अन्धकारमय हो जायगा। साथ ही, किसी भाषा और साहित्य की अनेक विशेषतायें संसार की लगभग सभी भाषाओं और उनके साहित्यों में समान रूप से पाई जाती हैं। फलतः परिस्थिति विशेष में यदि किसी भाषा और साहित्य का किसी अन्य देश में समुचित रूप से पर्याप्त प्रचार हो जाता है तो उससे ओषधि अथवा मादकता की ही पूर्त्ति नहीं होती प्रत्युक्त बहुत से

लोगों की पौष्टिक भोज्य सामग्री का भी काम चल जाता है। स्मरण रहना चाहिए कि किसी अभागे देश के ऐसे लोग संख्या में चाहे बहुत कम ही हों परन्तु सर्वाधिक प्रभावशाली तथा शक्ति-सम्पन्न होते हैं और उनका बुरा या अच्छा मार्ग उन्हें विधिवत् स्पष्ट रहता है।

किसी भाषा और साहित्य को किसी दूसरे देश के कुछ नागरिक जब पूरे देश की भोज्य सामग्री के रूप में स्वीकार कराने के लिए प्रेरित तथा इच्छुक होते हैं तो परिस्थिति वास्तव में विकट हो जाती है। ऐसे लोग अपनी कूट नीति और प्रतिभा तथा अपने प्रभाव से वातावरण में सतत संघर्ष तथा दुविधा उत्पन्न कर देते हैं। *'यथा राज्य तथा प्रजा'* के प्राचीन और मध्ययुग में इससे बार-बार कष्ट नहीं होता था। राजा एवं उनके आस-पास रहने वाले ऊँचे लोग अपनी किसी भी तानाशाही को शेष जनता पर लाद देते थे और उसी के अनुसार कार्य होने लगता था। फलतः केवल एक बार अर्थात् लादते समय कष्ट होता था। फिर तो सब लोग धीरे-धीरे आदी हो जाते थे। परन्तु जनतंत्र के वर्तमान युग में परिस्थिति सर्वथा भिन्न है। सिद्धान्तः राजा-प्रजा के वर्ग समाप्त से हैं। सभी स्वतंत्र देशों में अब प्रजा ही राजा है। निस्सन्देह ऊँचे लोग ही अब भी अपने-अपने राष्ट्रों के भाग्य निर्माता हैं परन्तु उनका कोई स्थायी वर्ग नहीं है। समय-समय पर चुनाव होते हैं। ऊँचे और साधारण लोगों के पारस्परिक सम्पर्क प्रायः हुआ करते हैं। इस प्रकार किसी भी गुत्थी से सतत संघर्ष हो सकता है और यदि गुत्थी का आधार राष्ट्रीय भाषा और साहित्य से सम्बन्धित है तो फिर कहना ही क्या है। ऐसे देश विदेश का मस्तिष्क राष्ट्र के अन्य अङ्गों और उपाङ्गों को नाना प्रकार के अस्वाभाविक तथा असामयिक तर्क से द्वारा अनुचित रूप में पथ-भ्रष्ट करने को प्रयत्न करता है और उस देश जी स्वाभाविक प्रगति रुक जाती है।

उपर्युक्त सतत संघर्ष किसी भी विदेशी भाषा और साहित्य से उत्पन्न केवल साधारण गुत्थी से सम्बन्धित है। अंग्रेजी भाषा और साहित्य से सम्बन्धित भारतीय समस्या विशेष विकट है। एक ओर अँग्रेजी की उपयोगिता और सेवाएँ असाधारण हैं और दूसरी ओर भारतीय संस्कृति की मौलिक विशेषतायें अनोखी तथा अद्वितीय हैं। इस प्रकार संघर्ष के असाधारण तथा भीषण हो जाने में आश्चर्य ही क्या है? कुछ भी हो, संघर्ष को निर्मूल करना हमारा परमपुनीत कर्तव्य है। इस उद्देश्य की पूर्त्ति अँग्रेजी भाषा और साहित्य के अचानक बहिष्कार अथवा तिरस्कार से कदापि न हो पायेगी। सम्भवतः ऐसा करना असम्भव भी है। विश्व के अन्य देशों से भी हमारा सम्पर्क इसी भाषा के माध्यम से है और अभी कुछ समय तक यही स्थिति रहेगी। परन्तु संघ तथा प्रान्तों की आन्तरिक शासन

व्यवस्था से अङ्गरेजी को क्रमशः हटना चाहिए। इस कार्य में हम जितना विलम्ब करेंगे देश का उतना ही अहित होगा। इसमें सन्देह नहीं कि अङ्गरेजी के इस दायित्व को हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में पूरा करने में कठिनाइयाँ होंगी परन्तु इस प्रस्तावित शिक्षा योजना के विधिवत् कार्यान्वित हो जाने पर अनेक वे समस्यायें लुप्त हो जायँगी जिनको कि अङ्गरेजी भाषा में ही सुलझाना सरल तथा सुविधा जनक प्रतीत होता है। साथ ही, इसमें भी सन्देह नहीं है कि शिक्षा की यह भावी क्रांति राष्ट्रभाषा हिंदी एवं क्षेत्रीय भाषाओं के ही माध्यम से सुचारु रूप में हो सकेगी। अङ्गरेजी भाषा और साहित्य में अपेक्षित क्षमता नहीं है।

यों तो अंग्रेजी का स्थान हिन्दी एवं अन्य क्षेत्रीय भाषाओं को क्रमशः देने की बात बार-बार कही जाती है; संविधान भी इसके लिए केवल वचन-बद्ध नहीं प्रत्युत उसमें निश्चित अवधि निर्धारित है और वह निकट आती जारही है परंतु संघर्ष की भीषणता से इसकी पूर्ति के लिए कोई ठोस कार्य नहीं किया जारहा है। उत्तर प्रदेश ही एक प्रांत है जिसमें सिद्धांत: माध्यमिक स्तर पर अंग्रेजी अनिवार्य नहीं है परंतु व्यावहारिक रूप में यहाँ भी लगभग सभी छात्र इसे पढ़ने के लिए प्रेरित होते हैं। अंग्रेजी न पढ़ने वाले छात्रों को व्यवहार-कुशल तथा उपयोगी नहीं माना जाता। वातावरण कुछ ऐसा क्षुब्ध है कि स्पष्ट रूप से तो ऐसे छात्रों के प्रतिकूल कुछ कहने का साहस कोई अधिकारी, अध्यक्ष अथवा अध्यापक नहीं करता परंतु परोक्ष में उनका तिरस्कार अवश्य होता है। अन्य प्रांतों में अंशतः तो इसी माया के वशीभूत होकर और अंशतः हिंदी-अंग्रेजी के द्वन्द्व मे हिंदी को घटिया दिखाने के उद्देश्य से अंग्रेजी को सिद्धांतः तथा व्यावहारिक रूप में—दोनों प्रकार से दृढ़ता पूर्वक चिपकाया जा रहा है। हमारे इस अस्वाभाविक तथा असामयिक स्वांग से देश और राष्ट्र को कितनी क्षति पहुँच रही है—इसका अनुमान लगाना कठिन है। भावी सन्तानें अदूरदर्शिता के हमारे इस कुकृत्य के लिए हम पर विना थूके कदापि न रह सकेंगी।

वर्त्तमान परिस्थितियों में अंग्रेजी को माध्यमिक अथवा किसी अन्य स्तर पर अनिवार्य करने की क्या आवश्यकता तथा उपयोगिता है उसे देश के कर्णधार ही जान सकते हैं। स्वतंत्रता के उपरान्त वातावरण में क्राँति होगई है। पहले अनेक उच्च अधिकारी अंगरेज थे। वे सभी बात-चीत शुद्ध अंगरेजी में करते थे। उनके मातहत भारतीय अधिकारी भी अंगरेजी-वार्तालाप में पटु होने तथा रहने का प्रतिदिन प्रयत्न करते रहते थे। इन लोगों के सम्पर्क में आने वाले साधारण कर्मचारी, बाबूलोग, विद्यार्थी, आदि सभी लोग अपनी योग्यता के अनुसार कुछ न शुद्ध अंगरेजी बोलने तथा लिखने के लिए प्रेरित होते थे। परंतु अब राष्ट्रपति

राज्यपाल, प्रधानमंत्री, मुख्य मंत्री आदि महोदयों के सम्पूर्ण कार्यकाल में कदाचित् ही कोई अवसर आता होगा जब कि वे किसी दिन भर केवल शुद्ध अङ्गरेजी में ही वार्तालाप करें, विदेशों में भी जाने पर वे अपने कुटुम्बियों, भारतीय मित्रों, अनुचरों आदि से सम्भवतः भारतीय भाषाओं में ही बात-चीत करते होंगे। हमारे सचिवालयों, अधिकांश न्यायालयों, शिक्षा-संस्थाओं, आदि की लिखित कार्यवाही भले ही अङ्गरेजी में हो रही है परंतु बात-चीत का माध्यम शुद्ध तथा सरल अङ्गरेजी कदापि नहीं रह गई है। निस्संदेह, विभिन्न प्रांतों की शुद्ध क्षेत्रीय भाषाओं का भी प्रयोग नहीं हो पाता। वार्तालाप का माध्यम कोई विचित्र-सी खिचड़ी भाषा होती है जिसे सिद्धांतः तो कोई भी नाम देना कठिन है परंतु उसे किसी भी भारतीय भाषा का अशुद्ध रूप कहा जा सकता है। संक्षेप में, अङ्गरेजी के अध्यापन और अध्ययन के लिए स्वतंत्रता के पूर्व की सुविधायें, रुचि तथा आवश्यकता नहीं के बराबर रह गई हैं।

अङ्गरेजी को अस्वाभाविक तथा अनावश्यक रूप से माध्यमिक स्तर पर अनिवार्य कर देने का फल यह है कि किसी विदेशी भाषा में कुशल न होने से जितने अधिक भावी नागरिकों की शिक्षा इस देश में समाप्त हो जाती है उसका दसांश भी संसार के किसी अध्य स्वतंत्र राष्ट्र में सम्भवतः न हो पाती होगी। राष्ट्र के कर्णधारों को इस प्रसङ्ग पर गम्भीरता तथा सहानुभूति पूर्वक विचार करना चाहिए। देश के अधिकांश शिक्षित लोगों को कृषि, व्यापार, उद्योग आदि में लगना है। अब अंङ्गरेजो की वास्तविक उपयोगिता केवल दो रूप में है। प्रथम तो परराष्ट्र एवं अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार में और दूसरे अन्य उन्नतिशील राष्ट्रों की साहित्यिक, वैज्ञानिक, औद्योगिक, सैनिक, व्यापारिक तथा राजनैतिक प्रगति से सम्बन्धित रचनाओं के उपयोगी अंश को हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद करना तथा भारतवर्ष की मौलिक तथा अनोखी विशेषताओं का देश-देशांतरों में आवश्यक प्रचार करना। परन्तु इन उद्देश्यों की पूर्त्ति भी अब केवल अंगरेजी को अपनाने से न हो सकेगी। हमें विश्व की अन्य मुख्य भाषाओं तथा उनके साहित्य के उपयोगी अंशों का विधिवत् अयध्यन करना पड़ेगा। इन सभी कामों में प्रखर बुद्धिवाले प्रतिभा सम्पन्न ही भारतीय लगेंगे। इस प्रकार के लोगों पढ़ने में सभी विषयों में प्रायः अच्छे होते हैं और फलतः अंगरेजी तथा अन्य विदेशी भाषाओं में भी अच्छे ही रहेंगे। प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने के लिए होनहार छात्रों को सभी विषयों में अच्छा होना पड़ता है।

हमें स्वतंत्र हुए पर्याप्त समय हो गया है परन्तु खेद है कि भावी नागरिकों की शिक्षा के निमित्त हमने कोई ठोस कार्य नहीं किया है। अंगरेजी तथा अन्य विदेशी

भाषाओं का अध्ययन और अध्यापन अवश्य हों, परन्तु उन्हें इतना महत्त्व कदापि नहीं मिलना चाहिए कि साधारण कोटि के छात्रों को शिक्षा केवल उन्हीं के कारण कुंठित हो जाय। इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि अधिकाधिक उपयोगी विषयों के उच्च अध्ययन से अनेक भारतीय छात्रों का केवल अंगरेजी के ही कारण वंचित हो जाना देश और राष्ट्र के लिए घातक ही तो है। उत्तर प्रदेश की सरकार को इस बात पर गर्व होना चाहिए कि इस प्रान्त में यही नहीं कि अंगरेजी सिद्धांततः अनिवार्य नहीं है प्रत्युत सन् १९५४, १९५५ और १९५६ की माध्यमिक परीक्षाओं में अंगरेजी का उत्तीर्णांक ३३ प्रतिशत से घटाकर २८ प्रतिशत कर दिया गया था। केन्द्रीय सरकार तथा अन्य प्रांतों को यह उदारता और दूरदर्शिता पसन्द न आई। प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपों में समस्त देश में कूट होने लगी कि उत्तर प्रदेश में अंगरेजी का स्तर गिर रहा है। दिल्ली की राष्ट्रीय शिक्षा बैठकों में इस प्रान्त के उच्च अधिकारियों को इस प्रसंग के छिड़ते ही सम्भवतः झेंपना पड़ता था। सन् १९५७ ई० की माध्यमिक परीक्षाओं में उपर्युक्त उदारता नहीं दिखाई गई है। हो सकता है कि केन्द्र तथा अन्य प्रान्तों की कूट से आतंकित होकर ही ऐसा करना पड़ा है।

राष्ट्रभाषा (हिन्दी) की देश व्यापी गुत्थियों से ऊबकर किसी अवसर पर श्रद्धेय नेहरू जी ने कहा—'राष्ट्रभाषा की अपेक्षा राष्ट्र अधिक महत्त्वपूर्ण है।' इस प्रकार की उक्तियाँ देश के अन्य कर्णधारों के मुँह से भी सुनी जाती हैं। साधारण परिस्थितियों में यही कहना और मानना उपयोगी तथा उचित भी है। वर्त्तमान युग में छोटे-बड़े जिस किसी राष्ट्र में इस प्रकार की कठिनाई उपस्थित होती है तो वहाँ उसे इसी उद्देश्य एवं लक्ष्य से सुलझाया जाता है। हम भी यदि इस मार्ग का अनुसरण करते हैं तो विभिन्न राष्ट्रों के भूतपूर्व अनुभवों से कतिपय सुविधाएँ प्राप्त हो सकती हैं। परन्तु इतिहास साक्षी है कि जहाँ कहीं भी राष्ट्र को किसी मायावश अस्वाभाविक, असामयिक एवं अनुचित प्रोत्साहन आवश्यकता से अधिक देना पड़ा है वहाँ की स्वाभाविक एवं वास्तविक तथा सार्वजनिक प्रगति समाप्त सी हो गई। भारतीय संस्कृति की अनोखी तथा मौलिक विशेषताओं के फलस्वरूप हमारी समस्या अधिक जटिल है। प्रस्तुत जीवन को ही सबकुछ मानने वाले राष्ट्रों में किसी भी संघर्ष का हल् शीघ्रता से निकल आता है। यदि और कुछ न हो सका तो विभिन्न दलों के लोग अपनी-अपनी क्षमता के आधार पर अपने जीवन-काल तक के लिए तो कोई न कोई समझौता कर ही लेते हैं। किसी प्रसंग पर उनमें स्वाभाविक तथा वास्तविक मतैक्य हो या न हो परन्तु व्यावहारिक समझौता तो हो ही जाता है।

वर्तमान युग में ऐसे भी राष्ट्र हैं जहाँ एक से अधिक राष्ट्रभाषाएँ हैं। सांस्कृतिक आदर्शों के सरल तथा अनुकूल होने से वहाँ के कार-बार लगभग ठीक ही चलते रहते हैं। यद्यपि अंगरेजों द्वारा व्यवस्थित सुदृढ़ शासन की रूप-रेखा आज भी (स्वतंत्रता प्राप्ति के दस वर्ष बाद भी) लग-भग ज्यों की त्यों है परन्तु हमारे यहाँ के विभिन्न दलों में व्यावहारिक समझौते एक तो कम ही हो पाते हैं और दूसरे, जो होते भी हैं, वे उतने उपयोगी तथा टिकाऊ नहीं हो पाते जितने कि अन्य राष्ट्रों में होते हैं। कारण स्पष्ट है। किसी भी राष्ट्र में शासक दल तो अपने मत की पुष्टि सरकारी परम्पराओं से प्राप्त करने के लिए प्रेरित तथा विवश होता है परन्तु विरोधी दल अपनी-अपनी नीति का निर्धारण जनता की रुचि और आवश्यकताओं के अनुसार करते हैं। जिस राष्ट्र की संस्कृति और सरकार में यथोचित सामञ्जस्य होता है वहाँ के शासक दल और विरोधी दलों में कोई मौलिक अन्तर या तो होता ही नहीं या होता है तो केवल प्रासंगिक अर्थात् कुछ ही समय के लिए। भारतीय संस्कृति और सरकार में कितना सामञ्जस्य है यह किसी से छिपा नहीं है। फलतः किसी भी विवाद-ग्रस्त प्रश्न के उपस्थित होने पर एक ओर तो शासक दल को शासन-परम्परा तक ही सीमित न रह कर अस्वाभाविक रूप से अतीत और भविष्य को भी खाक छाननी पड़ती है और दूसरी ओर विरोधी दलों को अपना काम बनाने के लिए प्रचुर मात्रा में मौलिक सामग्री अनावश्यक रूप में प्राप्त होती है।

इस प्रकार व्यावहारिक समझौतों के लिए हमारे यहाँ स्थान बहुत सीमित तथा संकुचित है। परन्तु इसे अपनी संस्कृति की कमी कदापि नहीं माननी चाहिए; वास्तव में यह हमारी अत्यन्त अनोखी विशेषता है। एकता, सहयोग, सहकारिता, परोपकार, आदि की हमारी व्याख्या और रूप-रेखा इतनी विस्तृत तथा व्यापक है कि केवल व्यावहारिक समझौतों से हमारी गुत्थियाँ सुलझ नहीं पातीं। इस प्रकार के समझौते अन्य राष्ट्रों में भी विवश होकर ही किये जाते हैं। आरम्भ में विभिन्न दल एक दूसरे को पूर्णरूप से पराजित करने का अथक प्रयत्न तथा परिश्रम करते हैं। मानव जीवन का विस्तार प्रस्तुत जीवन तक ही सीमित होने से वे लोग कुछ ही समय के उपरान्त ऊबने लगते हैं और किसी न किसी समझौते के लिए उत्सुक तथा आतुर होने लगते हैं। फलतः सारा रहस्य इन्हीं विवशता, आतुरता, उत्सुकता, आदि में निहित है। जीवन का विस्तार असीमित होने से हमारे यहाँ विवश, आतुर तथा अस्वाभाविक रूप से उत्सुक होने की आवश्यकता साधारणतः कम होती है। यदि किसी संघर्ष का फल हमें इस जीवन में प्राप्त होता हुआ नहीं दीखता तो हम व्यग्र कदापि नहीं हो पाते। दूसरे शब्दों में यथाकथित व्यावहारिक समझौते के निमित्त किसी संघर्ष का अस्वाभाविक अन्त कर देने का प्रयत्न हम कदापि नहीं करते।

था। उन दिनों 'यथा राजा तथा प्रजा' का सिद्धांत था। राजा अथवा राज्य-पोषित भाषाओं और उनके साहित्यों को अनेक सुविधायें मिलती थीं। उस समय न तो मुद्रण-कला का आविष्कार हुआ था और न विभिन्न साहित्यिक संस्थाएँ स्थापित थीं। राज-भाषाओं के ही साहित्यकारों तथा कलाकारों को विविध पुरस्कार तथा अन्य प्रोत्साहन प्राप्त थे। फलतः अन्य भाषाओं का तिरस्कार हो जाता था। परंतु आज कल परिस्थिति सर्वदा भिन्न है। राजा-प्रजा का अस्तित्व ही समाप्त है अथवा यह कहा जाय कि प्रजा ही राजा भी है। प्रत्येक परिमार्जित भाषा और उसके साहित्य से सम्बन्धित अनेक मुद्रण कार्यालय तथा संस्थाए स्थापित हैं। वयस्क मताधिकार पर आधारित इस विशाल राष्ट्र में किसी एक व्यक्ति की उपेक्षा कठिन है तो किसी भाषा और उसके साहित्य का तिरस्कार किस प्रकार सम्भव है? साथही हमारा 'संविधान' देश को विभिन्न भाषाओं और उनके साहित्यो के समुचित विकास तथा प्रोत्साहन के लिए वचन-बद्ध है।

पाठ्यक्रम की रूप-रेखा—(१) प्रारम्भिक शिक्षा बाल और बालिका विद्यालयों में प्रत्येक बालक या बालिका की शिक्षा उसकी मातृभाषा में होगी। इसमें कहीं भी और किसी प्रकार का भो व्यवित क्रम न हो पायेगा। जहाँ कहीं मातृभाषा के निर्धारण में भी कठिनाई हो वहाँ पर सावधानी से कदम उठाना पड़ेगा। किसी क्षेत्र का कोई वर्ग यदि निर्धारित क्षेत्रीयभाषा को अपनी मातृभाषा न माने तो यथा-सम्भव उनलोगों को उसे मान लेने के लिए राजी किया तथा कराया जाय। जब ऐसा होने में कोई विशेष कठिकाई उपस्थित हो तो उस वर्ग की संख्या के अनुपात से उतने बाल अथवा बालिका विद्यालयों में उनकी इच्छित भाषा के माध्यम से प्रारम्भिक शिक्षा कराई जा सकती है। यदि पूरे क्षेत्र में १०० विद्यालय खुलते हैं और इस सिद्धांत पर १० की शिक्षा के माध्यम में हेर-फेर करना है तो ये दस कहाँ पर स्थापित होंगे इसका निर्णय उसी वर्ग की कोई प्रतिनिधि-समिति करेगी। परंतु यह समिति केवल प्रथम बार निर्धारित करके फिर टूट जायगी। इन विद्यालयों के अन्य कार-बार, व्यवस्था, हिसाब-किताब, आदि क्षेत्रीय अथवा राष्ट्रीय भाषा में होंगे। उस वर्ग के अन्य लोग यदि इन विद्यालयों में न पहुँच सकेंगे तो उन्हें क्षेत्रीय भाषा के ही माध्यम से पढ़ना पड़ेगा। छात्रों की संख्या घट जाने से जो विद्यालय टूट जायेंगे उनके बदले में कहीं और ऐसा ही विद्यालय साधारणतः न खोला जायगा।

बालकों और बालिकाओं का संस्कार केवल शिक्षा का माध्यम ठीक कर लेने से न हो पायेगा। पठन सामग्री में क्रमशः आयोजित क्रांति करनी पड़ेगी। यों तो बेसिक रीडरों को अधिकाधिक रुचिकर बनाने का प्रयत्न किया गया है परंतु उद्देश्य और लक्ष्य में परिवर्तन हो जाने पर परिस्थिति भिन्न हो जायेगी। छात्रों में

धर्म के माध्यम से विज्ञान के, नम्रता के माध्यम से दृढ़ता के, अध्यवसाय के माध्यम से स्फूर्ति के, आज्ञापालन के माध्यम से तर्क के, परोपकार के माध्यम से आत्म रक्षा के अथवा संक्षेप में यह कहा जाय कि त्याग के माध्यम से अनुराग के बीज अंकुरित करते हैं। लोग कह सकते हैं कि ऐसा करने से तो विद्यालयों में आज कल जो कुछ हो रहा है उसे उलट देना पड़ेगा। बाह्य रूप से तो ऐसा ही प्रतीत अवश्य होगा परन्तु वास्तविक स्थिति कुछ और ही है। विद्यालयों में छात्र केवल ५-६ घण्टे रहते हैं। उनका शेष समय घर पर ही कटता है। घरों की व्यवस्था में भारतीयता अस्त-व्यस्त अवश्य होगई है परन्तु इन बच्चों को प्रेरित करने के लिए उसमें अब भी पर्याप्त क्षमता है। पिछले अध्यायों में स्पष्ट किया गया है कि पाश्चात्य परम्परा का हम लोगों पर अधिक प्रभाव युवा अवस्था में ही रहता है। यह भी कहा गया है कि छोटे बच्चे माता-पिता की अपेक्षा दादा-दादी के सम्पर्क में अधिक रहते हैं। फलतः घर और विद्यालय में उलट-फेर इसी समय अधिक है। भावी योजना के कार्यान्वित होने पर तो इन में सामञ्जस्य स्थापित हो जायगा।

यों तो सभी भारतीय भाषाओं में आज कल बालोचित साहित्य का पर्याप्त मात्रा में निर्माण होता जा रहा है किन्तु इसका दृष्टिकोण अभारतीय ही है। चूँकि कुछ सिद्धांत सभी सभ्य तथा सुसंस्कृत देशों और राष्ट्रों में समान रूप से उपयोगी माने जाते हैं फलतः उनसे सम्बन्धित रचनाएँ उपयोगी अवश्य हैं। स्वतंत्रता के उपरान्त अपने अतीत की विभूतियों को बच्चों तक सरल तथा स्पष्ट रूप से पहुँचाने के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील हम अवश्य हैं परंतु इन रचनाओं में अभारतीयता की छाप स्पष्ट है। अधिकांश रचनाओं में व्यक्तित्व को यथा सम्भव कर्त्तव्य के ऊपर उठाया गया है। जिन प्रसंगों में ऐसा करना कठिन है उन्हें या तो छोड़ दिया गया है अथवा उनसे सम्बन्धित रचनाएं रोचक, नहीं हो पाई है। उपर्युक्त विशेषताओं के अनुरूप उपयुक्त रचनाओं का पर्याप्त मात्रा में निर्माण बहुत समय के उपरान्त हो सकेगा। इस समय तो उपलब्ध सामग्री में से ही काट-छाँट कर काम चलाना पड़ेगा। कुशल शिक्षक इन्हीं साधनों से भारतीय शिक्षा के काया-कल्प का श्रीगणेश सुविधा पूर्वक कर सकेंगे।

जहाँ तक कि इतिहास, भूगोल, गणित, कला, उद्योग, आदि विभिन्न विषयों का सम्बन्ध है ये सभी उपयोगी हैं। किसी भी शिक्षा-पद्धति के पाठ्यक्रम में इन्हें समुचित स्थान देना ही पड़ेगा; बल्कि यह कहा जाय कि बिना समुचित रूप में इन्हें जाने बच्चों की शिक्षा पूरी हो ही नहीं सकती। हाँ, क्रमशः इनसे सम्बन्धित अभ्यासों की रूप-रेखा में धीरे-धीरे परिवर्तन आवश्यक होंगे। इस रूप-रेखा का अभी कुछ विवरण देना न तो आवश्यक है

न सम्भव ही। परन्तु इतना विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि इन अभ्यासों से आत्म-नियन्त्रण और संयम को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। दूसरी आवश्यक विशेषता यह होगी कि यथासम्भव इन विषयों को आजकल की भाँति अलग-अलग रूप में नहीं होना चाहिए। पाठ्यक्रम को कुछ ऐसा निर्मित करना पड़ेगा कि एक ओर तो बच्चों का वास्तविक जीवन एवं घरेलू वातावरण का विद्यालय के वातावरण से सामञ्जस्य और दूसरी ओर विभिन्न विषयों का ज्ञान किसी एक ही पाठ अथवा प्रकरण से होता चले। यदि बच्चों को किसी मेले-तमाशे में सामूहिक रूप से ले जाना है तो वह छोटी सी यात्रा का भी क्रम ऐसा हो कि उससे विविध विषयों का अध्ययन होता चले। इस समय ज्ञान-मूलक शिक्षा के तारतम्य से हमारा विवेक इतना आच्छादित है कि भक्ति-मूलक शिक्षा का यह बाना सभी शिक्षा-शास्त्रियों और विद्वानों को बेतुका-सा प्रतीत हो सकता है।

गोपाल तथा कन्या विद्यालयों में छात्रों और छात्राओं को मातृभाषा के साथ-साथ राष्ट्रभाषा हिन्दी भी अनिवार्य रूप से पढ़नी पड़ेगी। हिन्दी क्षेत्र के छात्र और छात्राएँ किसी अन्य भारतीय भाषा का अध्ययन करेंगी। इस उद्देश्य की सुविधापूर्वक पूर्त्ति के लिए समस्त हिन्दी क्षेत्र को कई भागों में—सम्भवतः उतने भागों में जितनी कि क्षेत्रीय भाषाओं की संख्या है—बाँट दिया जायगा। हिन्दी क्षेत्र के प्रत्येक ऐसे भाग में एक न एक क्षेत्रीय भाषा गोपाल तथा कन्या विद्यालयों में पढ़ाई जायगी। किस भाग में कौन सी क्षेत्रीय भाषा पढ़ाई जायगी, इसका निर्णय केन्द्रीय सरकार करेगी। यह निश्चित करने में सम्भवतः कोई कठिनाई न होगी। सबसे बड़ी कठिनाई यही होगी कि अंगरेजी को इन कक्षाओं से भी हटा लेना पड़ेगा। पहले उत्तर-प्रदेश में कक्षा ३ से अंगरेजी की पढ़ाई आरम्भ होती थी और आजकल छठीं कक्षा से हो रही है। अन्य प्रान्तों में अब भी कुछ पहले से ही पढ़ाई जाती है। परन्तु इस प्रस्तावित योजना में अंगरेजी की व्यवस्था माध्यमिक स्तर अर्थात् वर्तमान नवीं कक्षा से की जा रही है। अंगरेजी के समर्थक इस सुझाव एवं परिवर्तन से उद्विग्न हो सकते हैं। उनसे सादर अनुरोध है कि स्थिति की वास्तविकता को वे निष्पक्ष रूप से अध्ययन करने का कष्ट करें।

गोपाल तथा कन्या विद्यालयों के छात्रों की अवस्था लगभग ११ वर्ष से १४ वर्ष तक के बीच होगी। निर्धन तथा अन्य रूढ़ियों से व्याप्त परिवारों के बच्चे प्रायः पढ़ना छोड़कर घर का काम-काज करने के लिये विवश तथा प्रेरित होते हैं। पाठ्यक्रम को ऐसा निर्मित करना है कि बौद्धिक शक्ति और विकास

का घरेलू काम-काज से अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित हो जाय। कृषि, उद्योग-धंधे, कताई-बुनाई, कला-कौशल आदि विषयों को पाठ्यक्रम में केवल ले लेने से काम न चलेगा। भाषा, गणित, इतिहास, भूगोल आदि के पाठ्यक्रम और पुस्तकों को ऐसा निर्मित करना है कि उन्हीं के अध्ययन में उपर्युक्त कार्य अपेक्षित हो जायँ। व्यायाम तथा अन्य शारीरिक श्रम के लिए अलग से घण्टे न देने पड़ें। प्राचीन गुरुकुलों में विद्यार्थियों की जो दिनचर्या थी उसका सावधानी से सिंहावलोकन करने पर नवीन पाठ्यक्रम के निर्माण में पर्याप्त सहायता मिल सकती है। ११ वर्ष से १४ वर्ष की अवस्था मानव-विकास के विचार से सबसे महत्वपूर्ण समय है। इस काल में बुद्धि और शरीर को यदि अलग-अलग विकसित होने दिया जाय तो शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का यही मुख्य दोष है। इस दोष का निवारण तब तक नहीं हो पायगा जब तक कि विभिन्न उद्योगों का वास्तविक मूल्यांकन नहीं कर लिया जाता।

विभिन्न उद्योगों के वास्तविक मूल्यांकन का उद्देश्य यही है कि भारतीय परम्परा में उन उद्योगों को किस रूप में खपाया तथा अपनाया गया है। निस्सन्देह, देश, काल और पात्र के सिद्धान्त का इसमें अधिकाधिक ध्यान रखा जायगा। विज्ञान और जनतन्त्र विशेषताओं की उपेक्षा असम्भव है। परन्तु इन्हें विधिवत् अपनाते हुए भी अन्य भारतीय विशेषताओं को अपनाना परमावश्यक है। पिछले अध्यायों में कहा गया है कि वर्तमान काल में हम भारतवासियों की अपने-अपने उद्योगों में श्रद्धा नहीं रह गई है। अपने उद्योगों में अपने को सफल दिखाई देने के लिए जितना कपटाचार आजकल हम लोग कर रहे हैं उतना अन्य उन्नतिशील राष्ट्रों के नागरिक नहीं कर रहे हैं। दूध में पानी मिलाने में, अन्न में कंकरी डालने में, रेल में बिना टिकट चलने में, मित्रों का साथ छोड़ने में, ग्राहक को कम तौलने या नापने में जितना आगे हम बढ़े हुए हैं उतना सम्भवतः अन्य लोग नहीं हैं। पिछले अध्यायों में यह भी स्पष्ट किया गया है कि विदेशी शाशन-काल में सरकारी नौकरियों को आवश्यकता से बहुत अधिक और यहाँ की जनता एवं उनके उद्योग-धन्धों को आवश्यकता से बहुत कम महत्व दिया जाता था। फलतः सभी शिक्षित लोग नौकरियों की ओर अधिक झुकते थे। फिर इसमें आश्चर्य ही क्या हो सकता है कि उद्योग-धन्धों के प्रति हम एवं हमारे छात्र उदासीन हो गये हैं।

स्वतन्त्र होने पर भी एक के उपरान्त दूसरी ऐसी-ऐसी गुत्थियों में हम उलझते जा रहे हैं कि इस भयंकर क्षति को ठीक करने का समुचित प्रयत्न नहीं

कर सके। यों श्रमदान, वन-महोत्सव, सामुदायिक कार्य आदि अनेक योजनाएँ हमने बनाई हैं परन्तु ये सब बाह्य एवं ऊपर से लदी हुई प्रतीत होती हैं। इनके निमित्त दिन, सप्ताह आदि नियत कर दिये गये हैं और उनके आने पर कुछ हा-हू कर दिया जाता है। यह हा-हू करने वाले लोग भी प्रधानतः सरकारी नौकर अथवा नौकरी के उम्मीदवार होते हैं। जिन कामों से जी बचाकर वे लोग नौकरियों में घुसने के लिए नाना प्रकार का प्रयत्न करते हैं उन्हीं कामों में लगने के लिए उन्हें बाध्य करके कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होता है। इसे बड़े लोग ही जानें। कोट-पैंट पहने हुए लम्बे बाल वाले नवयुवकों को ग्रामीण लोग जब फावड़ा, टोकरी आदि लिये देखते हैं तो उनके मन में नाना प्रकार के भ्रम और सन्देह होने लगते हैं। इसके बजाय कि इन प्रयत्नों से प्रेरित होकर गाँव वाले अपने काम-काज में अधिक उत्साह से लगें वे अपने बच्चों की पढ़ाई यह कहकर रोकने लगते हैं कि पढ़ने-लिखने के उपरान्त जब फावड़ा-टोकरी ही उठाना है तो इस पढ़ाई की आवश्यकता ही क्या है। श्रम एवं उद्योग-धन्धों का महत्व अधिकांश भारतीय जनता के मन में फिर से प्रमाणित करना है।

सन् १९२० ई० के उपरान्त स्वतंत्रता-प्राप्ति के प्रयत्नों में व्यापकता आने लगी। कभी-कभी विद्वानों का ध्यान शिक्षा की इस कमी की ओर भी आकर्षित होने लगा। सन् १९३० ई० के आसपास तत्कालीन बनारस क्षेत्र के विद्यालयों के निरीक्षक स्वर्गीय हरिहर नाथ वांचू ने प्रारम्भिक पाठशालाओं में स्थानीय उद्योग-धन्धों को कुछ महत्व देने का सफल प्रयत्न किया था। यदि उनकी योजना पूर्ण रूप से सफलीभूत तथा स्थायी न हो सकी तो इसका एक कारण यह था कि जो कुछ उन्होंने किया या कराया, वह निर्धारित पाठ्यक्रम को अक्षरशः पूरा करने के उपरान्त ही हुआ था। दूसरे, सरकारी कर्मचारी होने से किसी सुधारक को जो-जो सुविधाएँ मिलनी चाहिए वे उन्हें उपलब्ध न हो सकती थीं। वहाँ से उनका स्थानान्तर होते ही सब किया कराया समाप्त-सा हो गया। परन्तु कुछ समय तक बनारस क्षेत्र में वे इतने विख्यात तथा सर्वप्रिय हो गये थे कि दो-चार 'वांचू' प्रत्येक गाँव में बना दिये गये थे। वहाँ की जनता वांचू साहब को दक्षता और तत्परता की मूर्त्ति समझती थी। गाँव में जो किसान अपना दैनिक काम-काज नियमित रूप से करने लगता था उसका नाम गाँव के लोग तुरन्त वांचू रख देते थे। उनकी असामयिक और अचानक मृत्यु से बनारस क्षेत्र का गाँव-गाँव ही नहीं, प्रत्युत घर-घर संतप्त हुआ था। वांचू-योजना की विशेषता यह थी कि अध्यापकों के निजी प्रयत्न से विभिन्न कुटीर उद्योगों के ग्रामीण कारीगर विद्यालयों में जाकर बिना कुछ लिये-दिये छात्रों को

कुछ समय तक सिखाते थे। अपना तथा अपने उद्योग का इस प्रकार आदर होते देखकर वे लोग गौरवान्वित होते थे।

सन् १९३७ ई० के आस-पास जब बेकारी की समस्या बहुत बढ़ गई तो महात्मा गान्धी भी इस ओर झुके। विभिन्न उन्नतिशील राष्ट्रों की शिक्षा-पद्धतियों का सिंहावलोकन करके महात्माजी ने 'बेसिक सिक्षा' की रूप-रेखा तैयार की। कहा जाता है कि जापानी शिक्षा-पद्धति से वे अधिक प्रभावित थे। कुछ भी हो, जीवनपर्यन्त राजनीतिक और सामाजिक गुत्थियों में उन्हें इतना उलझना पड़ा कि शिक्षा की समस्या पर स्थिर चित्त से सम्भवतः वे कभी भी न मनन कर सके। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय शिक्षा की त्रुटियों पर उनकी दृष्टि सर्वदा रही और समय-समय पर उनके शिक्षा-सम्बन्धी उद्‌गार बराबर निकलते रहते थे परन्तु समय की कमी से अपने विचारों को कार्य रूप में परिणत तथा व्यवस्थित वे कभी न कर सके। उनके उपदेशों को क्रियात्मक रूप उनके सम्पर्क में रहने वाले अन्य लोग ही दे पाये। उनकी ही प्रेरणा से विद्यापीठ, बेसिक पाठशालाएँ तथा इस प्रकार की अन्य शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित हुईं और उनके सामयिक समारोहों में वे प्रायः भाग लेने का समय भी वे निकाल लेते थे परन्तु यह सत्य है कि इन संस्थाओं की विस्तृत रूप-रेखा निर्धारित करने में उनकी सहानुभूति और शुभकामना तो पूर्ण रूप से होती थीं लेकिन उनका मस्तिष्क उपलब्ध कदापि न हो पाता था। यदि ध्यान से देखा जाय तो इस व्यतिक्रम की इन संस्थाओं पर अमिट छाप है।

गोपाल और कन्या विद्यालयों के पाठ्यक्रम में उद्योग-धन्धों को वास्तविक महत्व देने में 'वांचू योजना' से पर्याप्त सहायता मिल सकती है। कठिनाई यह है कि उस योजना से संबन्धित कोई लिखित साहित्य न मिल पायेगा; सम्भवतः उन बातों को लिखित रूप दिया ही नहीं गया था। साथ ही, इन पच्चीस-तीस वर्षों में भारतीय वातावरण में भी बड़ा परिवर्त्तन हो गया है। बिना कुछ लिये-दिये किसी का कोई काम कर देने अथवा किसी को कुछ बता-सिखा देने की परम्परा समाप्त सी हो गई है। वांचू योजना का उल्लेख इसी लिए किया जा रहा है कि कोई ऐसा उपाय निकाला जाय कि विद्यालय और वातावरण में वास्तविक एवं स्वाभाविक सम्पर्क स्थापित हो जाय। इतना निश्चय है कि शिक्षा में भक्तिमूलक प्रवृत्तियों का जितना समावेश हम कर सकेंगे, उसी के अनुपात से शिक्षा और श्रम का भी स्वाभाविक सामञ्जस्य सम्भव होगा। अब यह तो सम्भव नहीं रह गया कि छात्र भिक्षा माँगें, गुरु की गायें चरावें, उनके लिए लकड़ियां काटें तथा अन्य सेवा के कार्य करें। प्राचीन काल में छात्राओं की

शिक्षा के लिए कोई विशेष व्यवस्था नहीं होती थी। अब वह बात नहीं है। ऐसे पाठ्यक्रम का स्वप्न भी नहीं देखा जा सकता जिसमें छात्रों और छात्राओं को घूमना-फिरना अधिक हो। संक्षेप में प्राचीन उद्देश्यों का ग्रहण कर लिया जाय उनकी पूर्ति के लिए अभ्यास समयानुकूल हों।

(२) माध्यमिक शिक्षा—किशोर-किशोरी विद्यालयों तक पहुँचते-पहुँचते छात्रों की अवस्था लगभग १४ वर्ष के हो जायगी। यह स्तर साधारणतः १८ वर्ष की अवस्था में समाप्त हो जायगा। इस स्तर में लड़कियों और लड़कों के पाठ्यक्रम में पर्याप्त अन्तर हो जायगा। अधिकांश लड़कियाँ विवाहिता रहेंगी। भाषा, साहित्य, समाज शास्त्र, आदि विषयों में अन्तर होने का प्रश्न कम उठेगा परन्तु उद्योग-धन्धों की रूप-रेखा में पर्याप्त अन्तर पड़ जायगा। पिछले अध्याय में कहा गया है कि भारतीय महिलाओं को तीस वर्ष की अवस्था तक गुरुजन-सेवा करनी पड़ेगी। फलतः इसी के अनुरूप कोई पाठ्यक्रम निर्धारित करना पड़ेगा। वर्तमान युग विज्ञान और जनतंत्र से पोषित है। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे स्त्री हो अथवा पुरुष, अपने अधिकारों के लिए प्रयत्नशील है। ऐसी दशा में किसी के जिम्मे सेवा ही निर्धारित कर देना कम से कम पाश्चात्य लोगों को हास्यास्पद प्रतीत होगा। 'भारतीय सेवा' की व्याख्या जानने का कोई प्रयत्न न करेगा बल्कि इस नाम के कार्य को सुनते ही उसके नाक-भौं सिकुड़ जायँगे। फलतः अभी ही इसके अनुरूप पाठ्यक्रम निर्धारित करने का साहस नहीं हो रहा है। फिर भी इसकी रूप-रेखा के लिए पिछले अध्याय में पर्याप्त संकेत किया गया है। इतना निश्चय है कि हमारी महिलाओं को गृह के लिए और हमारे पुरुषों को बाहर के लिए तैयार होना है।

जहाँ तक भाषा और साहित्य का सम्बन्ध है इस स्तर के सभी छात्र और छात्राएँ किसी न किसी विदेशी भाषा का भी अध्ययन करेंगी। अब तक सभी भारतीय छात्र केवल अंगरेजी का अध्ययन कर रहे हैं। वर्तमान परिस्थितियों में यही उपयोगी भी रहा है। अब हमें भविष्य के लिए तैयार होना है। रूसी, चीनी, जापानी, मिश्री, अफगानी आदि भाषाओं का अध्ययन किये बिना हमारा काम नहीं चल सकता। संभवतः यह सुविधाजनक होगा कि प्रत्येक क्षेत्र के लिए कोई न कोई विदेशी भाषा भी निर्धारित कर दी जाय। जिस प्रकार हमारे संविधान में चौदह-पंद्रह क्षेत्रीय भाषाएँ स्वीकृत की गई हैं उसी प्रकार संसार की भाषाओं में से भी चौदह-पंद्रह मुख्य भाषाएँ छाँट ली जायँ। अंगरेजी को तो अभी कुछ समय तक देश के प्रत्येक भाग में पढ़वाना उपयोगी दीखता है। विदेशी भाषा नाम का एक विषय रखा जाय। इसमें दो भाग हों प्रथम अंगरेजी

और द्वितीय भाग संसार की कोई अन्य भाषा। जिस आधार पर हिन्दी-क्षेत्र को विभिन्न खण्डों में कल्पित करके सभी क्षेत्रीय भाषाओं को गोपाल तथा कन्या विद्यालयों में पढ़वाने के सुझाव दिया गया है उसी आधार पर समस्त देश को विभिन्न खण्डों में कल्पित करके संसार की सभी मुख्य भाषाएँ किशोर तथा किशोरी विद्यालयों में पढ़ाई जायँ।

उपर्युक्त योजना के आधार पर देश के प्रत्येक कल्पित खण्ड में विदेशी भाषा के विषय का प्रथम भाग अंगरेजी होगी और द्वितीय भाग उस खण्ड के लिये निर्धारित संसार की अन्य (अंगरेजी के अतिरिक्त) कोई विदेशी भाषा। इस प्रकार किशोर-किशोरी विद्यालयों के छात्र और छात्राएँ तीन भाषाएँ पढ़ेंगी—मातृ भाषा, राष्ट्र भाषा (हिन्दी वाले क्षेत्र कोई अन्य क्षेत्रीय भाषा) और विदेशी भाषा। यह सम्भवतः विशेष कठिन न होगा। शिक्षा-शास्त्रियों का कहना है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी छात्र कई भाषाओं के अध्ययन में रुचि दिखाते हैं। माध्यमिक स्तर के चार वर्षों में छात्रों को सम्भवतः इतना ज्ञान हो जायेगा कि वे उन विदेशी भाषाओं में कुछ बोल-लिख सकेंगे। अंगरेजी के अध्ययन के लिए तो पर्याप्त सामग्री एवं सुविधाएँ प्राप्त हैं। हाँ, अन्य विदेशी भाषाओं की रूप-रेखा निर्मित करनी पड़ेगी। रूस, आदि कई देश अभी से हिन्दी सीखने के लिए प्रयत्नशील हैं। जर्मनी, फ्रांस, इटली आदि पाश्चात्य देशों में संस्कृत का अध्ययन बहुत दिनों से हो रहा है। स्वतन्त्र भारत यदि इस ओर जागरूक हो जायगा तो अचिरात् इस ओर आशातीत प्रगति होगी। विदेशी भाषाओं में अन्य भाषाओं की अपेक्षा अंगरेजी को अधिक महत्व देने के लिए हम विवश हैं। वास्तविक स्थिति यह है कि अंगरेजी के ही माध्यम से अन्य भाषाओं को हम सीख सकेंगे।

किशोर-किशोरी विद्यालयों में भाषा के अतिरिक्त अन्य विषय इसी भाँति पढ़ाये जायँगे। सामग्री में निस्सन्देह पर्याप्त हेर-फेर करना पड़ेगा। शिक्षा का दृष्टिकोण भक्तिमूलक हो जाने पर प्रत्येक विषय की रूप-रेखा हमें ऐसी तैयार करनी होगी कि हमारे भावी नागरिक आन्तरिक और वाह्य दोनों स्थितियों का समान रूप से सामना कर सकें। अपनी प्राचीन शिक्षा और संस्कृति से अर्जित 'सन्तोष' और 'सहनशीलता' के कारण विदेशियों के सम्मुख हमें अपार भौतिक कष्ट सहना तथा अपमानित होना पड़ा है। इन विशेषताओं से अंततोगत्वा विदेशियों को विधिवित् हम प्रभावित तो कर लिये परन्तु इसमें असीमित शक्ति तथा समय का अपव्यय हुआ। भावी शिक्षा-योजना में इसके लिए हमें अधिकाधिक सावधान रहना है। यहाँ के नागरिकों को विधिवत् स्पष्ट

होना चाहिए कि एक ही प्रकार की गुत्थी यदि देश में उलझे तो उनका क्या कर्त्तव्य है और यदि अन्य देशों से उलझे तो उन्हें क्या करना चाहिए। बहुत से छात्रों की शिक्षा इसी स्तर पर समाप्त हो जायगी—फलतः इसी स्तर पर उन्हें तैयार करना है।

पिछले अध्यायों में यथा स्थान दिया गया है कि इन विद्यालयों के अतिरिक्त सेना एवं सुरक्षा के निमित्त अलग से सुव्यवस्थित सैनिक विद्यालय होंगे और उन संस्थाओं की रूप-रेखा सर्वथा भिन्न होगी। फिर भी किसी देश की रक्षा केवल सैनिकों द्वारा सम्भव नहीं होती। इस विज्ञान-पोषित युग में जब तक नागरिकों के स्वदेश-प्रेम तथा नैतिकता का स्तर पर्याप्त ऊँचा न होगा, तब तक किसी देश की सुरक्षा सम्भव नहीं। यह सिद्धान्त प्रत्येक युग के लिए चरितार्थ है परन्तु वर्तमान काल के लिए अनिवार्य-सा है। फलतः इन सामान्य विद्यालयों का पाठ्यक्रम भी निर्धारित करते समय हमें इन बातों का ध्यान रखना है। साधारणतः किशोरियों के सेना, परराष्ट्र नीति, आदि में सक्रिय भाग लेने के लिए उन्हें तैयार नहीं करना है परन्तु उग्र स्वभाव की किशोरियों को इन कामों के लिए अवसर प्रदान करना सम्भवतः अनुचित न होगा। साथ ही, संसार के विभिन्न देशों और राष्ट्रों की सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा आर्थिक पद्धतियों के प्रति अपने भावी नागरिकों को उदार बनाना है।

किशोर-किशोरी विद्यालयों का एक दायित्व और भी बहुत महत्वपूर्ण है। उद्योग-धन्धों को समुचित प्रोत्साहन देने का संकेत गोपाल तथा कन्या विद्यालयों के ही प्रसंग में दिया गया है। साधारणतः वही क्रम समुचित विस्तार तथा तीव्रता के साथ चलता रहेगा। परन्तु इस स्तर पर जीविका के सम्बन्ध में भी जागरूक होना पड़ेगा। भारतीय परम्परा का पुनरुत्थान हो जाने पर हमारे आर्थिक दृष्टिकोण एवं जीविका-समस्या की रूप-रेखा में पर्याप्त परिवर्तन होगा। फिर भी प्राचीन अथवा मध्यकालीन त्याग और सन्तोष का पूर्ण रूप से प्रादुर्भाव कठिन है। अभिभावकों की सम्मति और छात्रों की रुचि के आधार पर किशोरों की जीविका का निर्णय निश्चित रूप से इन विद्यालयों को ही करना पड़ेगा। क्षमता और योग्यता के ठीक क्रम से प्रत्येक किशोर के लिए तीन-तीन कार्य निर्धारित किये जायँगे। समाज और सरकार का यह परम पुनीत कर्त्तव्य होगा कि प्रत्येक छात्र को उसके लिए निर्धारित यथासम्भव प्रथम कार्य मिले। इन विद्यालयों के लिए यदि हम समुचित

पाठ्यक्रम तैयार कर सकेंगे तो विभिन्न किशोरों के लिए उपयुक्त जीविका निर्धारित करने में विशेष कठिनाई न होगी।

माध्यमिक स्तर तक अधिकांश नागरिकों की संस्थाधारित शिक्षा समाप्त सी हो जायगी। उच्च शिक्षा में प्रायः वे ही लोग जायँगे जो कि प्रतिभा-सम्पन्न होंगे। इसी में व्यक्ति और समाज दोनों ही का कल्याण है। फलतः माध्यमिक स्तर का पाठ्यक्रम इतना व्यापक और उदार होना चाहिए कि लगभग सभी प्रकार के लोगों का समुचित विकास सम्भव हो सके। कुछ लोग मन्दगति से समझते, सोचते तथा बोलते और लिखते हैं। वर्तमान शिक्षा-पद्धति में ऐसे लोगों के साथ न्याय नहीं हो पा रहा है। इनमें से अधिकांश व्यक्तियों में धैर्य, अध्यवसाय, मनन, चिन्तन, आदि की प्रचुरता होती है परन्तु अपनी इन्हीं विशेषता के कारण ये लोग कक्षा में पिछड़ने लगते हैं और धीरे-धीरे कुन्द बुद्धि वाले घोषित हो जाते हैं। अन्धे, गूँगे, पागल, आदि व्यक्तियों की कुछ शिक्षा के लिए कहीं-कहीं कोई न कोई व्यवस्था मिलती है परन्तु उपर्युक्त लोगों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित नहीं हो सका है। यह कार्य कठिन अवश्य है। कक्षा पद्धति में पर्याप्त हेर-फेर करने पर कुछ किया जा सकता है। चूँकि इस प्रकार के लोग किसी काम से शीघ्र थकते तथा ऊबते नहीं अस्तु इन्हें प्रति दिन कुछ अधिक समय तक पढ़ाया जा सकता है। यदि साधारण छात्रों को कोई विषय पढ़ने के लिए प्रति दिन ३५ अथवा ४० मिनट दिया जाता है तो इन लोगों को ४५ अथवा ५० मिनट दिये जायँ। प्रत्येक कक्षा में ऐसे छात्रों का कोई अलग वर्ग होना चाहिए। बड़े-बड़े नगरों में बहुत से विद्यालय होते हैं। उनमें से एक-दो विद्यालय ऐसे ही छात्रों के लिए हो सकते हैं।

झेंपू और उग्र स्वभाव के छात्रों का भी वर्त्तमान विद्यालयों में समुचित विकास नहीं हो पा रहा है। यदि झेंपू हुए तो कक्षा में भीगी बिल्ली बने रहते हैं और यदि उग्र स्वभाव के हुए तो अनुचित रूप से हावी रहते हैं। इन लोगों के निमित्त पाठ्यक्रम में उपयुक्त अभ्यासों की प्रचुरता होनी चाहिए। झेंपू छात्रों को मौखिक और उग्र स्वभाव वालों को लिखित अभ्यास अधिक कराना चाहिए। शिक्षा और समाज में सामञ्जस्य स्थापित हो जाने पर इन दोनों प्रकार के छात्रों की संख्या सम्भवतः बहुत घट जायगी। घर और विद्यालय के वातावरण में पर्याप्त अन्तर होने से ही अवसरों के अनुसार छात्र दब या उठ जाते हैं। कुछ छात्र घर में नाना प्रकार की उद्दण्डता करते हैं परन्तु विद्यालय में अथवा घर के बाहर भोले-भाले प्रतीत होते हैं और कुछ छात्र ठीक इसके प्रतिकूल होते हैं। विस्तृत पाठ्यक्रम में विभिन्न प्रकार के अभ्यासों की तालिका तथा उनके संक्षिप्त

विवरण दिये जा सकते हैं। किशोरों की अपेक्षा किशोरियों के निमित्त ऐसे अभ्यास कठिनाई से बन सकेंगे। एक ओर शील और झेंप में और दूसरी ओर उग्रता तथा निर्भीकता में पर्याप्त अन्तर होता है। शील और निर्भीकता में मर्यादा एवं सामाजिक आदर्श सुरक्षित हैं परन्तु झेंप और उग्रता में ये अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। इसी दृष्टि से अपेक्षित अभ्यासों का निर्माण होना चाहिए।

माध्यमिक स्तर के पाठ्यक्रम में इसी स्तर के शिक्षकों का प्रमुख स्थान होना चाहिए। आज कल भी यही कहा जाता है परन्तु माध्यमिक परिषदों में शिक्षकों का हाथ नहीं के बराबर है। तीस-चालीस सदस्यों में माध्यमिक शिक्षकों के प्रतिनिधियों को कठिनाई से दस-बारह स्थान मिल पाते हैं। एक तो इन प्रतिनिधियों का चुनाव राजनीतिक गुटबन्दी के आधार पर होता है और दूसरे, विभिन्न समितियों के संयोजक या तो ऊँचे लोग होते हैं अथवा ऐसे शिक्षक हो जाते हैं जिनका सामान्य प्रभाव अधिक होता है। इसी विचार से भावी योजना में माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम को दो भागों में बाँट दिया गया है। पूर्व माध्यमिक कक्षाओं (वर्तमान हाई स्कूल) का पाठ्यक्रम क्षेत्रीय प्रशिक्षण महाविद्यालयों द्वारा और उत्तर माध्यमिक (वर्तमान इंटरमीडियट) का प्रान्तीय प्रशिक्षण केन्द्र द्वारा तैयार किया जायगा। प्रशिक्षण संस्थाओं की भावी रूप-रेखा इतनी विस्तृत तथा व्यवस्थित कर दी गई है कि पूर्व माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में क्षेत्रीय एवं स्थानीय प्रवृत्तियों और आवश्यकताओं को समुचित महत्व मिल सकेगा। हाँ, उत्तर माध्यमिक शिक्षा का दृष्टिकोण पूर्ण रूप से अखिल प्रान्तीय होगा और इसी से उसके पाठ्यक्रम की व्यवस्था प्रान्तीय प्रशिक्षण केन्द्र द्वारा होगी।

(३) उच्चशिक्षा—विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों के पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में अधिक सोचना तथा लिखना सम्भव नहीं है। प्राथमिक और माध्यमिक स्तर की जैसी रूप-रेखा बन पायेगी और कार्यान्वित हो जायगी उसीके अनुकूल उच्चशिक्षा की रूप-रेखा निर्मित होगी। हाँ, पाठ्यक्रम का उद्देश्य वही भक्ति-मूलक तथा कर्म-प्रधान रहेगा। प्रत्येक विषय से सम्बन्धित साहित्य, अभ्यास प्रयोग, आदि में समुचित परिवर्तन की आवश्यकता पड़ेगी। इस कार्य में पर्याप्त सावधानी, तत्परता, धैर्य तथा समय अपेक्षित है। इतना निश्चय है कि इस स्तर पर 'ज्ञान' को समुचित महत्व दिया जायगा। पिछले अध्यायों में भी संकेत हो चुका है कि भक्ति का विधिवत् अभ्यास कर लेने पर अथवा यह कहा जाय कि आत्मसंयम और आत्मनियंत्रण की क्रिया समाप्त कर चुकने पर ज्ञान का अध्ययन और अर्जन हम उत्साहपूर्वक करेंगे। 'आत्म-संयम' की क्षमता किसी व्यक्ति में

कितनी है, इसका पता माध्यमिक स्तर तक पूर्ण रूप से लग जायगा। जिसकी जो आदत बननी और पड़नी होगी, वह पड़ चुकेगी। विश्वविद्यालयों में उन्हीं आदतों के माध्यम से अध्ययन और ज्ञानार्जन होंगे। हाँ, इतना निश्चय है कि भावी महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में पात्रताहीन व्यक्तियों का प्रवेश कदापि न हो सकेगा।

उच्च शिक्षा का पाठ्यक्रम कुछ ऐसा निर्धारित होगा कि इसे प्राप्त करने वाले व्यक्तियों में सभी सामाजिक विशेषताएँ किसी माध्यमिक शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति से अधिक विकसित तथा व्यवस्थित प्रत्यक्ष प्रतीत होने लगें। कितनाहू ज्ञानार्जन कर चुकने पर भी उनमें अहंकार का बीजारोपण नहीं होना चाहिए। यों अहंकार की निन्दा प्रत्येक राष्ट्र और समाज में है, परन्तु दृष्टिकोणों की भिन्नता से मात्रा और रूप में अन्तर होता है। व्यक्तित्व-प्रधान परम्परा में अहंकार का अधिकांश गर्व के अन्तर्गत आ जाता है। अहंकार का प्रादुर्भाव होने पर विकास रुक-सा जाता है। जिस संस्कृति में अहंकार की जितनी ही न्यूनता रहेगी उसमें व्यक्ति का विकास उतना ही ठोस और अधिक होगा। साथ ही अहंकार के अभाव से मनुष्य की जिज्ञासा सर्वतोमुखी होती जाती है। यों भावी शिक्षा में अहंकार का शोधन माध्यमिक स्तर तक हो चुकेगा परन्तु उच्च शिक्षा में छात्रों को अन्य राष्ट्रों की विशेषताओं का भी अध्ययन करना पड़ेगा। फलतः दुर्बल हृदय के छात्रों को फिसल जाने का भय बराबर रहेगा। यह कह देना पर्याप्त नहीं कि ऐसे छात्रों को उच्च शिक्षा की आवश्यकता ही नहीं। विज्ञान और जनतन्त्र के इस नवीन युग में कितना ही सावधान रहा जाय परन्तु अनेक अयोग्य छात्र अन्य साधनों द्वारा अवश्य ही पहुँच जायँगे। इस प्रकार पाठ्यक्रम में ही हमें इस ओर विशेष ध्यान देना पड़ेगा।

उच्च शिक्षा प्राप्त किसी भी भारतीय व्यक्ति में शील, उदारता, दृढ़ता, अध्यवसाय, न्यायप्रियता, आदि विशेषताएँ माध्यमिक शिक्षा-प्राप्त व्यक्तियों से निश्चित रूप से अधिक होनी चाहिए। इतना ही नहीं, इन विशेषताओं के समुचित उपयोग का भी उन्हें पर्याप्त अभ्यास कराया जायगा। इसी विचार से अध्याय ८ और ९ में छात्रों और छात्राओं को अधिकाधिक कर्म-प्रिय तथा व्यवहार-कुशल होने का सुझाव दिया गया है। व्यवहार-कुशलता की भारतीय परिभाषा और रूप-रेखा सर्वथा भिन्न है। येन-केन प्रकारेण अपने उल्लू को सीधा कर लेने वाले व्यक्ति को आज कल प्रायः व्यवहार-कुशल माना जाता है। भारतीय परम्परा में ऐसी बात नहीं है। त्याग की प्रधानता

के कारण कभी भी और कहीं भी हमारी समस्याएँ हमारे ऊपर कदापि नहीं उठ पाती थीं। घोर से घोर आपत्तियों और विकट से विकट कठिनाइयाँ भी हमारे मार्ग को अकारण नहीं छुड़ा सकती थीं। इतना अटल और अडिग रहने की न अब सम्भावना है और न आवश्यकता। विज्ञान और जनतन्त्र के प्रभाव से अच्छे-बुरे, पुण्य-पाप, ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, आदि का अन्तर न्यूनतम-सा हो गया है। विचित्रता यह है कि यह अन्तर-न्यूनता केवल कागजी एवं सिद्धान्त-सम्बन्धी है। व्यवहार और प्रयोग में अथवा यह कहा जाय कि वास्तविक जीवन में यह अन्तर उसी अनुपात से बढ़ता जा रहा है जिससे कि विज्ञान और जनतन्त्र की प्रगति हो रही है तथा उन कागजी सिद्धान्तों को स्पष्टता तथा सावधानी से लिपि-बद्ध किया जा रहा है।

विज्ञान और जनतंत्र का अधिकाधिक उपयोग करते हुए भारतवर्ष अपनी भावी परम्परा में सिद्धान्त-निरूपण और उनके प्रयोग के उपर्युक्त अन्तर को जितना ही घटा और मिटा सकेगा उतना ही हमारी शिक्षा में भारतीय विशेषताओं का वास्तविक पुनरुद्धार माना जायगा। यह पुनरुद्धार विविध कानूनों और धाराओं के निर्माण और पहचान के एक से एक जौहरी अन्य देशों में पड़े हुए हैं। भारतवर्ष में यह क्षमता इसलिए अपेक्षित है कि इसके मूल आदर्शों में 'त्याग' और 'सन्तोष' का सर्वाधिक समावेश है। पिछले अध्यायों में प्रसंगवश कई स्थानों पर कहा गया है कि इस समय ये विशेषताएँ तिरोहित अवश्य हैं परन्तु समुचित उपचार करने पर ये हमारा पथ-प्रदर्शन सफलतापूर्वक कर सकेंगे। यों इस उपचार के आधार जीवन के अनेक अंग और उपांग हैं परन्तु इनमें सबसे मुख्य शिक्षा है। शिक्षा में भी उच्च शिक्षा के ही अन्तर्गत इसके लिए उपयुक्त और सर्वाधिक अवसर मिलते हैं। यों भक्तिमूलक शिक्षा के सभी स्तर पर किसी न किसी रूप में 'त्याग', 'सन्तोष' आदि का समावेश निश्चित रूप से रहेगा परन्तु इन उच्च कोटि की विशेषताओं की व्याख्या तथा उनके विवेचन, विश्लेषण, अभ्यास, आदि उच्च स्तर पर ही सम्भव तथा उपयोगी होते हैं।

उच्च शिक्षा एवं उसके पाठ्यक्रम से सम्बन्धित एक अत्यन्त विकट समस्या एवं गुत्थी और है। उच्च शिक्षा किस भाषा के माध्यम से दी जाय? इससे सम्बन्धित भी नाना प्रकार के गम्भीर से गम्भीर और कटु से कटु वाद-विवाद हो रहे हैं। इस दुविधा एवं द्वन्द्व से भी देश की प्रगति को पर्याप्त धक्का पहुँच रहा है। बहुत से लोगों का कहना है कि देश के विभिन्न भागों की उच्च शिक्षा वहाँ की क्षेत्रीय भाषा के माध्यम से दीजाय। इस मति की

पुष्टि के लिए पर्याप्त अनुकूल सामग्री उपलब्ध है। परन्तु समूचे राष्ट्र के दृष्टिकोण से यह उचित नहीं दीखता। उच्च शिक्षा के विभिन्न माध्यम होने पर राष्ट्रियता के कई महत्वपूर्ण अंग पुष्ट न हो पायेंगे। हिन्दी क्षेत्र के विद्वानों और नेताओं का दावा है कि उच्च शिक्षा का माध्यम समस्त देश में राष्ट्र भाषा हिन्दी हो। इस विचारधारा की पुष्टि के लिए वैधानिक पुष्टियाँ सभी उपलब्ध हैं। पिछले अध्यायों में तथा इसी अध्याय में प्रमाणित किया गया है कि केवल वैधानिकता के बल पर कोई भी कार्य सुचारु रूप से नहीं हो सकता और शिक्षा का सुसम्पादन तो असम्भव-सा है। इसमें सन्देह नहीं कि राष्ट्र-भाषा के उच्च शिक्षा का माध्यम होने पर कई बातों की अनोखी सुविधाएँ प्राप्त हो सकती थीं परन्तु जब इस पर मतभेद हो गया है तो उनका स्वप्न देखना उपयोगी नहीं।

उपर्युक्त दो दलों के संघर्ष एवं द्वन्द्व से प्रेरित होकर सबसे सुदृढ़ वर्ग वह है जो उच्च शिक्षा के माध्यम के महत्वपूर्ण पद पर अंगरेजी को ही सुशोभित देखना चाहता है। इस मति के पक्ष में अभी सभी सुविधाएँ प्राप्त हैं। इस वर्ग के वकीलों की संख्या भले ही कम हो परन्तु ये सभी लोग सुशिक्षित तथा विद्वान् हैं। इन लोगों को अपने विचार प्रकट करने के लिए उपयुक्त, भाषा, मंच, मुद्रणालय आदि सभी कुछ व्यवस्थित तथा निर्धारित हैं। इनके तर्क को काटना साधारणतः सरल नहीं। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कार्य-कलाप में अभी अंगरेजी भाषा को इतना अधिक महत्व प्राप्त है कि कभी-कभी देश के सभी लोग उच्च शिक्षा का माध्यम अंगरेजी को ही बनाये रखने के लिए यदि प्रत्यक्ष और प्रकट रूप से नहीं तो परोक्ष और गुप्त रूप से अवश्य ही लालायित हो उठते हैं। साथ ही, यह भी स्वीकार कर लेने में तनिक भी हिचक नहीं होनी चाहिए कि कई ऐसे विषय हैं जिनको भारतीय भाषाओं के माध्यम से पढ़ाने के लिए पर्याप्त समय और परिश्रम अपेक्षित है। मातृ-भाषाओं में एक तो उपयुक्त शब्दावली का बड़ा अभाव है और दूसरे दुविधा के फलस्वरूप इस ओर ठोस कदम उठाया नहीं जा रहा है। हाँ प्रत्येक संस्था में कुछ इने-गिने शिक्षक अवश्य हैं जो अपनी विशेष रुचि से प्रेरित होकर अपने अध्यापन में मातृ भाषा को यथासम्भव महत्व दे रहे हैं।

उच्च शिक्षा के लगभग सभी विषयों के दो भाग होते हैं। दोनों के अलग-अलग प्रश्न-पत्र आते हैं। दोनों को समान महत्त्व होता है और कभी-कभी दोनों के अलग-अलग शिक्षक भी होते हैं। देश के प्रत्येक महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय के प्रत्येक विषय के एक भाग का अध्यापन और अध्ययन राष्ट्र-

भाषा हिन्दी के माध्यम से हो और दूसरे भाग का अध्यापन और अध्ययन वहाँ की क्षेत्रीय भाषा में हो। इसी प्रकार हिन्दी क्षेत्र के प्रत्येक महाविद्यालय और विश्वविद्यालय के प्रत्येक विषय का एक भाग हिन्दी में और दूसरा किसी न किसी क्षेत्रीय भाषा में पढ़ाया जाय। यह सुझाव कुछ बेतुका तथा विचित्र अवश्य प्रतीत हो रहा है परन्तु उतना नहीं जितना कि अंगरेजी को ही उच्च शिक्षा का माध्यम बनाये रखने का है। यदि लोभ और डर के फलस्वरूप अंगरेजी के हम इतने बड़े उपासक हो सके हैं तो प्रेम और श्रद्धा के सामञ्जस्य से भारतीय भाषाओं का अनन्य भक्त होने में हमें अधिक समय कदापि न लगेगा। विभिन्न प्रकार की ऊँची-ऊँची-प्रशिक्षण संस्थाओं का माध्यम सम्पूर्ण देश में राष्ट्रभाषा हिन्दी रहेगी। शासन के सभी कार-बार हिन्दी में होंगे। प्रान्तीय सरकारें अपनी सीमा के अन्तर्गत क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग कर सकती हैं परन्तु केन्द्र तथा अन्य प्रान्तों के साथ समस्त आदान-प्रदान हिन्दी में होंगे। केन्द्र को सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था हिन्दी में होगी।

कुछ विशेष बातें—उपर्युक्त योजना को सफल बनाने का पूरा दायित्व हिन्दी क्षेत्र पर है। जिस रुचि और चाव से क्षेत्रीय भाषाओं को ये लोग अपनायेंगे उससे अधिक मात्रा में हिन्दी का देशव्यापी प्रचार और विस्तार होगा। हिन्दी क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। इस क्षेत्र का प्रत्येक महाविद्यालय और विश्वविद्यालय किसी न किसी क्षेत्रीय भाषा और उसके साहित्य का समुचित भरण-पोषण करेगा। समस्त हिन्दी क्षेत्र को इस उद्देश्य से उतने उप-क्षेत्रों में विभक्त कर दिया जाय जितनी कि संविधान में क्षेत्रीय भाषाएँ दी गई हैं। प्रत्येक उपक्षेत्र में जितने महाविद्यालय और विश्वविद्यालय होंगे उन सबमें वहाँ के लिए निर्धारित क्षेत्रीय भाषा के माध्यम से प्रत्येक विषय का दूसरा भाग पढ़ाया जायगा। उस क्षेत्रीय भाषा का उप-क्षेत्र विशेष में अध्ययन गोपाल और कन्या विद्यालयों से ही आरम्भ हो जायगा। इसका उल्लेख इसी अध्याय में हो चुका है। उपक्षेत्रों का निर्धारण और उनका आकार विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं के भाषियों की संख्या के अनुसार होगा। अच्छा हो कि बंगाली को बिहार के आस-पास, पंजाबी को उत्तरी-पश्चिमी उत्तर प्रदेश में, गुजराती-मराठी को पश्चिमी हिन्दी क्षेत्र में और तामिल तेलगू, आदि भाषाओं को दक्षिणी हिन्दी क्षेत्र में निर्धारित किया जाय। ऐसा करने से कई प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त हो सकते हैं। इस योजना का कार्यान्वित होना विशेष कठिन नहीं है। निस्सन्देह, इसमें पर्याप्त सावधानी, तत्परता तथा अध्यवसाय अपेक्षित हैं।

उपर्युक्त योजना का मुख्य आधार यही है कि जिस प्रकार सम्भव हो उसी प्रकार से उच्च शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषाएँ हो जायँ। राष्ट्रभाषा हिन्दी को अपनाने के लिये यहाँ तक, कहीं-कहीं, कहा जा चुका है कि ऐसा होने पर हिन्दी क्षेत्र के लोगों को अत्यधिक सुविधाएँ प्राप्त होंगी। यह हमारा दुर्भाग्य है कि अंगरेजी माध्यम होने पर अंगरेजों को जो सुविधाएँ मिलती थीं उस ओर हमारा ध्यान स्वप्न में भी नहीं गया परन्तु इस अवसर पर हमें सब कुछ सूझ रहा है। अपने बन्धुओं की इसी शंका को दूर करने के विचार से यह योजना तैयार की गई है। दूसरा उद्देश्य यह है कि राष्ट्र के सभी व्यक्ति अपने देश की विभिन्न भाषाओं को समझें तथा पढ़ें। विद्यार्थी जीवन में तो वे केवल दो ही तीन भाषाएँ सीख पायेंगे परन्तु इस आधार पर उनकी रुचि प्रेरित हो सकती है। छात्रों को प्रत्येक विषय के दूसरे भाग को राष्ट्र भाषा अथवा किसी क्षेत्रीय भाषा के माध्यम से पढ़ने अथवा समझने में यदि कुछ कठिनाई हो तो घर पर अपनी भाषा में लिखे हुए तत्सम्बन्धी ग्रन्थ वे पढ़ सकते हैं। परन्तु प्रयत्न यही होना चाहिए कि क्रमशः वे उसी भाषा पर इतना अधिकार प्राप्त कर लें कि उन्हें कोई कठिनाई न हो। समझने-समझाने की कठिनाइयाँ केवल आरम्भ में कुछ वर्षों तक रहेंगी। लेखक का दृढ़ विश्वास है कि इस योजना के अनुसार कार्य करने पर किसी ऐसी परम्परा का प्रादुर्भाव होगा कि इस समय की हमारी कई गुत्थियाँ या तो लुप्त हो जायँगी या अपने आप सुलझ जायँगी। हाँ, इसका श्री गणेश स्वतंत्र मन से होना चाहिए।

इसे कार्यान्वित करने में अस्वाभाविक शीघ्रता की आवश्यकता नहीं। सर्वप्रथम गोपाल तथा कन्या विद्यालयों के निमित्त राष्ट्र भाषा अथवा क्षेत्रीय भाषाओं का पाठ्यक्रम निर्धारित करना पड़ेगा। हाँ, इसके पूर्व हिन्दी क्षेत्र को कई उप-क्षेत्रों में बाँट देना पड़ेगा। तीन वर्ष तक कार्य चलता रहेगा। इन्हीं तीन वर्षों में किशोर-किशोरी विद्यालयों के निमित्त पाठ्यक्रम तैयार करना पड़ेगा। चार वर्ष तक फिर कार्य चलता रहेगा। इसी समय उच्च शिक्षा की रूप-रेखा तैयार की जायगी। तब तक सम्पूर्ण देश में यह प्रयत्न होना चाहिए कि उच्च शिक्षा यथासम्भव अपनी-अपनी क्षेत्रीय भाषाओं में दी जाय। जब नवीन योजना के अनुसार माध्यमिक शिक्षा पूरी करके छात्र महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में पहुँचेंगे तो प्रत्येक विषय का दूसरा भाग राष्ट्रभाषा अथवा किसी क्षेत्रीय भाषा के माध्यम से आरम्भ हो जायगा। देश को स्वतंत्र हुए दस वर्ष से अधिक (नवम्बर १९५७) हो चुके हैं परन्तु ऐसे द्वन्द्व में हम पड़ गये हैं कि इस आवश्यक कार्य को किसी न किसी बहाने टालते जा रहे हैं। राष्ट्र भाषा

हिन्दी को अन्य भाषा-भाषी लोग अपनी उच्च शिक्षा का माध्यम बनाना नहीं चाहते और अपनी भाषा को अपनाने का साहस नहीं करते, फलतः दुविधा के साथ कार्य हो रहा है। अंगरेजी के स्थान पर भारतीय भाषाओं को माध्यम कर लेने पर कठिनाइयाँ अवश्य होंगी परन्तु कठिनाइयाँ तो देश को स्वतंत्र करने में भी अनेक थीं। इस प्रस्तावित योजना में हम सभी लोगों को बिना किसी छल-कपट अथवा भेद-भाव के लगने की आवश्यकता है।

इस योजना में सबसे बड़ी समस्या शिक्षकों से सम्बन्धित होगी। भारतवर्ष के प्रत्येक गोपाल या कन्या विद्यालय में एक-न-एक हिन्दी या क्षेत्रीय भाषा के शिक्षक या शिक्षिका की आवश्यकता पड़ेगी। प्रत्येक प्रान्त में अंगरेजी का अध्यापन वर्तमान जूनियर हाई स्कूलों (गोपाल और कन्या विद्यालयों) अथवा इससे भी पहले से पढ़ाई जा रही है। इस योजना में इसका अध्यापन किशोर-किशोरी विद्यालयों में प्रारम्भ होगा। ये ही शिक्षक अंगरेजी-अध्यापन से मुक्त होकर विभिन्न प्रान्तों में राष्ट्र भाषा हिन्दी तथा क्षेत्रीय भाषाएँ पढ़ायेंगे। इन शिक्षकों को जब अन्य प्रान्तों में भेजा जायगा तो उन्हें समुचित वेतन तथा सुविधाओं की आवश्यकता पड़ेगी। ऊपर बंगाली को बिहार के आस-पास तथा गुजराती-मराठी को पश्चिमी हिन्दी क्षेत्र में निर्धारित करने का सुझाव इसीलिए दिया गया है कि शिक्षकों के स्थानान्तर अथवा प्रान्तान्तर में अधिक व्यय तथा अधिक दूरी अपेक्षित न हो। शिक्षकों के प्रान्तान्तर में कुछ वैधानिक कठिनाइयाँ भी उपस्थित हो सकती हैं। परन्तु उन्हें दूर करना विशेष कठिन नहीं। अंगरेजी के इन शिक्षकों को शीघ्रातिशीघ्र अपने नवीन स्थान की बोल-चाल और वहाँ के रसन-सहन को सीखना पड़ेगा। अपने अंगरेजी के ज्ञान से वहाँ रहने में तो कोई विशेष कठिनाई न होगी परन्तु गोपालों और कन्याओं की बोली से परिचित हुए बिना उन्हें पढ़ाया कैसे जा सकता है। यह कार्य विशेष कठिन नहीं; थोड़े ही समय में शिक्षक सब कुछ जान जायँगे।

अंगरेजी के विद्वानों और समर्थकों से सविनय निवेदन है कि यह सब कुछ करने पर भी, कम से कम उनके जीवन भर, अंगरेजी का कुछ भी नहीं बिगड़ सकता। हमारे देश में अंगरेजी का प्रभुत्व इतना अधिक स्थापित हो चुका है कि उसे दूर करना सरल नहीं। अभी कम से कम पचास वर्ष तक हमें इस भाषा पर निर्भर रहना पड़ेगा। पाठशालाओं और विद्यालयों से यदि अंगरेजी का अध्यापन उठा दिया जायगा अथवा कम कर दिया जायगा तो इससे अंगरेजी के प्रभुत्व को धक्का कदापि नहीं पहुँचेगा। किसी भी भाषा अथवा साहित्य के प्रभुत्व के आधार शिक्षित एवं ऊँचे लोग होते हैं। सन् १८५७

ई० से मुगल साम्राज्य नाममात्र के लिए भी न रह गया परन्तु उर्दू और फारसी का प्रभाव बहुत दिन तक चला आया है। इसका कारण यह नहीं है कि उर्दू के बोलने और लिखने वाले बहुत से लोग हैं। इसका कारण यह है कि शासन सम्बन्धी सभी उल्लेख उर्दू और फारसी में थे। यहाँ तो शासन ही सम्बन्धी नहीं प्रत्युत सभी कुछ अंगरेजी में ही है। उन पुस्तकों का भारतीय भाषाओं में अंगरेजी जाने बिना किस प्रकार अनुवाद सम्भव है? धनी-मानी सभी उच्च भारतीय परिवारों में केवल अंगरेजी भाषा और साहित्य ही नहीं प्रत्युत अंगरेजी रहन-सहन भी घर कर गये हैं। उसी जीवन के अनुरूप उनके घर-द्वार सजे हुए हैं। उस सज-धज में कीमती से कीमती वस्तुएँ पड़ी हुई हैं। अंगरेजी भाषा और साहित्य को संविधान से निकाल देने की हठधर्मी कोई कर सकता है परन्तु इन परिवारों, रेलवेस्टेशनों, न्यायालयों, आदि से हटा देने में भगीरथ प्रयत्न करना पड़ेगा।

अंगरेजी की ही सहायता से हम लोग भारतीय भाषाओं को विविध दायित्वों को वहन करने योग्य बना पायेंगे। स्वतन्त्रता के पूर्व तक भारतीय भाषाओं की शासन सम्बन्धी क्षमता विकसित करने की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया है। साहित्यिक रचनाएँ तो विविध प्रकार की होती रहीं परन्तु न्याय, व्यापार, शासन, आदि के सम्भवतः उल्लेख भी नहीं हैं। यही कारण है कि भारतीय भाषाओं में कुछ बोलते अथवा लिखते समय हमें पग-पग पर अंगरेजी के शब्द प्रयोग करने पड़ते हैं। यदि इस कुटेव से कोई बचना चाहता है तो बहुत से विचार व्यक्त नहीं हो पाते। सुना जाता है कि किसी समय उत्तर-प्रदेश की व्यवस्थापिका सभा में निश्चित हुआ था कि शुद्ध हिन्दी का व्यवहार किया जाय और यह कहा गया कि जिस सदस्य के कथन में जितने अंगरेजी के शब्द आ जायँगे उसे उतनी इकन्नियाँ दण्ड रूप में देनी पड़ेंगी। सम्भवतः सभी ने दण्ड दिया था। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति भी ऐसी है कि अंगरेजी का बिना समुचित अध्ययन किये हम अपना काम नहीं चला सकते। इतना ही नहीं, अपने अतीत की विशेषताओं को भी सम्भवतः अंगरेजी के ही माध्यम से हम संसार के कोने-कोने में पहुँचा सकते हैं। अभी कुछ समय तक तो ऐसा ही रहेगा। इस प्रकार यह स्वीकार करने में किसी भी भारतीय को आपत्ति न होगी कि अंगरेजी की उपयोगिता हमारे लिए अभी बहुत है।

लोगों के मन में यह शंका हो सकती है कि अंगरेजी जब इतनी उपयोगी है तो इसके अध्यापन को घटाया क्यों जा रहा है। यों तो इस शंका का पूरा समाधान यथा स्थान इसी अध्याय में पीछे हो चुका है परन्तु प्रसंगवश फिर

कहा जा रहा है कि उपर्युक्त दो अनुच्छेदों में अंगरेजी की जो उपयोगिता दिखाई गई है उसके लिए बहुत अधिक अंगरेजी के विद्वानों की आवश्यकता न पड़ेगी। विविध ग्रन्थों के अनुवाद तथा विभिन्न राष्ट्रों के साथ व्यवहार करने में राष्ट्र के कितने प्रतिलक्ष व्यक्ति लगेंगे? अंगरेजी का अध्यापन केवल वर्त्तमान जूनियर हाई स्कूलों से हटाया जा रहा है। इस स्तर पर छात्रों और छात्राओं को किसी भी विदेशी भाषा को बिना किसी उद्देश्य के पढ़ाने में कोई भी उपयोगिता नहीं दीखती। प्रत्येक स्तर पर साधारण तथा मन्दबुद्धि के अनेक छात्र रुक जाते हैं। अंगरेजी के जिस उपयोग का उपर उल्लेख किया गया है उसमें प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ेगी। इस प्रकार यदि किशोर और किशोरी विद्यालयों से अंगरेजी एवं अन्य विदेशी भाषाओं का अध्यापन प्रस्तावित हुआ है तो इसमें किसी प्रकार की त्रुटि नहीं दिखाई देती। यह भी स्पष्ट ही है कि अंगरेजी कितनी ही उपयोगी क्यों न हो परन्तु अब केवल इसी की उपासना से हमारा काम नहीं चल सकता। हमें अन्य मुख्य विदेशी भाषाओं का अध्ययन करना ही पड़ेगा। अंगरेजी के अध्यापन की तो हमारे देश में सुदृढ़ तथा व्यवस्थित परम्परा है परन्तु अन्य विदेशी भाषाओं के अध्यापन के निमित्त समुचित वातावरण निर्मित करने की आवश्यकता पड़ेगी।

वर्त्तमान विश्वविद्यालयों में कुछ अन्य विदेशी भाषाओं के सीखने की नाम-मात्र की व्यवस्था है। जर्मन और फ्रांसीसी भाषाओं की व्यवस्था कहीं-कहीं माध्यमिक स्तर पर भी है। परन्तु इन भाषाओं को कितने लोग पढ़ते हैं यह जान लेना सरल है। भावी योजना में समाज और सरकार का यह परम पुनीत दायित्व होगा कि अन्य आवश्यक विदेशी भाषाओं के अध्यापन की समुचित व्यवस्था किशोर और किशोरी विद्यालयों में करें। पिछले अध्यायों में यथा स्थान कहा गया है कि शिक्षकों के वेतन आदि में समानता रहते हुए भी विभिन्न स्थानों में राजकीय किशोर या किशोरी विद्यालय चलते रहेंगे। यदि अन्य विद्यालयों में कोई कठिनाई हो तो कम से कम राजकीय विद्यालयों में अंगरेजी के अतिरिक्त दो-तीन अन्य विदेशी भाषाओं के अध्यापन की व्यवस्था हो जाय। इस प्रकार प्रत्येक राजकीय विद्यालय में दो-तीन भाषाओं के हिसाब से प्रत्येक सूबे में संसार की सभी मुख्य भाषाओं के अध्ययन की व्यवस्था हो जायगी। अच्छा तो यह होता कि किसी जिले या नगर के सभी विद्यालयों में अंगरेजी के अतिरिक्त एक अन्य विदेशी भाषा भी पढ़ाई जाती। इस क्रम में सम्भवतः अधिक धन अपेक्षित है। कुछ भी हो, सब बातों का ध्यान रखते हुए अन्य विदेशी भाषाओं के अध्यापन की उचित व्यवस्था करनी पड़ेगी।

माध्यमिक स्तर के लिए विदेशी भाषाओं का उपयुक्त पाठ्यक्रम तैयार कर लेना सरल नहीं। जहाँ अंगरेजी के सम्बन्ध में यह सोचना पड़ेगा कि क्या-क्या छोड़ दिया जाय वहाँ अन्य विदेशी भाषाओं के लिए यह निश्चित करना पड़ेगा कि क्या-क्या लिया जाय। कुछ दिन तक यह भी समस्या उपस्थित हो सकती है कि लगभग सभी छात्र और छात्राएँ अंगरेजी ही पढ़ना चाहेंगी। पाठ्यक्रम के निर्माण से तो इसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध, कम से कम सिद्धान्तः, नहीं दीखता परन्तु पढ़नेवालों की संख्या और रुचि का पाठ्यक्रम पर किसी न किसी रूप में प्रभाव पड़ता ही है। अंगरेजी के अतिरिक्त अन्य विदेशी भाषाएँ पढ़ने के लिए छात्रों को सम्भवतः भाँति-भाँति से प्रेरित करना पड़ेगा। पाठ्यक्रम चाहे कितनाहू रुचिकर क्यों न हो परन्तु उसकी इस विशेषता का निजी अनुभव तभी हो पायेगा जब कि उसे छात्र और छात्राएँ पढ़ें। सच्ची बात यह है कि संरक्षकों और गुरुजनों की रुचि के आधार पर छात्रों की रुचि भी आधारित होती है। विदेशी भाषाओं के पाठ्यक्रम और उनकी पाठ्य-पुस्तकों में उन देशों की उपयोगी विशेषताओं का चित्रण होने से संरक्षकों और गुरुजनों का ध्यान आकर्षित हो सकता है। साथ ही, आरम्भ में उन्हें सरल, सुगम तथा व्यावहारिक होना चाहिए। भारतवर्ष की केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारें कुछ प्रतिशत छात्रों को किसी विदेशी भाषा को पढ़ने के लिए छात्रवृत्तियाँ भी दे सकती हैं।

धर्मशिक्षा और स्वास्थ्य-शिक्षा के सम्बन्ध में इस अध्याय में जान-बूझ कर चुप्पी साधी गई है। शिक्षकों, संरक्षकों और छात्रों से सम्बन्धित पिछले अध्यायों की रूप-रेखा ऐसी उपस्थित की गई है कि उसके अनुसार चलने से हमारे छात्रों की धार्मिक और शारीरिक शिक्षा स्वतः होती चलेगी। साथ ही, प्रसंगानुसार कहीं-कहीं स्पष्ट रूप से संक्षेप में संकेत भी होता गया है। इस पूरी पुस्तक में भारतीय विधि से पशुता से मनुष्यता की ओर अग्रसर होने के उपाय चित्रित हैं। त्याग और संयम को अधिकाधिक महत्व देने से धार्मिक और शारीरिक आदर्श अपने-आप सुरक्षित होते जाते हैं। इस पुस्तक में बार-बार कहा गया है कि भारतीय जीवन-चर्या ऐसी सुसंगठित है कि धर्म, कर्म, आचार, व्यवहार, आदि सभी कुछ साथ-साथ होते रहते हैं—यहाँ तक कि हमारे राग-रंग भी इसी रूप में रहे हैं। खेद है कि आज कल के हमारे भारतीय नवयुवक अपनी इस विशेषता की उपेक्षा यह कहते हुए करते हैं कि हमारे यहाँ तो जीवन के किसी भी क्षेत्र में स्वतंत्रता नहीं है। वास्तव में हमें तथा संसार के विचारशील व्यक्तियों को यह कहना चाहिए कि भारतीय परम्परा में किसी साधारण व्यक्ति को पथ-च्युत होने का अवसर कदाचित् ही कभी मिल पाता था। धर्म और

स्वास्थ्य की विना रक्षा किये हम शिक्षा को भक्तिमूलक रूप दे हीं न पायेंगे। फलतः धर्म और स्वास्थ्य इस पाठ्यक्रम में स्वतः सुरक्षित है।

स्त्री शिक्षा के अध्याय में कहीं-कहीं लिखा हुआ है कि छात्राओं की पठन-सामग्री पाठ्य क्रम के अध्याय में दी जायगी। चूँकि पठन-सामग्री का निर्धारण यहाँ पर किसी के लिए भी करना उचित प्रतीत न हुआ अस्तु छात्राओं के सम्बन्ध में भी मौन रह जाना ठीक ही है। विस्तृत पठन-सामग्री का निर्धारण अभी आवश्यक इसलिए नहीं प्रतीत हुआ कि आरम्भ में आदर्शों और व्यवस्था को सुधारा जाय। इस क्षेत्र में जितनी सफलता प्राप्त होगी उसी के अनुपात से फिर पठन सामग्री का भी विस्तार धीरे-धीरे सुधरता चलेगा। यों, विभिन्न अध्यायों में जहाँ आवश्यकता पड़ी वहाँ पर इसका भी उल्लेख होता गया है। इसी प्रकार स्त्री शिक्षा के अध्याय में भी आदर्शों के प्रतिपादन के साथ-साथ उपयुक्त पठन-सामग्री का भी यदि विस्तार नहीं तो स्पष्ट संकेत अवश्य ही दिया गया है। आदर्शों और व्यवस्था के सुधरने की सफलता का अनुमान यदि छात्रों के सम्बन्ध में नहीं हो पा रहा है तो छात्राओं के सम्बन्ध में तो और भी अधिक उलट-फेर अपेक्षित हैं। इस स्तर पर उनके लिए पठन-सामग्री निर्धारित करना और भी कठिन तथा अनुपयुक्त प्रतीत हो रहा है। साथ ही, इस पाठ मेंसमस्याओं एवं आदर्शों और सिद्धान्तों को ही इतने विस्तार में लेना पड़ा है कि अन्य ऐसे प्रसंगों के सम्बन्ध में मौन रह जाने के अतिरिक्त और कोई उपाय न सूझ पाया।

(ख) परीक्षा

सिंहावलोकन—भारतीय परम्परा में परीक्षा का सर्वाधिक महत्व रहा है। जीवन में त्याग, संयम, परोपकार, आदि की अधिकता होने से यहाँ पर व्यक्ति की परीक्षा पग-पग पर होती थी। धार्मिक ग्रन्थों में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। मृत्युलोक में जब कोई व्यक्ति सत्कर्मों में अधिक सफल होने लगता था तो देवतागण तुरंत भयभीत तथा आतंकित हो उठते थे। उन्हें शंका इस बात की होने लगती थी कि व्यक्तिविशेष अपनी तपस्या के बल पर देवलोक में न पहुँच जाय। ऐसी परिस्थिति में ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा अन्य उच्च लोग भी वेश-भूषा बदल कर उन सत्कर्मियों की कड़ी से कड़ी परीक्षा लेते थे। उन्हें अपने मार्ग से च्युत करने तथा उनका प्रण तोड़ने के लिए भय और प्रीति के घोर से घोर और आकर्षक से आकर्षक स्वांग रचे जाते थे। कभी-कभी परीक्षा का तार-तम्य ऐसा विकट हो जाता था कि परिक्षक गण स्वयं कठिनाई में पड़ जाते थे। इस प्रकार की परीक्षाएँ प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में होती थीं। किसी

किसी अवसर पर इनकी व्यवस्था इतनी संकुचित कर दी जाती थी कि तनिक भी असावधान होते ही परीक्षार्थी चूक सा जाता था। छोटे-मोटे और साधारण प्रसंगों के ही माध्यम से परीक्षा आरम्भ हो जाती थी। उनमें भी सफल न होने पर लोगों की कूट होने लगती थी। फलतः प्रत्येक भारतवासी को परीक्षा के लिए सर्वदा सन्नद्ध रहना पड़ता था।

अन्य देशों और राष्ट्रों में भी परीक्षा का महत्व अनादिकाल से है। प्राचीन यूनान तथा रोम के दार्शनिक अपने शिष्यों की परीक्षा नाना विधि से लेते रहते थे। गुरु और शिष्यों में उच्च से उच्च कोटि के शास्त्रार्थ होते थे। साधारण लोगों की भी किसी न किसी रूप में बराबर परीक्षाएँ होती रहती थीं। परन्तु यह मानने में संसार के किसी भी विद्वान् को आपत्ति न होनी चाहिए कि भारतीय परीक्षाओं की रूप-रेखा अधिक कठोर थी तथा उसका स्तर बहुत ऊँचा होता था। यह भी किसी मायावश नहीं कहा जा रहा है। जीवन के आदर्शों में भिन्नता से परीक्षाओं के तार-तम्य में अन्तर पड़ जाना स्वाभाविक ही है। जहाँ का जीवन जितना ही संयमी, नियमित तथा त्याग-प्रधान होगा वहाँ की परीक्षाओं के अधिक कड़ी और ऊँची होने में आश्चर्य ही क्या है। जिस परम्परा में व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता पग-पग पर सुरक्षित है वहाँ पर कड़ी और अधिक परीक्षाओं के अवसर ही कहाँ से प्राप्त होंगे अथवा यह भी कहा जा सकता है कि इतनी और इस प्रकार की परीक्षाओं की आवश्यकता ही क्या है। कुछ भी हो, यह मानने में किसी को भी आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि अन्य देशों की अपेक्षा भारतीय परम्परा में परीक्षाओं की तीव्रता, कठोरता और अधिकता की सर्वाधिक आवश्यकता थी। संक्षेप में जो बात शिक्षा के सम्बन्ध में कही गई है वही परीक्षाओं के ऊपर भी चरितार्थ होती है कि ये भी हमारी परम्परा में केवल साधन ही न रहकर साध्य रही हैं। स्मरण रहना चाहिए कि यह सर्वत्र मान्य है कि परीक्षाएँ, शिक्षा से अलग न होकर उसीका कोई मुख्यांग अथवा पूरक हैं।

इस प्रकार यह स्वतः सिद्ध है कि किसी भी देश और समाज में जीवन एवं संस्कारों की कड़ाई अथवा सरलता के अनुपात से वहाँ की शिक्षा और परीक्षाएँ भी ऊँची अथवा सरल रहेंगी। ऊँची शिक्षा और परीक्षा वाले समाज पर किसी भी प्रकार से यदि सरल व्यवस्था लाद दी जाय तो यह न सोचना चाहिए कि इससे प्रगति होगी। जिस प्रकार शरीर के पोषक भोज्य पदार्थ हैं उसी प्रकार मस्तिष्क की भोज्य-सामग्री, शिक्षा है। साथ ही जिस प्रकार देश और जलवायु के अनुरूप मनुष्य के भोज्य पदार्थ निर्धारित हैं उसी प्रकार मस्तिष्क के विकास

के लिए भी उपयुक्त शिक्षा और परीक्षा भी निर्धारित हैं। किसी देश की स्वाभाविक रूप से विकसित शिक्षा और परीक्षा अन्य देश वालों को कड़ी अथवा सरल प्रतीत हो सकती है परन्तु उस देश के लिए वही उपयुक्त है। देश, काल और पात्र के सिद्धान्तों पर इसमें हेर-फेर तो होते रहते हैं परन्तु किसी मौलिक परिवर्तन को खपा लेना सरल नहीं। हाँ, बलपूर्वक सभी कुछ किया जा सकता है। धीरे-धीरे लोग इसके आदी भी हो जाते हैं। बलपूर्वक किये गये हेर-फेर के फलस्वरूप किसी देश में चाहे पग-पग पर शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित हो जायँ और वहाँ के प्रत्येक बच्चे के लिए विद्यालय में व्यवस्था हो परन्तु इसे उस देश की उपयुक्त शिक्षा-व्यवस्था कदापि नहीं कहा जा सकता। वर्तमान भारतीय शिक्षा और परीक्षाओं को इसी दृष्टि से समझना है।

चूंकि परीक्षाएँ शिक्षा के ही मुख्यांग हैं अस्तु वर्तमान भारतवर्ष में यदि इनकी इतनी छीछा-लेदर हो रही है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है, शिक्षक, शिक्षार्थी, अभिभावक आदि सभी लोग जब शिक्षा से उदासीन हैं तो परीक्षाओं का मखौल होगा ही। इनका तिरस्कार परिक्षार्थी ही नहीं, प्रत्युत परीक्षक, व्यवस्थापक, निरीक्षक आदि सभी लोग कर रहे हैं। अपने-अपने स्थान पर इनमें से प्रत्येक अपने क्रिया-कलाप में वैधानिकता की रक्षा येन-केन प्रकार कर लेता है परन्तु वास्तविकता के मर्यादा की उसे लेशमात्र भी चिन्ता नहीं होती। प्रश्नपत्र-निर्माण से लेकर सफलता के प्रमाण-पत्र प्रदान करने तक अनेक सीढ़ियाँ हैं। यदि ध्यान से देखा जाय तो प्रत्येक स्तर पर दांव-पेंच एवं कूट-नीति का साम्राज्य स्थापित है। परीक्षार्थियों की उद्दण्डता और उनके कपटाचार तो नग्न एवं प्रत्यक्ष होते हैं अस्तु उन्हें सब लोग जान जाते हैं और उनके कुकृत्यों की विविध भर्त्सना भी होती है परन्तु अन्य लोगों के काले-कारनामे तो गुप्त ही रह जाते हैं। यदि अन्य लोग अपने परीक्षा सम्बन्धी दायित्वों को उचित रूप और मात्रा में पूरा करने लगें तो कोई कारण नहीं कि परीक्षार्थी भी न सुधर जायँ। परीक्षार्थी नाना प्रकार के कुचक्रों में इसीलिए भाग लेते हैं कि उन्हें ऐसा करने के लिए कहीं न कहीं से पर्याप्त प्रोत्साहन मिलता है और कभी-कभी इसमें उनका विधिवत् पथ-प्रदर्शन किया जाता है। इतना ही नहीं, इन कुचक्रों में सफल हो जाने पर समाज में उन्हें अनेक सुविधाएँ भी मिलती हैं।

यों वर्त्तमान परीक्षा और परीक्षा प्रणाली की पग-पग पर आलोचना की जा रही है और इनमें अनेक त्रुटियाँ दिखाई जा रही हैं और सुधार भी बताये तथा किये जा रहे हैं परन्तु विचित्रता यह है कि स्थिति बनने की अपेक्षा बिग-

इती ही जा रही है। किसी दोष का सच्चा निदान वही है जिसके अनुसार चलने से वह दूर हो जाय। यदि दोष दूर नहीं होता है तो इसके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है कि निदान ठीक नहीं हो सका। शिक्षा एवं परीक्षाओं का हमारे यहाँ उपयुक्त निदान अभी हो हीं नहीं सका है। दोषानु-सन्धान हमारे यहाँ भी पाश्चात्य आदर्शों के ही अनुसार किया जाता है। जब शिक्षा से ही सम्बन्धित अनेक गुत्थियाँ हैं तो परीक्षाएँ उपयोगी तथा व्यवस्थित किस प्रकार सम्भव हो सकती हैं। शिक्षा को साधन मानने वाले देशों और राष्ट्रों में परीक्षाओं को अधिक महत्व देने की यों ही आवश्यकता नहीं। फिर इसमें आश्चर्य ही क्या है कि यहाँ के परीक्षार्थी इनमें सफल होने के लिये नाना प्रकार के कुचक्र करते हैं। शिक्षा और समाज में पर्याप्त सम्बन्ध न होने से हमारे यहाँ परीक्षाएँ केवल जीविकोपार्जन के साधन रूप में ली जा रही हैं। यदि जीविका की समस्या किसी अन्यविधि से सुचारु रूप में हल हो जाय तो इस शिक्षा एवं परीक्षा के जंजाल में बहुत थोड़े भारतवासी पड़ना चाहेंगे। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इन परीक्षाओं का अपने जीवन में कोई विशेष महत्व न होने से ही यहाँ के परीक्षार्थी विभिन्न कुचक्रों में लगते हैं।

यह कथन कि 'वर्त्तमान परीक्षाएँ हमारे जीवन में विशेष महत्वपूर्ण नहीं हैं' किसी माया अथवा आवेश के वशीभूत होकर नहीं कहा जा रहा है। इसे प्रमाणित कर देना कठिन नहीं। शिक्षक इन परीक्षाओं में सफल होने के लिए छात्रों को कुछ यथाकथित आवश्यक प्रश्नों के उत्तर रटवा देने में ही अपने को कृतकार्य समझते हैं। प्रश्न-निर्माता महोदय पिछले दो-चार वर्षों के पूछे गये प्रश्नों में से कुछ को फिर पूछ देने के लिए प्रेरित तथा लालायित रहते हैं। केन्द्र-व्यवस्थापक, निरीक्षक, परीक्षक, गणक, परीक्षा-समिति के सदस्य, आदि सभी लोग परमात्मा से प्रति दिन यही निवेदन करते रहते हैं कि उनकी दृष्टि किसी ऐसे व्यतिक्रम अथवा दोष पर न पड़ जाय कि उन्हें झंझटों में फँसना पड़े। ये सभी लोग ऐसा क्यों करते हैं? यदि परीक्षाओं का जीवन में उपयोग होता तो इन्हें भार रूप में कोई कदापि न ले सकता था। इनकी इतनी उप-योगिता तो है कि लोग कुछ पैसे पा जाते हैं परन्तु पिछले अध्यायों में विधिवत् स्पष्ट किया गया है कि भारतीय परम्परा में धन को ऊँचा स्थान नहीं प्राप्त है। साथ ही, धन कमाने के अनेक ऐसे-ऐसे नवीन स्रोत निकलते जा रहे हैं कि अपेक्षाकृत कम परिश्रम में ही कई गुना पैसा प्राप्त हो जाता है। इसीलिए कहा गया है कि परीक्षाओं से सम्बन्धित अन्य गुरुजन यदि इन्हें समुचित महत्व दें तो कोई कारण नहीं है कि इनकी पवित्रता और सचाई परीक्षार्थियों द्वारा नाना

प्रकार से तिरस्कृत हों। परन्तु यह निश्चय है कि वे गुरुजन भी ऐसा कर सकने में बिल्कुल असमर्थ हैं: उन्हें इसके लिए कहीं से भी प्रेरणा न मिल सकेगी।

वर्तमान परीक्षाओं में कुछ मौलिक दोष हैं। इनकी रूप-रेखा कुछ ऐसी निर्धारित है कि ये किसी परीक्षार्थी की तद्विषयक पूरी योग्यता का मापन नहीं कर पातीं। सीमित परिस्थितियों में सीमित समय के भीतर सीमित प्रश्नों के उत्तर लिखवाकर सभी परीक्षार्थियों की योग्यता और क्षमता का पता नहीं लगाया जा सकता। शीघ्रता से सोचने और लिखने वालों की इनमें चाँदी है। स्मरण रहना चाहिये कि सभी लोग शीघ्रता से सोच तथा लिख नहीं सकते। गम्भीर स्वभाव के व्यक्तियों को प्रत्येक कार्य के आरम्भ करने में कुछ समय लगता है परन्तु वे देर तक सोचते एवं कार्य करते रहते हैं। फलतः इन परीक्षाओं के आधार पर चुने गये जितने भी लोग शासन, आदि में नियुक्त हैं वे सभी शीघ्रता से सोचने और लिखने वाले हैं। उनमें आवश्यक स्थिरता और गम्भीरता का अभाव है। यही कारण है कि शासन और व्यवस्था में विचित्र से विचित्र गुत्थियाँ उलझती रहती हैं नाममात्र के लिये वे सुलझा दी जाती हैं अन्यथा जिन लोगों की अक्षमता के कारण ये उलझी रहती हैं वे ही लोग फिर उन्हें सुलझा कैसे सकते हैं? इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा और लिखा जा सकता है। परन्तु यहाँ संक्षेप में केवल यही स्पष्ट किया जा रहा है कि वर्तमान परीक्षाओं के दोष पूर्ण होने से कितने साधारण लोग प्रथम कोटि में हो जाते हैं और कितने उच्च कोटि के लोग केवल साधारण घोषित किये जाते हैं।

वर्तमान परीक्षाओं का दूसरा दोष परीक्षकों के सम्बन्ध में है। सभी शिक्षक परीक्षक नियुक्त होने के योग्य नहीं होते। कोई व्यक्ति उच्च कोटि का शिक्षक होते हुए साधारण परीक्षक भी होने के योग्य नहीं हो सकता। परीक्षकों में पर्याप्त दृढ़ता अपेक्षित है परन्तु अध्यापन में इसके बिना भी काम चल सकता है। कभी-कभी दृढ़ता के अभाव से अध्यापन की व्यापकता बढ़ जाती है। काम चोर छात्रों के तिरस्कार में शीघ्रता नहीं होती अथवा यों कहा जाय कि उन्हें आत्म सुधार के लिए आवश्यकता से अधिक समय और अवसर मिल जाते हैं। परन्तु परीक्षा में इसके लिये स्थान नहीं है। अध्यापन में किसी कम-जोर छात्र के साथ विशेष सहानुभूति दिखा कर उसे ऊपर उठाने का प्रयत्न प्रशंसनीय और उपयोगी है परन्तु परीक्षाओं में इसके लिये लेश मात्र भी स्थान नहीं है। चूँकि परीक्षकों को पैसा मिलता है अस्तु कोई भी शिक्षक अपनी अरुचि

अथवा अक्षमता को प्रकट नहीं करता। इसमें सन्देह नहीं कि अधिकांश अच्छे शिक्षक अच्छे परीक्षक भी हो जाते हैं परन्तु इसमें भी तनिक सन्देह नहीं कि सभी शिक्षकों को उसी अनुपात से परीक्षक भी मान लेने की परम्परा दोष पूर्ण है। किसी विद्यालय अथवा प्रान्त में परीक्षकों के नये पद निर्मित करने की आवश्यकता नहीं हैं। परन्तु सफल परीक्षक वे भी हो सकते हैं जो कि शिक्षक नहीं हैं।

वर्तमान परीक्षाओं का तीसरा दोष महत्व सम्बन्धी है। येन-केन प्रकारेण जो लोग जितनी परीक्षाएँ पास कर लेते हैं उन्हें उतना ही महत्व दिया जाता है। किसी व्यक्ति की क्रियात्मक योग्यता चाहे कितनी ही उपयोगी क्यों न हो परन्तु जब तक वह निर्धारित परीक्षा को पास नहीं कर लेता तब तक उसे उस काम का अधिकारी नहीं माना जाता। यह परम्परा भी पाश्चात्य लोगों के ही सम्पर्क से हमारे देश में अंकुरित तथा विकसित हो गई है कर्म की सर्वाधिक प्रधानता होने से हमारे यहाँ परीक्षाओं को इस प्रकार का महत्व नहीं दिया जाता था। यहाँ का तो अनादिकाल से आदर्श यह रहा कि प्रेम सच्चा हो तो भगवान रामचन्द्रजी को शबरी के भी जूठे बेर स्वीकार कर लेने में लेश मात्र भी संकोच न होता था। परीक्षाओं को यह महत्व देने से शासन सम्बन्धी कुछ सुविधाएँ तो मिल जाती हैं परन्तु सरकारी अधिकारियों और कर्मचारियों में अनेक अयोग्य व्यक्ति पहुँच जाते हैं। नियुक्ति के समय परखने या पहचानने की क्रिया तो सरल तथा संक्षिप्त अवश्य हो जाती है परन्तु परख के इतना सरल हो जाने से ही किसी भी पद के लिए उपयुक्त लोग नहीं मिल पाते। साथ ही, लोग भी अपनी वास्तविक योग्यता बढ़ाने के लिए अधिक प्रयत्नशील न होकर परीक्षाएँ पास होने के प्रमाण-पत्र के लिए व्यग्र रहते हैं। यही क रण है कि परीक्षाओं के समय नाना प्रकार के कुचक्र रचे जाते हैं।

वर्तमान परीक्षाओं का चौथा दोष वाह्याडम्बर सम्बन्धी है। परीक्षा के अधिकारियों और परीक्षार्थियों में होड़ सी लगी है। यदि कुचक्रों की मात्रा और उनके रूप में प्रति वर्ष वृद्धि होती है तो अधिकारी गण भी उन कुचक्रों के अनुरूप परीक्षण शैली एवं व्यवस्था में विचित्र से विचित्र परिवर्तन करते जा रहे हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अधिकारियों द्वारा जितने अधिक नियम और रोक-थाम बनाये जा रहे हैं उतने ही अधिक और विविध कुचक्र भी होते जा रहे हैं। यह कोई नहीं कह सकता कि इन कुचक्रों को रोकने के उपाय किसे ही न जायँ। अवश्य किये जायँ परन्तु उपाय ऐसे हों कि उनसे कुछ भी तो सुधार हो जाय। यहाँ तो दिन-दिन स्थिति बिगड़ती जा

रही है। कारण स्पष्ट है। रोक थाम के उपाय निर्मित तो किये जाते हैं किसी केन्द्रीय स्थान में और उन्हें कार्यान्वित करना पड़ता है प्रान्त या देश के कोने-कोने में। उधर कुचक्रों की रचना स्थानीय सुविधाओं के अनुसार संचालित होती है। इस प्रकार रोक-थाम के नियम अनेक कुचक्रों के सम्बन्ध में मौन रहते हैं। इन नियमों के निर्माण में अधिकाधिक शक्ति और समय का अपव्यय होता है। कभी-कभी तो केन्द्रीय कार्यकारिणी से तुरन्त आदेश प्राप्त करने पड़ते हैं। आदेश प्रायः तब प्राप्त हो पाते हैं जब कि कुचक्र विधिवत् पूरा हो लेता है। खेद है कि स्थानीय अधिकारी और कर्मचारी भी अपने-अपने दायित्वों को सावधानी और ईमानदारी से पूरा नहीं करते।

उपर्युक्त रोक-थाम तथा उनसे सम्बन्धित नियमों को वाह्याडम्बर किसी आवेश में नहीं कहा जा रहा है। प्रायः इन नियमों का उद्देश्य कुचक्रियों को दण्डित करना होता है न कि परीक्षाओं को सुधारना। यह कथन कुछ विचित्र सा अवश्य प्रतीत होगा परन्तु सत्य के यह बिल्कुल निकट है। स्थानीय परीक्षा-व्यवस्थापकों की पूरी शक्ति इस सावधानी में खप जाती है कि कहीं से वे पकड़ में न आ जायँ। नाना प्रकार की ऐसी सूचनाएँ तैयार करनी पड़ती हैं जिनमें पर्याप्त समय लगता है। इस प्रकार की सूचनाओं की मात्रा और पेंचीदगी प्रति वर्ष बढ़ती ही जा रही है। यही समस्या परीक्षकों, निरीक्षकों, गणकों आदि सभी के सम्बन्ध में है। इसका बहुत कुछ दायित्व हमारे 'संविधान' की उदारता और व्यापकता पर भी है। किसी देश के 'संविधान' में उदारता, व्यापकता आदि का समावेश उसी अनुपात से होना चाहिए जिससे कि वहाँ के नागरिकों में इन विशेषताओं की समुचित प्रतिष्ठा और रक्षा की क्षमता हो। इधर कुछ वर्षों से अर्थात् 'संविधान' लागू होने के उपरान्त परीक्षाओं की सफलता और असफलता का निर्णय न्यायालयों से भी होने लगा है। इसमें सन्देह नहीं कि परीक्षा सम्बन्धी प्रसंगों में हमारे न्यायालय अधिकाधिक सावधानी तथा तत्परता से निर्णय देते हैं परन्तु इन प्रसंगों का न्यायालयों में जाना ही कुछ बेतुका सा प्रतीत होता है।

परीक्षाओं से सम्बन्धित वे गुत्थियाँ, जिन्हें न्यायालय ले जाने के लिए लोग आतुर होते हैं, प्रायः उन्हीं नियमों और आदेशों पर आधारित होती हैं जो कि प्रति वर्ष शीघ्रता में बनाये और कार्यान्वित कराये जाते हैं। परीक्षार्थियों के मूल्यांकन में किसी हेर-फेर की व्यवस्था नहीं है। चूँकि परीक्षकों और गणकों के लिए भी बहुत से गोरख-धन्धे प्रति वर्ष बढ़ते जा रहे हैं फलतः मूल्यांकन की वास्तविक प्रामाणिकता और पवित्रता को विधिवत् सुरक्षित करने में नाना प्रकार

की कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाया करती हैं। गणकों का कार्य ऐसा है कि इसमें प्रत्येक रजिस्टर के लिए दो व्यक्ति नियुक्त होना चाहिए। इस कार्य में लगातार सावधानी तथा तत्परता अपेक्षित है। साधारण व्यक्ति इसे पूरा नहीं कर सकते और यदि कर ले रहे हैं तो किसी न किसी विशेष तरकीब का प्रयोग करते होंगे। लेखक को किसी परीक्षा में भाग्यवश गणक नियुक्त किया गया भगवान साक्षी हैं कि इस कार्य को अधिकाधिक परिश्रम और ईमानदारी से सम्पादित करने के प्रयत्न हुए। कार्य पूरा तो अवश्य हुआ परन्तु उसमें आवश्यकता से दो-तीन अधिक त्रुटियाँ निकाली गईं और वह कार्य छीन लिया गया। त्रुटियों की संख्या निर्धारित सीमा से दो-तीन अधिक इसलिए हो गई कि किसी पृष्ठ पर लगभग परीक्षार्थियों का आठ-दस परीक्षाफल अंकित था। संयोगवश उस पृष्ठ के प्रेस वाले अंश पर प्रत्येक परीक्षार्थी के सामने उसकी सफलता की श्रेणी लिखना छूटगया। आठ-दस त्रुटियाँ वे भी गिन ली गईं फलतः निर्धारित सीमा से दो-तीन अधिक हो गईं।

गणक के कार्यों से जो महानुभाव परिचित न होंगे उन्हें उपर्युक्त स्थिति को समझने में कठिनाई हो सकती है। रजिस्टर के प्रत्येक पृष्ठ के अन्तिम भाग में अनुक्रमांक फिर से मुद्रित होते हैं और उनके सम्मुख परीक्षार्थियों की प्राप्त श्रेणियाँ लिख दी जाती हैं। मुख्य भाग को विधिवत पूरा कर लेने पर इसे भरा जाता है। अन्त में इस भाग को निकाल कर प्रेस वालों को दिया जाता है और वे इसी आधार पर परीक्षाफल छापते हैं। त्रुटि यह हुई थी कि इसी प्रेस भाग को भरना छूट गया था। श्रुत लेख आदि में जितने शब्द छूटते हैं उतनी त्रुटियां इसलिए मानी जाती हैं कि हो सकता है कि लिखने वाले को उनकी वर्तनी (स्पेलिंग) न ज्ञात रही हो और उसने जान बूझकर छोड़ दिया हो। यहाँ स्थिति भिन्न है; उस पृष्ठ के मुख्य भाग में परीक्षाफल विधिवत् बना हुआ था और प्रत्येक परीक्षार्थी के नाम और अनुक्रमांक के सामने उसकी प्राप्त श्रेणी अंकित थी। लेखक का विनम्र निवेदन यही था कि इसकी केवल एक त्रुटि इसलिए मानी जाय कि शीघ्रता और असावधानी से उस पृष्ठ को अगले पृष्ठ के साथ उलट दिया गया होगा और वह कार्य छूट गया। एक असावधानी की एक ही त्रुटि तो मानी जाती है। हाँ, यदि उस पृष्ठ पर कुछ परीक्षार्थियों के सामने उनकी श्रेणियाँ अंकित होती और कुछ छोड़ दिया गया होता तो स्थिति भिन्न मानी जा सकती थी। यद्यपि ऐसी स्थिति इसलिए भी उत्पन्न हो जा सकती थी कि विषयों की भिन्नता और परीक्षकों की विशेष कृपा के फलस्वरूप कुछ परीक्षार्थियों के परीक्षा फल उपयुक्त समय पर अपूर्ण रहे

हो और अन्तिम घड़ी में पूर्ण हो सके हों और असाधारण शीघ्रता में प्रेस-भाग पर दृष्टि न जा सकी हो।

उपर्युक्त निर्णय में कार्य की पवित्रता एवं प्रामाणिकता की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया है। लेखक को गणकों की तालिका से निकालते समय अधिकारियों को यह सूझ सकता था कि नियमों का उल्लंघन करके यदि किसी साधारण व्यक्ति को भी रजिस्टर उलटने-पलटने दिया गया होता तो वह इतना तो बता ही देता कि अमुक पृष्ट पर भरना छूट गया है। साथ ही, परीक्षकों, गणकों आदि को इस उपेक्षा और शीघ्रता से हटा देना शिष्टता एवं औचित्य की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। किसी निर्धारित सीमा तक त्रुटियाँ हों तो उन्हें अपनाये रहना और उनसे दो-चार भी बढ़ जायँ तो बिल्कुल हटा देना अव्यावहारिक सा प्रतीत होता है। परीक्षा सम्बन्धी कार्यों में नियुक्त सभी महानुभावों को समान रूप से निर्धारित समय मिलता है। प्रायः सभी लोग घर-गृहस्थी वाले होते हैं। पता नहीं कौन किन किन कठिनाइयों का सामना करते हुए उस कार्य को पूरा करता है। खेद है कि परीक्षकों, गणकों, आदि के साथ परीक्षार्थियों के बराबर भी उदारता नहीं दिखायी जाती। परीक्षार्थियों को सफल होने के लिए प्रत्येक विषय में ३३ प्रतिशत पाना चाहिए, परन्तु किसी विषय में केवल २८ प्रतिशत् तक भी आ जाने पर यदि अन्य विषयों में प्राप्ताङ्क अच्छे होते हैं तो उन्हें सफल घोषित किया जाता है और २५ प्रतिशत तक को पूरक परीक्षाओं में बैठाया जाता है। परन्तु परीक्षक, गणक आदि यदि संयोग वश जरा भी चूक गये तो कोई सुनवाई नहीं।

सब से बड़ी विचित्रता यह है कि परीक्षकों, गणकों आदि की त्रुटियों अथवा कठिनाईयों के सम्बन्ध में कुछ कहने अथवा निवेदन करने का अवसर भी नहीं दिया जाता, कम से कम लेखक को नहीं मिला था। त्रुटियों की गणना कर रख दिया जाता है। अग्रिम वर्ष नवीन नियुक्तियां करते समय हटा देने की सूचना दी जाती है। लेखक को भी च्युत हो जाने की सूचना अगले वर्ष मिली और तभी सम्बन्धित अधिकारियों से उपर्युक्त बातचीत हो सकी थी। सभी को विदित है कि परीक्षाओं में परीक्षार्थी स्वयं बैठते हैं परन्तु परीक्षकों, गणकों आदि को नियुक्त किया जाता है। एक प्रकार से उन्हें सम्मानित और गौरवान्वित किया जाता है। जब क्षम्य त्रुटियों की सीमा आज भी वही है जो कि पन्द्रह-बीस वर्ष पूर्व थी और कार्यों के विस्तार और उनकी पेंचीदगी में प्रति वर्ष कुछ न कुछ वृद्धि हो रही हो तो कम से कम किसी को च्युत करते समय तो सहानुभूति के साथ सब बातों पर विचार कर लेना चाहिए। परीक्षा

अधिकारी किसी को नियुक्त करते समय 'हर्ष' और च्युत करते समय 'खेद' प्रकट करते हैं। अपने 'हर्ष' को 'खेद' में परिवर्तित होते देख उन्हें कुछ तो उचित छान-बीन कर लेनी चाहिए। उपर्युक्त परीक्षा में उन आठ-दस त्रुटियों को मिलाने पर भी क्षम्य सीमा से तीन अधिक सूचित की गई थीं। उनमें से एक को अनुचित मानकर रद्द कर दिया गया। परन्तु यह कृपा भी तब दिखाई गई जब कि बार-बार अनुनय विनय किया गया।

परीक्षा सम्बन्धी उपर्युक्त प्रकार के निर्णय इस आधार पर उचित और उपयोगी कदापि नहीं माने जा सकते कि किसी एक को हटाया जाता है तो उसके स्थान के लिए किसी भी शर्त पर पचास हाथ फैलाये रहते हैं। हटाये जाने वाले व्यक्ति के भी अनेक सगे सम्बन्धी, दोस्त-मित्र, सहकर्मी, सहयोगी, आदि होते हैं। अभाग्यवश वर्तमान भारतवर्ष के प्रत्येक कार्य में तरकीबों की झड़ी लगी रहती है। तरकीबों की इस दुनियाँ में यदि कोई व्यवस्थापक, परीक्षक, गणक, आदि ईमानदारी, सच्चाई और तत्परता से अपने दायित्वों को सम्पादित करने का साहस करे तो सर्वप्रथम वह अपने ही तरकीबी दोस्त-मित्रों के व्यंगों का निशाना हो जाता है। उसके मार्ग में अनेक और विविध कठिनाइयाँ अवश्यम्भावी हैं। कुछ त्रुटियों के हेर-फेर में बिना सोचे-समझे यदि अधिकारियों द्वारा भी वह तिरस्कृत और च्युत कर दिया जाता है तो उसे तो अपार मानसिक वेदना होगी ही, साथ ही साथ तरकीबों को भी कई गुना प्रोत्साहन मिलेगा। निस्सन्देह उसके सम्पादन में उतनी स्वच्छता, स्पष्टता, चमक-दमक, दक्षता आदि न मिलेगी जितनी कि तरकीबी सम्पादनों में पग-पग पर छलकती रहती हैं। कृत्रिमता और तरकीबों से किसी कार्य का वाह्यरूप उतना ही आकर्षक और भड़कीला होता जाता है जितना कि आन्तरिक एवं वास्तविक रूप भद्दा तथा खोखला। वास्तविकता का जीवन के अन्य क्षेत्रों में चाहे जितना तिरस्कार हो रहा हो परन्तु परीक्षा एवं शिक्षा एवं भावी नागरिकों के संस्कार में तो उसकी अधिकाधिक रक्षा होनी ही चाहिए। इसमें जितना व्यतिक्रम होगा उतनी ही शिक्षा की उपयोगिता में कमी होगी।

परीक्षाओं की भावी रूप-रेखा—प्रस्तावित योजना में पाठ्यक्रम और परीक्षाएँ एवं परीक्षण संस्थाओं के दायित्व हैं। चूँकि इस योजना में विद्यालयों के अध्यक्षों को प्राचीन भारतवर्ष के प्राचीन गुरुओं के अनुरूप अधिकाधिक अधिकार दिये गये हैं और परीक्षाएँ शिक्षा के ही आवश्यक तथा उपयोगी अंग हैं अस्तु परीक्षाओं पर भी वास्तविक अधिकार अध्यक्षों का ही होगा। हाँ, 'देश, काल और पात्र' के सिद्धान्त के अनुसार विद्यालयों की

संख्या बहुत अधिक परन्तु उनके दायित्वों में समानता होने से स्तर, विधि, आदि सम्बन्धी सामान्य पथ प्रदर्शन पूरे प्रान्त एवं राष्ट्र में विभिन्न प्रशिक्षण संस्थाओं द्वारा होगा। इन विद्यालयों की शासन-व्यवस्था अध्याय पाँच में चित्रित है। उसी के अनुसार परीक्षाएँ भी व्यवस्थित होंगी। छात्रों एवं अभिभावकों की मानसिक तुष्टि तथा मनोवैज्ञानिक प्रोत्साहन के निमित्त वार्षिक परीक्षाएँ होंगी तो अवश्य परन्तु किसी छात्र की सफलता अथवा विफलता का निर्णय उसके वर्ष भर के अध्ययन और चाल-चलन के आधार पर होगा। वार्षिक परीक्षाओं को केवल पचास प्रतिशत महत्व रहेगा। श्रेणियों और स्थानों (परीक्षाओं नें जिले में, क्षेत्र में, प्रान्त में आदि) के निर्णय के लिए तो वर्ष भर के प्राप्तांक और वार्षिक परीक्षा के प्राप्तांक जोड़ दिये जायँगे परन्तु माध्यमिक स्तर तक किसी छात्र या छात्रा को उसके अध्यक्ष या उसकी अध्यक्षा की स्वीकृति के बिना असफल घोषित न किया जायगा। आशा है कि अपने इस अधिकार का प्रयोग अध्यक्षगण सावधानी से करेंगे।

प्रति वर्ष ३१ मार्च तक ऊँची-नीची सभी स्तर की सार्वजनिक परीक्षाओं में बैठने वाले छात्रों का घरेलू परीक्षा फल, सम्बन्धित प्रशिक्षण संस्थाओं में भेज दिया जायगा। यह परीक्षाफल भी उसी गणना रजिस्टर वाले पृष्ठों पर सावधानी से भरा रहेगा। प्रत्येक पृष्ठ पर अध्यक्ष या अध्यक्षा के स्पष्ट हस्ताक्षर मुहर, आदि रहेंगे। ये पृष्ठ प्रत्येक विद्यालय में ३१ जनवरी तक भेज दिये जायँगे। इन्हीं पृष्ठों को मिला-मिला कर रजिस्टर बनते जायँगे। गणक लोग प्रत्येक विषय के वार्षिक परीक्षा के प्राप्तांक लिखते और योग करते जायँगे। असफल छात्रों के सम्बन्ध में वे लोग अध्यक्षों और अध्यक्षाओं से सीधे उनकी सम्मति माँगेंगे। यदि सम्मति अनुकूल जाती है तो परीक्षार्थी विशेष के सामने कोई श्रेणी न लिखी जायगी ऐसे परीक्षार्थियों के सामने 'अ० वि०' (अर्थात् अध्यक्ष या अध्यक्षा का विशेष) लिखकर उन्हें सफल घोषित किया जायगा। इसी उल्लेख उनके प्रमाण पत्र में भी रहेगा। यह सुविधा किसी परीक्षार्थी को समस्त विद्यार्थी जीवन में केवल दो बार मिल सकेगी चूँकि इस प्रकार की सफलता बहुत अच्छी नहीं मानी जायगी फलतः अभिभावकों और परीक्षार्थियों की लिखित अनुमति लेकर अध्यक्षगण उन्हें 'अ० वि०' की सुविधा प्रदान करेंगे।

भावी योजना में प्राइवेट परीक्षार्थियों की वर्तमान परम्परा के लिये स्थान नहीं। भक्ति एवं आत्म-संयम या आत्म-नियंत्रण का उद्रेक अथवा विकास विद्यालयों में गुरुओं के पथ-प्रदर्शन में ही सम्भव है। परन्तु इस प्रथाकी

अचानक तथा पूर्ण रूप से रोक देने में अभी कठिनाई हो सकती है। फलतः ऐसे लोग किसी न किसी विद्यालय से सम्बन्धित रहेंगे आज कल भी तो किसी विद्यालय केपरीक्षाकेन्द्र से ही परीक्षा में बैठते हैं। जहाँ सम्भव होगा वहाँ इन लोगों के लिए प्रातःकाल अथवा सायंकाल विशेष पढ़ाई की व्यवस्था भी की जायगी। उस विद्यालय की परीक्षाओं में ये लोग नियमित रूप से बैठेंगे ? यदि सार्वजनिक परीक्षा दो वर्षों की शिक्षा पर आधारित रहेगी तो ये लोग भी दो वर्ष तक उस विद्यालय के सम्पर्क में रहेंगे और उसकी परीक्षाओं में बैठेंगे। इन लोगों को यह सुविधा अवश्य रहेगी कि प्रथम वर्ष की घरेलू वार्षिक परीक्षा के आधार पर, संस्थागत छात्रों की भाँति, कम प्राप्तांक मिलने से फेल न किया जायगा परन्तु इनके भी दो वर्ष की सभी परीक्षाओं के प्राप्तांकों का विवरण प्रशिक्षण संस्थाओं को भेज दिया जायगा। 'अ० वि०' की सुविधा इन्हें भी प्राप्त हो सकेगी। जो व्यक्ति इन नियमों का पालन न कर सकेंगे उन्हें किसी सार्वजनिक परीक्षा में प्राइवेट परीक्षार्थी के रूप में बैठने की अनुमति साधारणतः न मिल सकेगी।

'अ० वि०' का प्रयोग अध्यक्षगण अत्यन्त सावधानी और अधिकाधिक विशेष परिस्थिति में करेंगे। इस अधिकार का समावेश इस योजना में इसलिए किया जा रहा है कि एक ओर किसी अत्यन्त विषम स्थिति में ग्रस्त परीक्षार्थी का वर्ष नष्ट न होने पावे और दूसरी ओर अध्यक्ष और अध्यक्षाओं का पद गौरवान्वित हो जाय। जहाँ तक किसी छात्र को उसकी असाधारण कठिनाइयों से उबारने का प्रश्न है इस अधिकार का प्रयोग उसके हित का ध्यान रखते हुए होना चाहिये। छात्र विशेष एवं अभिभावक की क्षणिक तुष्टि के लिए उसका जीवन नष्ट कदापि न किया जाय। यदि कोई छात्र ऐसी सुविधा आर्थिक कठिनाइयों का अनुमान (उसी कक्षा में एक वर्ष और पढ़ने में) करके लेना चाहे तो अगले वर्ष पढ़ाई में उसे उचित आर्थिक सहायता दी जाय परन्तु 'अ० वि०' न दिलवाया जाय। जहाँ तक अध्यक्षों और अध्यक्षाओं का समाज में गौरवान्वित होने का प्रश्न है उसके लिए इस अधिकार के प्रयोग करने की आवश्यकता ही नहीं। बल्कि यह कहा जाय कि इस अधिकार का जितना ही कम प्रयोग होगा उनकी ख्याति उतनी ही बढ़ती जायगी। संक्षेप में विनम्र निवेदन यह है कि गणक लोग नियमानुसार असफल छात्रों की सूची उन लोगों के पास भेजेंगे अवश्य परन्तु वे लोग उसे ज्यों की त्यों लौटा देने की कृपा करेंगे।

प्रत्येक स्तर की सार्वजनिक परीक्षा में परीक्षार्थियों को 'सदाचार' सम्बन्धी प्रामाणिकता भी दी जायगी। इसमें भी प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि श्रेणियाँ

स्पष्ट रहेंगी। यह प्रामाणिकता भी अध्यक्षों द्वारा पूर्ण रूप से निर्धारित की जायगी। माध्यमिक स्तर तक इसका निर्धारण विद्यार्थियों की शिष्टता, शील, सच्चाई, त्याग, संयम आदि तथा वाद-विवाद, कविता पाठन, वार्त्तालाप, कहानी कथन, आदि की दक्षता और निपुणता के आधार पर अध्यक्ष लोग करेंगे। सरकारी पदों में से बहुतों की नियुक्ति में इसी 'सदाचार' की श्रेणी को अधिक महत्व दिया जायगा। यदि किसी अभ्यर्थी को पढ़ाई में प्रथम श्रेणी और सदाचार में तृतीय है और किसी दूसरे को पढ़ाई में तृतीय और सदाचार में प्रथम है तो दूसरे अभ्यर्थी को किसी भी सार्वजनिक दायित्व के लिए ऊँचा माना जायगा। किसी कर्मचारी में सदाचार पर्याप्त है तो किसी भी सामान्य सामाजिक पद के लिए वह सर्वथा योग्य है। हाँ, सेना, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, राजनीति, आदि में प्रत्युत्पन्नमति वाले कर्मचारियों और अधिकारियों की आवश्यकता पड़ती है। यों सदाचार प्रत्येक क्षेत्र में अपेक्षित है परन्तु सदाचार की परिभाषा और रूप-रेखा संसार के प्रत्येक राष्ट्र में भिन्न-भिन्न है। फलतः अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंगों के लिए सावधान और सतर्क कर्मचारियों की आवश्यकता होती है।

माध्यमिक स्तर के ऊपर सदाचार का निर्धारण कुछ भिन्न रूप में होगा। दैनिक जीवन की विशेषताओं को तो महत्व दिया ही जायगा परन्तु इसके अतिरिक्त छात्रों की परोपकार और सहयोग सम्बन्धी क्षमता का निरीक्षण होता रहेगा। माध्यमिक स्तर तक आत्मनियन्त्रण, आज्ञापालन आदि का पूर्ण रूप से छात्र पालन करेंगे परन्तु ऊँची शिक्षा में उनके हृदय और मस्तिष्क की विशालता, उदारता और प्रखरता को समुचित रूप से विकसित होने की सुविधाएँ देनी होगी। अपने से नीची कक्षाओं में पढ़ने वाले छात्रों के साथ व्यवहार, आस-पास के दीन-दुखियों की यथा सम्भव देख-रेख, महाविद्यालय अथवा विश्वविद्यालय की ख्याति के लिए उत्सर्ग आदि पर भी विचार करना पड़ेगा। इन कामों की ओर छात्रों को कोई लगायेगा नहीं। अन्तर्रात्मा से प्रेरित होकर यदि वे कर सकेंगे तो करेंगे अन्यथा उनसे कोई कहने न जायगा। प्रत्येक छात्र अपने ऐसे कार्यों की संक्षिप्त और सच्ची टिप्पणी डायरी में लिखता जायगा। इन टिप्पणियों को शिक्षकगण समय समय पर देखेंगे और किसी छात्र की अनोखी सेवाओं और कृतियों की प्रामाणिकता का अत्यन्त गुप्त रीति से जाँच करेंगे। इस स्तर पर केवल संकेतमात्र देने के अतिरिक्त उपर्युक्त अनोखी कृतियों अथवा जाँचों की कोई विस्तृत व्याख्या करना कठिन है। इसका विस्तार परिस्थितियों के अनुसार निर्मित हो सकेगा।

भावी परीक्षाओं की दूसरी विशेषता, किसी परीक्षार्थी की सभी विशेष-

ताओं का यथा सम्भव पता लगा लेना, होगी। ढाई-तीन घण्टे के निर्धारित समय में किसी व्यक्ति की तद्विषयक पूर्ण क्षमता का अनुमान कदापि नहीं लगाया जा सकता। प्रत्येक परीक्षार्थी को इस बात की सुविधा रहे कि वह किसी भी प्रश्नपत्र में निर्धारित समय से अधिक समय ले सकता है। लिया हुआ अधिक समय नोट कर लिया जाय परन्तु परीक्षक को न बताया जाय। यह सुविधा उसी परीक्षार्थी को दी जाय जो अपने स्थान से किसी अन्य आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए तनिक भी न उठा हो और न जिसने लिखना बन्द किया हो। ऐसे परीक्षार्थियों को चाहिए कि आरम्भ में ही सम्बन्धित अधिकारियों से निवेदन कर दें कि उन्हें अतिरिक्त समय की आवश्यकता पड़ सकती है ताकि उनका निरीक्षण उसी दृष्टि से हो। इस सुविधा से अन्य छात्रों को कोई क्षति न पहुँचेगी। जब इसे कोई भी प्राप्त कर सकता है तो क्षति का प्रश्न ही कहाँ उठता है। हाँ, इतना अवश्य है कि यथाकथित दक्ष व्यक्तियों की संख्या कुछ बढ़ जा सकती है, परन्तु मानवता और राष्ट्रीयता के विचार से यदि सोचा जाय तो यह व्यतिक्रम वैसा ही प्रतीत होता है जैसे गुलाब के फूल में काँटा। व्यवस्थापकों की कठिनाइयाँ अवश्य बढ़ जायँगी। सायंकाल के प्रश्न-पत्रों में यों ही अन्धेरा हो जाता है और कहीं इस सुविधा की परम्परा चल पड़ी तो फिर कहना ही क्या है। कुछ भी हो, इस सम्बन्ध में कोई ठोस कदम उठाना पड़ेगा।

रचना एवं निबन्ध सम्बन्धी क्षमता को अधिकाधिक महत्व देना है। इस समय निबन्ध रचना को स्वतंत्र महत्व केवल एम० ए० कक्षाओं में है। यों इससे सम्बन्धित प्रश्न प्रत्येक परीक्षा में पूछे जाते हैं परन्तु अन्य प्रश्नों के लपेट में निबन्ध को स्वतंत्र महत्व माध्यमिक स्तर से ही मिलना चाहिए। प्रामाणिकता के विचार से एम० ए० में भी निबन्ध को स्वतंत्र महत्व नहीं है। उसका अकेला प्रश्नपत्र तो आता अवश्य है परन्तु इसके भी प्राप्तांक अन्य प्रश्नपत्रों के प्राप्तांक से जुट जाते हैं। प्रमाण पत्रों के बहुत घने हो जाने की शंका न हो तो माध्यमिक स्तर से प्रत्येक विद्यार्थी की निबन्ध क्षमता की श्रेणी अलग कर दी जाय। प्रायः देखा जाता है कि प्रथम श्रेणी में सफल होने वाले परीक्षार्थी निबन्ध-रचना में उतने खरे नहीं उतरते। कारण स्पष्ट है। योग में प्रथम श्रेणी रटाई से भी प्राप्त हो जाती है परन्तु रचना के लिए क्या रटा जाय। रचना में कच्चे परन्तु योग में प्रथम श्रेणी प्राप्त करने वाले लोग ही जीवन की सभी विषमताओं का सामना करने में सफल नहीं होते। चूँकि रचना की दक्षता परीक्षार्थी की पहुँच और परख पर आधारित होती है अस्तु इसके प्राप्तांक को सदाचार के प्राप्तांकों में जोड़ा जा सकता है। निबन्ध के पर्चे में सभी विषयों पर आधारित प्रकरण होने चाहिए और परीक्षार्थी विशेष किसी पर लिख सकते हैं।

माध्यमिक स्तर से ऊपर सभी परीक्षाओं में एक खण्ड ऐसा हो जिसमें छात्र पाँच घंटे तक परीक्षा भवन में बैठें और उन्हें कोई प्रश्न, आदि न दिये जायँ; उनके मन में जो कुछ आये, वे लिखते जायँ। अपने स्थान से आ-जा सकते हैं, निर्धारित दूकान से चाय-पानी भी पी सकते हैं। परन्तु न किसी से बात-चीत करें और न कोई पुस्तक, समाचार पत्र, आदि पढ़ें। बाहर आने-जाने का समय और कारण उत्तर पुस्तिका के मुख्य-पृष्ठ पर लगातार अंकित होते चलेंगे। इसमें किसी प्रकरण का विशद चित्रण अपेक्षित नहीं। इस पर्चे का उद्देश्य उनके धैर्य का परीक्षण है। किसी के भी बारे में आठ-दस पंक्तियों से अधिक न हो। महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में जितने विषय पढ़े जाते हैं उन्हीं की उपयोगी और अनोखी विशेषताएँ होनी चाहिए। पास-पड़ोस, देश-विदेश, ज्ञान-विज्ञान, आदि के परमोपयोगी और सर्वाधिक रोचक प्रकरण लिए जा सकते हैं। दस-पाँच दिनों के निजी अनुभवों का उल्लेख अच्छा माना जायगा। वह उत्तर-पुस्तिका अनेक प्रकरणों के संक्षिप्त चित्रण की पिटारी सी हो जायगी। इस कार्य का उद्देश्य यह पता लगाना है कि कोई परीक्षार्थी अपने पढ़े हुए विषयों की कितनी और कैसी अनोखी विशेषताओं का संग्रह कर सकता है। स्मरण शक्ति के उपयोग से इसमें कुछ सरलता और सुगमता आ जा सकती है। यह सुझाव यदि स्वीकृत और कार्यान्वित किया जायगा तो इससे सम्बन्धित कठिनाइयों और बारीकियों पर विस्तृत विचार-विनिमय बाद में सम्भव तथा उपयोगी हो सकेगा।

भावी परीक्षाओं की तीसरी विशेषता विभिन्न विषयों के वर्तमान वर्गीकरण को अधिकाधिक घटाना होगी। आज कल परीक्षार्थियों को कई विषयों में अलग-अलग सफल होना पड़ता है। एक ओर तो मनोविज्ञान को अधिकाधिक महत्त्व दिया जा रहा है परन्तु दूसरी ओर यदि कोई छात्र किसी विषय में गिर गया है तो अन्य विषयों में उसे कितना हूँ ऊँचे अंक क्यों न मिले हों परन्तु उसे असफल घोषित किया जाता है; उसे आगे पढ़ना कम से कम एक वर्ष के लिए असम्भव कर दिया जाता है। यह परम्परा शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य के प्रतिकूल है। अध्ययन और परीक्षा के विचार से विषयों का वर्गीकरण चाहे जितना और उदार किया जाय परन्तु परीक्षा फल की दृष्टि से इन्हें संकुचित करना परमावश्यक है। व्यक्ति के व्यवहार और चलन में परिवर्तन एवं सुधार सम्भव है परन्तु उसकी मौलिक प्रकृति एवं रुचि में हेर-फेर कर देना असम्भव सा है। प्राचीन भारत की सुदृढ़ शिक्षा से व्यक्तियों की रुचि भी कुछ समय के लिए फिर जाती थी। परन्तु यह काया कल्प टिकाऊ नहीं

होता था। गृहस्थ जीवन में प्रवेश करते ही लोग अपने स्वाभाविक बाने को धारण कर लेते थे। ऐसे ही उदाहरणों को लक्ष्य करके आज कल के विद्वान् तत्कालीन शिक्षा और शिक्षित व्यक्तियों की तीव्र आलोचना करते हैं। यह उस शिक्षा की विशेषता थी कि शिक्षार्थियों में अनुकूल रुचियों का अभाव होते हुए भी उन्हें निर्धारित मार्ग से तिल भर भी विचलित, कम से कम अध्ययन-काल में, न होने दिया जाता था।

यदि ध्यान से विचार किया जाय तो किसी भी शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य की तीन विशेषताओं को सुधारना होता है—भाषा, भाव और व्यवहार। इसी विचार से व्यवहार को 'सदाचार' के नाम से भावी परीक्षाओं में स्वतंत्र महत्व देने की व्यवस्था की गई है। शेष विषयों को केवल दो खण्डों में कर देना उचित प्रतीत होता है। प्रथम खण्ड में विभिन्न भाषाओं को लेना पड़ेगा और द्वितीय में अन्य सभी वर्तमान विषयों को। गणित, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, कृषि, वाणिज्य, आदि विषयों के अध्ययन से भाव ही का विस्तार और विकास तो होता है। एम० ए०, एम० एस-सी, एम० का०, आदि परीक्षाओं में तो एक ही विषय रहता ही है परन्तु इनमें भी किसी-किसी विश्वविद्यालय में इनके विभिन्न प्रश्न पत्रों में कुछ निर्धारित न्यूनतम प्राप्तांक लाना पड़ता है। जब श्रेणियों का निर्णय योग के आधार पर किया जाता है तो किसी परीक्षार्थी की एक कमी से दोहरा दण्ड उसे क्यों दिया जाय। फिर भी इन परीक्षाओं के सम्बन्ध में अधिक विचार नहीं करना है। माध्यमिक स्तर से सभी परीक्षाओं में सफलता और असफलता के निर्णय के लिए केवल दो खण्ड रहेंगे—(क) भाषा खण्ड और (ख) भाव खण्ड। श्रेणियों के निर्णय में उपर्युक्त पाँच घण्टे वाले खण्ड के प्राप्तांक तथा सदाचार खण्ड में यदि निबंध के प्राप्तांक यदि न मिलाये गये तो ये भी जोड़ लिये जायँगे। ऐसा करने से शिक्षा के कई मौलिक सिद्धान्तों की रक्षा हो जायगी।

ऊँची शिक्षा की कुछ परीक्षाओं में अथवा यह कहा जाय कि उनके पाठ्यक्रम में भाषा और साहित्य को आज कल स्थान नहीं है। यह उचित नहीं दीखता। किसी न किसी अंश और मात्रा में भाषा और साहित्य का समावेश परमावश्यक है। माध्यमिक स्तर से तीन भाषाओं का अध्ययन प्रत्येक भारतीय छात्र को करना है। यदि प्रत्येक भाषा के पूर्णांक १०० रहेगा तो भाषा खण्ड का पूर्णांक ३०० हुआ। वर्तमान परम्परा का ध्यान रखते हुए यह उचित प्रतीत होता है कि प्रत्येक भाषा में ३६ प्रतिशत पाने वाला

अथवा भाषा खण्ड के पूर्ण योग में (३०० में) १२० पाने वाला परीक्षार्थी सफल स्वीकृत किया जाय। इसी प्रकार भाव खण्ड के प्रत्येक विषय में ३६ प्रतिशत् पाते वाला अथवा भाव खण्ड के योग में ४० प्रतिशत् पाने वाला परीक्षार्थी सफल माना जाय। श्रेणियों का निर्णय भाषा खण्ड और भावखण्ड के योग के आधार पर किया जायगा। ३६ प्रतिशत् से ४७ प्रतिशत् तक तृतीय श्रेणी, ४८ प्रतिशत् से ५६ प्रतिशत् तक द्वितीय श्रेणी और ६० प्रतिशत् से प्रथम श्रेणी घोषित की जायगी। यह दोहराने आवश्यकता प्रतीत नहीं होती कि ५० प्रतिशत् महत्व विभिन्न वार्षिक परीक्षाओं को रहेगा और शेष ५० प्रतिशत् घरेलू एवं अध्ययन काल की विभिन्न परीक्षाओं को। यह भी स्पष्ट ही कर दिया गया है कि संस्थाओं के अध्यक्षों की स्वीकृति के बिना किसी परीक्षार्थी को असफल घोषित कदापि न किया जा सकेगा।

कुछ लोगों को यह भ्रम हो सकता है कि भावी योजना में परीक्षा सम्बन्धी काम बहुत अधिक और विकट हो जायगा। वर्तमान स्थिति का ध्यान रखते हुए तो वास्तव में यह सब कठिन तथा जंजाल सा प्रतीत होगा। परन्तु बात कुछ और ही है। इस समय शिक्षकों को पग-पग पर फूँकफूँक कर कदम उठाना पड़ता है। शिक्षण और परीक्षण में उपर्युक्त आडम्बरों की ऐसी भरमार है कि वास्तविकता न जाने कितना नीचे गड़ती जा रही है। शिक्षकों की शक्ति और उनका समय जब निज हितों की रक्षा में अपेक्षित न होगा तो उनकी काम करने की क्षमता कई गुनी बढ़ जायगी। साथ ही, परीक्षा सम्बन्धी अनेक आडम्बरों और रोक-थाम के अस्तित्व ही समाप्त से हो जायँगे। वर्तमान मासिक परीक्षाओं (मंथली टेस्टस) को शिक्षक और छात्र भार रूप में इसी लिए लेते हैं कि इन्हें कोई महत्व नहीं है। भावी योजना में परीक्षण पूर्ण रूप से शिक्षण का अंग हो जायगा। इसमें सन्देह नहीं कि मावनी दुर्बलताओं के ऊपर विजय प्राप्त करना कठिन होता है परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि कभी-कभी विभिन्न दुर्बलताओं के अवश्यम्भावी संघर्षों के फल स्वरूप साधारण से साधारण मनुष्य बहुत ऊँचा-ऊँचा काम कर जाते हैं। कितनी ही दुर्बल प्रवृत्ति का व्यक्ति क्यों न हो लेकिन उसके कृत्यों और परिश्रम को प्रत्यक्ष और परोक्ष महत्व मिलने लगता है तो उसकी काम करने की क्षमता असाधारण रूप से बढ़ने लगती है।

भावी परीक्षाओं की चौथी विशेषता कुछ उदारता संबन्धित होगी। पिछले अध्याय में स्त्री-शिक्षा की रूप-रेखा भारतीय आदर्शों का अधिकाधिक समावेश करते हुए निर्मित की गई है। स्त्री-शिक्षा का अध्ययन काल भी आवश्यकतानुसार

बढ़ा दिया गया है। विभिन्न दायित्वों का वहन करते हुएउनके अध्ययन की व्यवस्था की गई है। असम्भव नहीं कि वार्षिक परीक्षा में कोई स्त्री गर्भवती होने के कारण न बैठ सके। यदि अध्यक्षा महोदया की अनुमति हो और परीक्षार्थी तथा उसके अभिभावक भी पसन्द करते हों तो घरेलू परीक्षाओं के प्राप्तांको को ही दूना करके उसका परीक्षाफल घोषित किया जाय। यह सुविधा गर्भवती स्त्रियों को किन-किन स्थितियों में मिलनी चाहिए इसका विस्तृत विवरण महिला डाक्टरों एवं चिकित्सकाओं द्वारा निर्धारित किया जायगा। साथ ही, यह सुविधा किसी स्त्री को सम्पूर्ण अध्ययन काल में केवल एक बार उपलब्ध हो सकेगी। यह शर्त सार्वजनिक परीक्षाओं के सम्बन्ध में है। घरेलू वार्षिक परीक्षाओं के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के निर्णय के लिए अध्यक्ष और अध्यक्षा सर्वे-सर्वा हैं। यह स्पष्ट कर देना सम्भवतः आवश्यक है कि अध्यक्ष या अध्यक्षा की स्वीकृति पर ही यह सुविधा निर्भर हो सकेगी। यदि वे लोग किसी कारण वश किसी स्त्री को इस सुविधा से वंचित करना चाहेंगे तो उन्हें ऐसा करने से न तो कोई रोक सकेगा और न कोई उनसे इस निर्णय का कारण, आदि पूछ सकता है।

कुछ शर्तों के साथ यह सुविधा परीक्षाकाल में संक्रामक रोगों अथवा दुर्घटनाओं से संतप्त पुरुष परीक्षार्थियों को भी दी जा सकती है। यह सुविधा ऐसे परीक्षार्थियों को दी जा सकेगी जिनके दोनों खण्डों के सभी विषयों में अलग-अलग ४० प्रतिशत से कम प्राप्तांक न हो और सदाचार में उन्हें प्रथम या द्वितीय श्रेणी मिली हो। सदाचार में प्रथम श्रेणी पाने वाले परीक्षार्थी के प्राप्तांक यदि कम भी हों और इस सुविधा के देने से वह किसी भी श्रेणी में सफल हो जा सकता है तो उसे दी जा सकती है। पुरुष परीक्षार्थियों को इस सुविधा के आधार पर पढ़ाई में द्वितीय श्रेणी से अधिक कदापि नहीं मिल सकता। घरेलू रेकर्ड में उसके प्रथम श्रेणी के प्राप्तांक यदि हैं तो दूना कर देने पर भी प्रथम श्रेणी के पर्याप्त अवश्य ही रहेंगे परन्तु यह उन्हें प्राप्त न हो सकेगी। यहाँ भी अध्यक्षों पर ही सब कुछ निर्भर रहेगा। चूँकि पुरुषों के सम्मुख जीविका का भी प्रश्न रहता है अस्तु होनहार छात्रों को ऐसी सुविधाओं से वंचित कर देना ही हितकर होगा। इस सुविधा की इन्हीं शर्तों के साथ सामान्य स्त्री परीक्षार्थी (अर्थात् जो गर्भवती नहीं हैं) भी अधिकारिणी रहेंगी। संक्रामक रोगों और दुर्घटनाओं का निर्धारण किसी चिकित्सक के केवल प्रमाण पत्र मात्र से न हो सकेगा। अध्यक्षों और अध्यक्षाओं को पूर्ण अधिकार रहेगा कि वे किसी भी चिकित्सक के प्रमाण पत्र को इस प्रसंग में बिना कारण बताए अस्वीकृत कर दें।

भावी परीक्षाओं की पाँचवी विशेषता उत्तरों के माध्यम सम्बन्धी है अर्थात् विभिन्न सार्वजनिक परीक्षाओं में उत्तर किस भाषा के माध्यम से दिये जायँ। प्रारम्भिक शिक्षा के सम्बन्ध में ऐसी कोई गुत्थी नहीं है परन्तु ऊँची शिक्षा और परीक्षाओं में कठिनाइयाँ हैं। पाठ्यक्रम की व्याख्या करते समय यह सुझाव दिया गया है कि प्रत्येक विषय का एक भाग राष्ट्रीय भाषा हिन्दी में पढ़ाया जाय और दूसरा मातृभाषा में या (हिन्दी क्षेत्र में) किसी क्षेत्रीय भाषा में। ठीक इसी प्रकार परीक्षाएँ भी होंगी। प्रत्येक विषय के एक भाग का प्रश्न पत्र राष्ट्रभाषा हिन्दी में आयेगा और दूसरा किसी क्षेत्रीय भाषा में अथवा मातृभाषा में। यही क्रम उन सार्वजनिक परीक्षाओं में भी रहेगा जिनके कि आधार पर शासन-संचालन के लिए अधिकारी चुने जाते हैं। इस सुझाव को यदि समुचित विधि से अपना लिया जायगा तो अहिन्दी क्षेत्रों की यह शंका कि हिन्दी माध्यम हो जाने पर हिन्दी क्षेत्र वालों को कतिपय सुविधाएँ प्राप्त हो जायँगी, निमू‍ल सा हो जायगा। पहले ही स्पष्ट किया गया है कि वास्तविक शिक्षा की कसौटी पर यह सुझाव बहुत खरा नहीं उतरता परन्तु मानव-जीवन की विभिन्न स्थितियों से उपयुक्त सामञ्जस्य स्थापित कर लेना ही शिक्षा का उद्देश्य होता है। यदि ध्यान से विचार किया जाय तो शिक्षण और परीक्षण दोनों ही मातृभाषाओं के माध्यम से हो सकेंगे।

उपर्युक्त सुझाव को कार्यान्वित करने में आरम्भ में कठिनाइयाँ और असुविधाएँ अवश्य होंगी। परन्तु ये इसलिए अधिक नहीं होंगी कि किसी विषय के एक प्रश्नपत्र का उत्तर राष्ट्रभाषा हिन्दी में देना पड़ेगा और दूसरे का मातृभाषा में अथवा किसी क्षेत्रीय भाषा में। कठिनाइयाँ इसलिए होंगी कि अंग्रेजी को छोड़ना पड़ेगा। पिछले पचास-साठ वर्षों से सभी काम अंगरेजी में करने के हम इतने आदी हो गये हैं कि साधारणतः इसे छोड़ने का जी नहीं चाहता। यों मातृभाषा और राष्ट्रभाषा के पक्ष में राष्ट्र के अनेक कर्णधार हैं परन्तु शासन, व्यवहार, वार्तालाप, आदि के अवसर पर शुद्ध भारतीय भाषाओं का प्रयोग हम कर नहीं पाते। माध्यमिक स्तर तक की परीक्षाओं का माध्यम अपने-अपने क्षेत्र में भारतीय भाषाएँ हैं परन्तु उनमें पग-पग पर अंग्रेजी के शब्दों और वाक्यांशों का प्रयोग करना पड़ता है। ऊँची परीक्षाओं में तो गम्भीर और विवेचनात्मक व्याख्याएँ अपेक्षित हैं और इनके अनुरूप विचारावली उपस्थित करने वाली लगभग सभी पुस्तकें अंग्रेजी में हैं। कुछ पुस्तकों के अनुवाद होते जा रहे हैं लेकिन जो स्पष्टता, रोचकता,

आनन्द, आदि मूल ग्रन्थों में उपलब्ध और सुलभ हैं वे अनुवाद में कहाँ प्राप्त हो सकते हैं। फलतः दस-बीस वर्ष तक कठिनाइयाँ अवश्य होंगी। परन्तु इस प्रकार की असुविधाएँ तो शासन, समाज, आदि सभी क्षेत्रों में अवश्यम्भावी हैं। विभिन्न कठिनाइयों और असुविधाओं का विधिवत् सामना किये बिना कोई व्यक्ति या समाज या राष्ट्र आगे नहीं बढ़ सकता।

भावी परीक्षाओं में व्यवस्थापक, निरीक्षक, परीक्षक, गणक, आदि की नियुक्तियाँ और उनका पद-प्रदर्शन विभिन्न प्रशिक्षण संस्थाओं के दायित्व हैं। शिक्षा एवं परीक्षा के उद्देश्यों में परिवर्तन ही नहीं अपितु क्रान्ति हो जाने से अनेक वर्तमान समस्याएँ अंकुरित ही न हो पायेंगी। सभी शिक्षक विभिन्न महत्वपूर्ण और रुचिकर दायित्वों में व्यस्त होने के कारण परीक्षा सम्बन्धी नियुक्तियों के लिए आतुर कदापि न रहेंगे। इस प्रकार अधिकारी गण विभिन्न पदों के लिए स्थिर चित्त से उपयुक्त व्यक्तियों का चुनाव करेंगे। किसी काम के लिए कोई व्यक्ति यदि इतनी शीघ्रता और सरलता से नियुक्त किया जा सकेगा तो यह भी निश्चित है कि इतनी उपेक्षा और तिरस्कार से हटाया भी नहीं जायगा चूँकि इस समस्त योजना का उद्देश्य में 'कर्म' के महत्व को पुनर्स्थापित करना है अस्तु सभी लोग अपने-अपने कामों को सर्वोत्तम बनाने की धुन में यथासम्भव कम से कम त्रुटियाँ होने देंगे। भावी तार-तम्य में प्रत्येक कर्मचारी और अधिकारी की दृष्टि प्रायः अच्छाइयों पर केन्द्रित होगी न कि बुराइयों अथवा त्रुटियों पर। अच्छाइयों को ही उत्तरोत्तर महत्व देते रहने से बुराइयां क्रमशः निमूल हो जाती हैं। भारतीय संस्कृति और परम्परा की यही विशेषता रही है और इसी का पुनरुद्धार आवश्यक है।

[निष्कर्ष]

(क) पाठ्यक्रम

<u>सिंहावलोकन</u>—पाठ्यक्रम निर्धारण अत्यन्त कठिन, वर्तमान पाठ्यक्रम में भारतीयता का अभाव; प्रथम समस्या भाषा सम्बन्धी; प्रारम्भिक शिक्षा में नहीं के बराबर मत भेद; हिन्दी राष्ट्रभाषा केवल वैधानिक आधार पर; हिन्दी भाषा और साहित्य की उपयोगिता का निर्धारण कठिन; निर्धारित करने वाले

विद्वान लोग भी तो उसी रंग में रँगे; वर्तमान भारतीय विद्वानों पर भारतीय विशेषताओं का अधिक छाप या ऋण नहीं; जो नवीनता और चमक-दमक बंगाली, मराठी, तामिल, तेलगू, आदि भाषाओं और उनके साहित्यों में वह हिन्दी भाषा और साहित्य में नहीं; फलतः बहुत से लोग राष्ट्रभाषा हिन्दी से अप्रभावित, हमारी राष्ट्रियता नवीन एवं अविकसित; राष्ट्रियता में मातृ भाषा का विशेष महत्व फलतः मातृ भाषा और राष्ट्र भाषा के भिन्न-भिन्न होने से मानसिक संघर्ष; 'संविधान' में भी हिन्दी को राष्ट्रभाषा बहुमत से न कि सर्वसम्मति से स्वीकृत; संक्षेप में हिन्दी उपयोगिता की कसौटी पर खरी नहीं। हिन्दी भाषा और साहित्य में पर्याप्त रुचि का भी अभाव; रचनाओं के प्रकरण नवीन दृष्टि से अनुपयुक्त; हिन्दी का वर्तमान प्रचार और प्रसार रुचि पर आधारित नहीं। हिन्दी-शिक्षकों की दशा अधिक शोचनीय; विभिन्न संघर्षों के शिकार। यदि वर्तमान स्थिति ही कसौटी तो हिन्दी को राष्ट्रभाषा रखना उपयोगी नहीं; परन्तु अन्य भारतीय भाषाएँ और भी अनुपयुक्त; हिन्दी के पक्ष में कुछ बातें विशेषरूप से; अंग्रेजी की माया से मुक्त होना सरल नहीं; अंग्रेजी की प्रत्यक्ष उपयोगिता; परन्तु नवीन परिस्थितियों में अंग्रेजी की उपयोगिता अधिक नहीं; माध्यमिक कक्षाओं में इसे अनिवार्य रखना उपयोगी नहीं। स्वतंत्रता प्राप्त किये पर्याप्त समय व्यतीत परन्तु शिक्षा-सुधार सम्बन्धी कोई भी ठोस कदम नहीं, भारतीय संस्कृति की विशेषताओं के मौलिक तथा अनोखी होने से हमारी वर्तमान समस्याएँ विशेष जटिल; अन्य राष्ट्रों में समस्याओं के व्यावहारिक और कामचलाऊ समझौते उपयोगी परन्तु वर्तमान भारतवर्ष में उनका खपना कठिन; किसी समस्या या संघर्ष का अस्वाभाविक अन्त भारतीय परम्परा के प्रतिकूल; 'त्याग' और 'सन्तोष' समावेश से भारतीय परम्परा में किसी विषम स्थिति का सामना अधिक समय तक करने की क्षमता। भारतवर्ष एवं समस्त विश्व के कल्याण की दृष्टि से भारतीय विशेषताओं का पुनरुद्धार परमावश्यक; यदि यह पुनरुद्धार आवश्यक तो इसके सर्वाधिक प्रतीक हिन्दी भाषा (और उसके साहित्य) को राष्ट्रभाषा स्वीकार करना आवश्यक; वर्तमान युग में यदि कोई भाषा राष्ट्रभाषा नहीं हो पाती तो उसके तनिक भी अहित की सम्भावना नहीं।

<u>पाठ्यक्रम की रूप-रेखा</u> (१) <u>प्रारम्भिक शिक्षा</u>—माध्यम मातृभाषा; पठन सामग्री में भी समुचित हेर-फेर अपेक्षित; बालोचित साहित्य का निर्माण प्रत्येक भारतीय भाषा में परन्तु दृष्टिकोण में परिवर्तन आवश्यक। इतिहास, भूगोल, गणित, कला आदि को भी आवश्यक तथा समुचित महत्व; इनके अभ्यासों

की रूप-रेखा में परिवर्तन परमावश्यक; गोपाल तथा कन्या विद्यालयों में छात्रों और छात्राओं को मातृभाषा के साथ-साथ राष्ट्रभाषा अथवा कोई क्षेत्रीयभाषा; इस स्तर पर बौद्धिक शक्ति और विकास का घरेलू काम-काज से अविच्छिन्न सम्बन्ध आवश्यक; विभिन्न विषयों के अध्ययन में इतना शारीरिक श्रम अपेक्षित हो कि व्यायाम, आदि के लिए अलग से घण्टे न देने पड़ें; उद्योग, परिश्रम, आदि में छात्रों की रुचि प्रेरित करना आवश्यक; वनमहोत्सव, सामुदायिक कार्य, आदि के वर्तमान प्रयत्न वाह्य और ऊपर से लदे हुए; सन् १६२० की स्थिति; सन् १६३७ की स्थिति; बेसिक शिक्षा और महात्मा गान्धी; 'वांचू' योजना की उपयोगिता; प्राचीन पाठ्य-क्रम के उद्देश्य परन्तु उनके अनुरूप अभ्यास नवीन आवश्यकताओं के अनुसार।

(२) माध्यमिक शिक्षा—छात्रों और छात्राओं के पाठ्य-क्रम में अन्तर; सेवा की भारतीय अनोखी व्याख्या, किसी न किसी विदेशी भाषा का अध्ययन अनिवार्य; भाषा के अतिरिक्त अन्य उपयोगी विषय भी परन्तु पठन सामग्री तथा अभ्यासों में पर्याप्त परिवर्तन अपेक्षित; किसी गुत्थी को सुलझाने का राष्ट्रीय एवं अन्तराष्ट्रीय दृष्टिकोण; जीविका साधन के प्रति जागरूकता; भारतीय परम्परा के पुनरुत्थान के उपरान्त आर्थिक दृष्टिकोण में परिवर्तन जीविका-निर्णय में विद्यालयों का दायित्व; माध्यमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम इतना व्यापक कि सभी प्रकार के किशोरों और किशोरियों के विकास सम्भव; झेंपू और उग्र स्वभाव के छात्रों और छात्राओं के निमित्त विशेष उपयोगी सामग्री अपेक्षित; पाठ्य-क्रम निर्माण में शिक्षकों का अधिकाधिक सहयोग उपेक्षित।

(३) उच्च शिक्षा—विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों के पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में अधिक सोचना अभी सम्भव नहीं; पाठ्यक्रम ऐसा कि इसे प्राप्त करने वाले व्यक्ति में माध्यमिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति से निश्चित रूप से अधिक चरित्रता, आदि; अहंकार का अभाव अपेक्षित; विज्ञान और जनतंत्र को अधिकाधिक खपाते हुए भारतीय विशेषताओं का पुनरुद्धार अपेक्षित; उच्च शिक्षा की माध्यम सम्बन्धी गुत्थी, देश के अधिकांश विद्वान लोग अंगरेजी के पक्ष में; उच्च शिक्षा के प्रत्येक विषय के एक भाग का अध्यापन राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से और दूसरा मातृ भाषा अथवा किसी क्षेत्रीय भाषा के माध्यम से।

कुछ विशेष बातें—इस योजना को सफल बनाने का दायित्व हिन्दी क्षेत्र पर; उच्च शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषाओं का होना परमावश्यक; कार्यान्वित करने में शीघ्रता की आवश्यकता तनिक भी नहीं; विभिन्न भारतीय

भाषाओं के आदान-प्रदान में शिक्षकों से सम्बन्धित कठिनाइयाँ; शिक्षकों से अधिक समस्या शिक्षिकाओं के सम्बन्ध में; अंग्रेजी के समर्थकों और विद्वानों को अधिकाधिक उदार होने की आवश्यकता; अंग्रेजी की समुचित उपयोगिता भविष्य में भी; अन्य विदेशी भाषाओं का अध्ययन भी आवश्यक; धर्म और स्वास्थ्य सम्बन्धी शिक्षा पर जान बूझकर चुप्पी; विभिन्न अध्यायों में इनका पर्याप्त समावेश।

(ख) परीक्षा

सिंहावलोकन—भारतीय परम्परा में परीक्षाओं का अधिकाधिक महत्व; अन्य देशों और राष्ट्रों में भी परीक्षाओं का महत्व अनादि काल से; परन्तु भारतीय परीक्षाओं की रूप-रेखा और उनका स्तर सबसे कड़ी और ऊँचा; परन्तु वर्तमान भारतवर्ष में परीक्षाओं की छीछा-लेदर; संघर्षों के फलस्वरूप; परीक्षाएँ शिक्षा के मुख्यांग; जब शिक्षा ही का आदर नहीं तो परीक्षाओं का अनादर अवश्यम्भावी, परीक्षाएँ सम्बन्धी अनेक वर्तमान सुधार परन्तु स्थिति बनने की अपेक्षा बिगड़ सी रही है; मुख्य कारण वर्तमान परीक्षाओं का भी जीवन में उपयोगी न होना, इन परीक्षाओं में कुछ मौलिक दोष—किसी की पूरी क्षमता को न माप सकना, परीक्षकों, आदि को पर्याप्त छान-बीन के साथ न नियुक्त करना, त्रुटियों को सुधारने से अधिक ध्यान त्रुटियाँ करने वालों को दण्डित करने में देना, इत्यादि; वर्तमान परीक्षाओं में वाह्याडम्बरों की भरमार; 'संविधान' की उदारता का अनुचित प्रयोग; परीक्षा सम्बन्धी प्रसंगों को न्यायालयों में ले जाना; वाह्याडम्बरों के ही कारण न्यायालयों में जाना सुलभ; लेखक का गणक नियुक्त तथा च्युत् होना; च्युत् करने में अधिकारियों की अस्वाभाविक शीघ्रता; त्रुटियों को सहानुभूति के साथ न तौलना और केवल उनकी संख्या के आधार पर प्रतिकूल निर्णय दे देना; प्रतिकूल निर्णय लेने के पूर्व परीक्षकों, गणकों, आदि को त्रुटियों के समझने और समझाने का अवसर न देना; ऐसे निर्णयों को इसलिए उचित मानना ठीक नहीं कि ऐसे रिक्त एक स्थान के लिए अनेक हाथ फैले रहते हैं।

परीक्षाओं की भावी रूप-रेखा—पाठ्यक्रम और परीक्षाएँ प्रशिक्षण संस्थाओं के दायित्व; शिक्षकों और अध्यक्षों को पर्याप्त अधिकार; वार्षिक परीक्षाओं को केवल ५० प्रतिशत् महत्त्व; अध्यक्षों की पूर्व स्वीकृति के बिना कोई छात्र असफल घोषित न हो सकेगा; इस विशेषाधिकार का प्रयोग अत्यन्त सावधानी से; प्रत्येक वर्ष के ३१ मार्च तक परीक्षार्थियों का घरेलू परीक्षाफल

प्रशिक्षण संस्थाओं में पहुँचना; फिर उसी रजिस्टर पर गणकों द्वारा वार्षिक परीक्षाफल का चढ़ाना और पूरा परीक्षा फल तैयार करना; प्राइवेट परीक्षार्थियों का किसी न किसी विद्यालय से विधिवत् सम्बन्धित होना और वहाँ की घरेलू परीक्षाओं में नियमित रूप से बैठना; संस्थागत परीक्षार्थियों की सभी सुविधाओं का प्राइवेट परिक्षार्थियों को भी मिलना। परीक्षार्थियों को सदाचार संम्बन्धी प्रमाणिकता भी प्रदान करना; माध्यमिक स्तर से ऊपर सदाचार का निर्धारण कुछ भिन्न रूप में; सदाचार का निर्धारण पूर्ण रूप से प्रधानों, अध्यक्षों, कुलपतियों, आदि द्वारा। यथा सम्भव किसी परीक्षार्थी की सभी क्षमताओं और विशेषताओं को माप लेना; निबन्धों को विशेष महत्त्व देना; इसके प्राप्तांकों को सदाचार के अन्तर्गत ले लेना। धैर्य के परीक्षण के निमित्त ५ घंटे का एक पर्चा देना। विषयों के वर्गीकरण को यथा सम्भव घटाना भाषा और भाव नाम करण से केवल दो वर्ग; विभिन्न विषय इन्हीं के अन्तर्गत; भाषा और साहित्य को सभी ऊँची कक्षाओं में महत्त्व देना; भाषा और भाव खण्ड के सभी विषयों में या तो ३६ प्रतिशत् अलग-अलग प्राप्त करना या प्रत्येक पूरे खण्ड में ४० प्रतिशत् प्राप्तांक होना; तृतीय श्रेणी ३६ प्रतिशत् से ४७ प्रतिशत् तक, द्वितीय श्रेणि ४८ प्रतिशत् से ५६ प्रतिशत् तक और प्रथम श्रेणी ६० प्रतिशत् या उससे अधिक; परीक्षा सम्बन्धी कार्य विकट या अधिक केवल देखने में; वातावरण सुधर जाने से कार्य की रोचकता में वृद्धि। गर्भवती स्त्रियों तथा रोगी छात्रों को कुछ सुविधाएँ। जिस भाषा के माध्यम से किसी विषय का कोई भाग पढ़ाया जायगा उसी में उसकी परीक्षा भी। शिक्षण तथा परीक्षण में माध्यम सम्बन्धी आरम्भिक कठिनाइयाँ परन्तु क्रमशः सब कुछ का सुधर जाना। परीक्षा सम्बन्धी कर्मचारियों की नियुक्ति अत्यन्त सावधानी से।

परिशिष्ट

कुछ अशुद्धियों के शुद्धरूप

पृष्ठ	पंक्ति	क्या है	क्या होना चाहिए
१	१४	सयझने	समझने
२७	१८	एक	×
४६	८	सहीं	नहीं
४७	अन्तिम	मंध	धर्म
५९	२२	उपयोग	सहयोग
६९	४	की	से
७१	२३	ररन्तु	परन्तु
७१	नीचे से ४	शिक्षा-सञ्चालक	शिक्षा-सञ्चालन
७४	१६	इस्सपेक्टर	इंसपेक्टर
७७	९	भा	था
८१	नीचे से ७	१९५७	१८५७
८१	नीचे से ९	१९५७	१८५८
८४	११	अन्तस्थल	अन्तस्तल
९१	नीचे से ४	अध्याओं	अध्यायों
१०२	नीचे से १०	परू	रूप
१२५	१०	लि	लिए
१२७	११	प्रथय	प्रथम
१३७	६	होगी	होगा
१४१	१०	शिक्षकाओं	शिक्षिकाओं
१४६	१४	पथा	तथा
१४७	अन्तिम	स्यानान्तर	स्थानान्तर
१४९	नीचे से ८	विमिन्न	विभिन्न
१५८	अन्तिम	से और गोल-मेज परिषदों में भाग लिये थे।	से मिले और गोल-मेज परिषदों में उन्होंने भाग लिये थे।
	१३	इस	इन

पृष्ठ	पंक्ति	क्या है	क्या होना चाहिए
१६३	८	अविछिन्न	अविच्छिन्न
१६६	१३	उञ्च	उच्च
१७५	७	अविछिन्न	अविच्छिन्न
१७६	६	आस्तित्व	अस्तित्व
१७८	अन्तिम	नकगा रे,	न करेगा;
१८२	१५	सुसम्पन्न व्यक्ति ही	सुसम्पन्न ही व्यक्ति हो
१८६	४	डेड़	डेढ़
१६१	१	सिंहावलोलन	सिंहावलोकन
१६५	११	रन्न	रंग
१६६	१३	कम	काम
१६७	१४	वाह्य	बाह्य
१६७	नीचे से ४	रामचन्द्र जी	रामचन्द्र जी के
२००	५	विभिन्न आसनों नमाज़ के उठने बैठने	नमाज़ के बैटने-उठनेके विभिन्न आसनों
२०१	४	छिद्रानिवेषण	छिद्रान्वेषण
२०५	अन्तिम	स्थायी	अस्थायी
२०७	२	सारीरिक	शारीरिक
२०७	५	घहुत	बहुत
२०७	नीचे से ६	रही	वही
२२१	नीचे से ६	स्वच्छता	स्वच्छ

—:०:—